समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्रीय

भवन-निवेश

CIVIL ARCHITECTURE IN ANCIENT INDIA

(HINDI)

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र

(भवन-निवेश—प्रथम भाग)

विस्तृत अध्ययन, हिन्दी-अनुवाद तथा वास्तु-पदावली
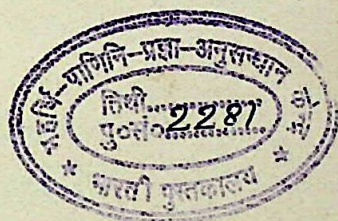
डा. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल

एम. ए., पी-एच. डी., डी. लिट्.

साहित्याचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ, शिल्पकला-आकल्प

मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स

नई दिल्ली-११०००२

प्रथम संस्करण : सन् १९६५
पुनर्मुद्रित संस्करण : १९९४
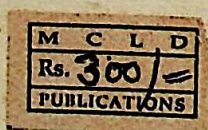
प्रकाशक : मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स, १ अन्सारी रोड, दरियागंज

मुद्रक : आकाशदीप प्रिंटर्स, नई दिल्ली-2

समर्पण

भृगुरत्रिर्वशिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ॥
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च ।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ॥
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ।

—इन अष्टाश वास्तु-शास्त्रोपदेशक ऋषियों, महर्षियों
एवं देवों के चरणों में—जिनके द्वारा उद्भावित
स्थापत्य-वेद के प्राचीन स्रोत से वास्तु-
शास्त्र (शिल्प-विज्ञान) की
प्रतिष्ठा हुई ।
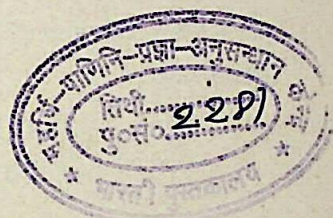
निवेदन

महाराजाधिराज धाराधिप भोजदेवविरचित यह समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ग्रन्थ ११वीं शताब्दी की अधिकृत कृति है। इसमें वास्तु-शास्त्रीय सभी प्रमुख विषयों का प्रतिपादन है। यह बड़ा वैज्ञानिक भी है। दुर्भाग्यवश यत्र-तत्र ग्रन्थ भ्रष्ट भी अधिक है। अध्यायों की योजना भी गड़बड़ है। हमारे देश में एक समय था जब ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य भी कुशल स्थपति होते थे तथा स्थापत्य-कौशल विशेषकर मन्दिर-निर्माण एक यज्ञ-कर्म के समान पुनीत एवं प्रशस्त माना जाता था। पता नहीं कालान्तर में यह स्थापत्य-कौशल निम्नश्रेणियों (शूद्रादि जातियों) में क्यों चला गया? शास्त्र की परम्परा एक प्रकार से उत्तर भारत में विलुप्त हो गयी। दक्षिण में भी कौशल तो शेष रह गया परन्तु शास्त्र-ज्ञान वहां भी एक प्रकार से परम्परा-मात्र रह गया। न तो कोई वास्तु-कोष, न कहीं वास्तु-सम्बन्धी टीका-ग्रन्थ। ऐसी अवस्था में वास्तु-पदावली का अर्थ एवं उसकी वैज्ञानिक व्याख्या बड़े ही असमंजस एवं एक प्रकार की निरीहता का विषय रहा। तथापि अप्रज्ञेय, दुरालोक, गूढ़ार्थ, बहुविस्तर इस वास्तु-शास्त्र-सागर का मैं यथाकथञ्चित अपने प्रज्ञापोत के द्वारा ही संतरण कर सका।

गर्व तो नहीं परन्तु हर्ष तो अवश्य ही है कि मेरी कृतियों के द्वारा यह अवश्य सिद्ध हो सकेगा कि संस्कृत के ये पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक ग्रन्थ कोरी कल्पनाओं एवं पौराणिक अतिरञ्जनाओं के आगार नहीं हैं जैसा कि तथाकथित पुराविद हमारे भारतीय विद्वान् भी मानते आये हैं। वैसे तो हमने इस शास्त्र के अध्ययन एवं अनुसन्धान में कठिनता के साथ सफलता भी पाई परन्तु यथानिर्दिष्ट किसी भी प्राचीन सहायता के अभाव में इस बृहदाकार समराङ्गण के अनुवाद में वास्तव में बड़ी कठिनता का अनुभव करना पड़ा है।

अनुवाद में बहुत से शब्दों को पारिभाषिक रूप में रख दिया गया है, परन्तु वास्तु-कोष में उनकी व्याख्या एवं चित्रण दोनों के द्वारा पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जावेगा। इस देश में अब भी बहुत से मनीषी विद्वान् हैं जो स्थापत्य-शास्त्र से सम्भवतः

परिचित हैं अतः उनसे प्रार्थना है कि वे अपने सुझावों से लेखक को उपकृत करें जिससे यदि भगवती सर्वमङ्गला की कृपा से दूसरा मुद्रण हुआ तो ये सु झाव विचारणीय बन सकेंगे। अस्तु–

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति साधवः॥

विदुषां वशंवद
शुक्लोपाह्व द्विजेन्द्रनाथ

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

समराङ्गणीय भवन-निवेश : एक अध्ययन

द्वितीय खण्ड

प्रथम पटल—औपोद्घातिक

प्रवर्तन —ग्राद्य-स्थपति—विश्वकर्मा एवं उसके मानस-सुतों के द्वारा स्थपति-कोटियों (Architect-guilds) एवं शिल्पि-वृन्दों का ग्राविर्भाव, वास्तु-शास्त्र-विषय—वास्तु-शास्त्र में वास्तु-कला (Architecture), प्रतिमा-कला (Sculpture) तथा चित्र-कला (Painting) तीनों का विज्ञान-क्षेत्र, वास्तु एवं सृष्टि—ग्रायोजन (Planning) तथा सृष्टि (Creation), भारतीय वास्तु-विज्ञान का विशाल दृष्टिकोण—समस्त पृथ्वी वास्तु का विषय—ग्रतएव भूगोल का ग्रनिवार्य ज्ञान ग्रभिप्रेत, भूतल पर प्रथम भवन की जन्मकथा, वर्णाश्रम-धर्म तथा वास्तु-विनियोग—

द्वितीय पटल—सामान्य (पारिभाषिक)

वास्तु-कर्ता एवं वास्तु-कर्म—स्थपति एवं स्थापत्य, वास्तु-परीक्षा—भूमि-परीक्षा एवं देश-चयन, वास्तु-मान—हस्त-लक्षण, वास्तु-ग्रारम्भ—(ग्र) ग्रायादि-विचार (ब) इन्द्रध्वज-स्थापन, वास्तु-पद-विन्यास, वास्तु-पद-देवता-बलि, वास्तु-संस्थान, शिला-न्यास एवं कीलक-सूत्र-पात—

तृतीय पटल—पुर-निवेश

नगरादि, भवनादि, एवं भवनाङ्गों की संज्ञाएँ तथा नगर-निवेश —

चतुर्थ पटल—भवन-निवेश

भवन-प्रकार (चतुःशालादि दशशालान्त), भवन-द्रव्य (दारु-आहरण), भवन-द्रव्य-प्रमाण (भवनाङ्ग) भवन-रचना (चुनाई), भवन-भूषा, द्वार-तोरणादि-भवनाङ्ग एवं तत्तद्-भङ्गादि-वेधादि-दोष एवं शान्ति, भवन-दोष-सामान्य तथा भवन शान्ति —

अनुक्रमणी

तृतीय खण्ड

रेखा-चित्र

———

प्रथम खण्ड

भवन-निवेश का एक अध्ययन

समराङ्गणीय
भवन-निवेश का एक अध्ययन

भवन-निर्माण एवं भारतीय संस्कृति

प्राचीन भारत में भवन-निवेश का दृष्टिकोण बड़ा ही व्यापक था। इस देश की संस्कृति का प्राण धर्म रहा है और धर्म का अर्थ जैसा आजकल लोग लेते हैं वह कदापि नहीं था और न होना चाहिए। धर्म से अभिप्राय व्यक्ति-विशेष, समाज-विशेष अथवा देश-विशेष की उपासना-पद्धति या पूजोपचारों से ही नहीं था। धर्म एक प्रकार से मानव संस्कृति, सभ्यता और जीवन का एक-मात्र प्राण रहा है। वास्तव में धर्म ने ही मानवता को पशुता से उठाया है। मानव के आहार, निद्रा, भय, मैथुन आदि तो पशु-समान हैं। केवल धर्म ही एक-मात्र पशुता एवं मानवता का विभेदक है। धर्म बुद्धि-जीवियों के लिए ही आचरणीय है। इस लिए मानव को बुद्धि-जीवी (Rational) कहा गया है।

मानव-संस्कृति के विकास में भारतीय दृष्टिकोण से धर्म ने बड़ा भारी योग-दान दिया है। अतएव हमारे पूर्वजों ने धर्म की व्याख्या में लिखा था कि—"जिस से मानव का अभ्युदय और उसका निःश्रेयस दोनों सिद्ध हो सकें वही धर्म है—यतोऽभ्युदय-निश्रेयस्-सिद्धिः स धर्मः। अभ्युदय का अर्थ सांसारिक उन्नति है। आमोद-प्रमोद, भोजन-पान, निवास एवं परिधान, अलङ्करण तथा रहन-सहन के साधन जितने भी प्रचुर हों, सुलभ हों, उतने ही वे अभ्युदय के परिचायक माने गये हैं। प्राचीन मानव जंगलों में रहता था, नदी-कूलों पर निवास करता था अथवा पर्वतों की कन्दराओं में जीवन-यापन करता था—ऐसे मानव को हम जंगली कहकर पुकारते हैं। झोपड़ियों में रहनेवाले अथवा पल्लियों या पल्लिकाओं की छोटी-छोटी वस्तियों में रहने वाले प्राचीन पुलिन्द, व्याध आदि जातियों को हम अर्ध-सभ्य किंवा असभ्य कहकर पुकारते हैं। इतिहास के साक्ष्य पर जिस दिन से मानव ने अच्छे-अच्छे घर बनाने आरम्भ किये और बड़े-बड़े नगरों को जन्म दिया उस दिन से हम उनको सभ्य की उपाधि प्रदान करने लगे। मध्य-युग में जब लोग धवल-सौधों में तथा अभ्रंलिह प्रासादों में निवास करने लगे, बड़े-बड़े राज-प्रासादों, देव-मन्दिरों, देवतायतनों आदि की

परम्परा पल्लवित होने लगी तो हम उस समय की वास्तु-कला को बड़ा ही धन्य मानने लगे और उस कला के निर्माता कारक-यजमानों और कर्ता-स्थपतियों की सभ्यता एवं संस्कृति का गान गाने लगे।

अस्तु—एक शब्द में भवन-निवेश मानव सभ्यता और संस्कृति के निर्धारण में एक प्रमुख साधन है। रहने को झोपड़ी है अथवा विशाल-भवन या गगनचुम्बी विमान, यह तो मानव के अभ्युदय का परिचायक है। परन्तु निःश्रेयस की जिज्ञासा में भवन-निवेश में धर्म के स्थान का कहाँ मूल्यांकन करें? इसी प्रश्न के समाधान में भारतीय स्थापत्य (जिसका भवन-निवेश एक अङ्ग है) के व्यापक दृष्टिकोण का हम पता लगा सकते हैं।

ऋग्वेद के समय से यहाँ के मानव की सबसे बड़ी जिज्ञासा भूतल से उठकर अन्तरिक्ष की ओर गई। अर्थात् इस पार्थिव जगत् के पीछे अथवा आगे, नीचे अथवा ऊपर और भी कोई जगत् है या नहीं? इन दृश्यमान प्राकृतिक शक्तियों के अतिरिक्त भी कोई क्या अदृश्यमान सनातन शक्ति है कि नहीं? इस ग्रन्थ में हमें ऋग्वेद के देवता-तत्व पर विचार नहीं करना है। हमें केवल यहाँ पर यह संकेत करना है कि भारतीय संस्कृति का मूलाधार देव-तत्व है। उसी देव-तत्व में देव और असुर, आर्य और अनार्य आदि प्राचीन जातियों के भी संकेत हैं। इस देश का कोई कार्य बिना देव-कल्पना के प्रारम्भ नहीं किया गया। यहाँ का कोई भी शास्त्र बिना दैवी देन के पढ़ने योग्य नहीं बना। यहाँ कोई भी कला बिना दैवी भावना के भोग्या नहीं बनी। क्या नृत्त में (नटराज शिव), संगीत में (नाद-ब्रह्म), आलेख्य में (जगन्नाथ के पट-चित्र), वास्तु में (वास्तु-ब्रह्म) सर्वत्र ही देव-भावना अनुस्यूत है? यही भारतीय स्थापत्य की विशेषता है। यहाँ का भवन-कर्म सनातन से धार्मिक कृत्य अथवा यज्ञ के रूप में परिकल्पित किया गया। अतएव वास्तु-कृत्य धार्मिक कृत्य के रूप में सदैव से प्रतिष्ठित रहा है। दुर्भाग्यवश वास्तु-कला का यह धार्मिक पक्ष आजकल एकमात्र पाखण्ड के रूप में शेष रह गया है, और इस के दार्शनिक एवं वैज्ञानिक पक्ष का लोप-सा हो गया है। गृह-निर्माण में आजकल भी शिलान्यास किया जाता है, शिलान्यास का उत्सव मनाया जाता है। धर्म-प्राण भारतीय आज भी अपने मकान के निर्माण का प्रारम्भ करने के पूर्व पण्डित अथवा ज्योतिषी के पास जाते हैं, मुहूर्त्त पूछते हैं और शास्त्रानुकूल नानाविधान जैसे—वास्तु-पद-विन्यास आदि औपचारिक प्रयोग भी करते हैं। परन्तु इनका क्या अर्थ है, इनकी क्या देन है अथवा क्या रहस्य है और क्या फलाफल हैं—इन सब विषयों का ज्ञान एक प्रकार से सर्वथा लोप-सा हो गया है।

स्थापत्य वेद—भारतीय स्थापत्य एक विशुद्ध विज्ञान है। प्राचीन काल में इसे स्थापत्य-वेद के नाम से पुकारा जाता था। मानव-जीवन में गृह-निर्माण (रहने के लिए), चिकित्सा (जीने के लिए), संगीत (मनोरञ्जन के लिए) तथा अर्थ (व्यवसाय, व्यवहार, शासन तथा समाज-संगठन के लिए) ये चार या पांच अलग-अलग उपवेद भी कल्पित हुए। ऋग्वेद का आयुर्वेद, यजुर्वेद का धनुर्वेद, सामवेद का गान्धर्ववेद तथा अथर्ववेद का स्थापत्यवेद एवं अर्थवेद ये चार-पांच उपवेद भी माने गये थे। सनातन से हम वेदों का अध्ययन करते आये। उनकी रक्षा में हमने कुछ भी उठा न रखा। बड़ी-बड़ी शाखाएँ स्थापित कीं, बड़े-बड़े ऋषिकुलों को जन्म दिया, गुरु-शिष्य एवं पिता-पुत्र की परम्परा को प्रोत्साहन दिया, जिस से हमारा यह प्राचीन वाङ्मय विकृत न हो जावे एवं उसकी अक्षुण्णता बनी रहे। इस प्रकार से यह सिद्ध हुआ कि भारत की भवन-निर्माण-कला बहुत प्राचीन काल से इस देश में विकसित हो चुकी थी और उसका अपना शास्त्र व्यवस्थित हो चुका था। अतः इससे प्रथम कि हम भारतीय वास्तु-कला के धार्मिक अङ्ग का विश्लेषण एवं पोषण करें हमें पहले भारतीय वास्तु-कला के शास्त्र की प्राचीनता पर थोड़ा-सा संकेत करना आवश्यक है।

भवन-निवेश की प्राचीनता—एवं भारतीय स्थापत्य की स्थापना— हम यह पहले ही संकेत कर चुके हैं कि आयुर्वेद (चिकित्सा) आदि, ज्योतिष आदि वेदों अथवा उपवेदो एवं वेदाङ्गो के समान ही स्थापत्य वेद भी अति प्राचीन है। इसकी प्राचीनता का सर्वाधिक सुदृढ़ प्रमाण मत्स्य-पुराण के निम्न प्रवचन में है—

> भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा ।
> नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः ॥
> ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च ।
> वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती ॥
> अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः ।

जिन अष्टादश वास्तुशास्त्र के उपदेशक-आचार्यों का संकेत है उनमें प्रायः सभी वैदिक-कालीन ऋषि अथवा प्रख्यात देव-पुरुष हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय स्थापत्य-परम्परा में दो बड़े प्रख्यातनामा स्थपति मिलते हैं—विश्वकर्मा तथा मय। मय को असुर कहा जाता है। महाभारत में मय दानव नामक एक महा-स्थपति के वास्तु-कौशल की बड़ी प्रशंसा है। उसने ही पाण्डवों के सभा-भवन का निर्माण किया था। मय ने असुरों के आचार्य शुक्र से दीक्षा ली

थी, और शुक्र के सम्बन्ध में ऊपर निर्देश कर चुके हैं कि वह मत्स्यपुराणीय अष्टादश वास्तुशास्त्र के उपदेशकों में परिगणित है। आसुरी वास्तुकला अत्यन्त प्राचीन है। ब्राह्मण-ग्रन्थों में नागों का निर्देश मिलता है। नाग अत्यन्त तक्षण-कुशल थे। नग्नजित् उनका राजा था। नग्नजित् के रचित 'चित्र-लक्षण' से हम परिचित ही हैं। यह चित्र-लक्षण भारतीय चित्र-कला का अत्यन्त प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। इस प्रकार इन थोड़े से संकेतों से भारतीय स्थापत्य की प्राचीनता पर अवश्य आस्था हो सकती है।

विश्वकर्मा—इस सम्बन्ध में विश्वकर्मा की वंश-परम्परा पर यदि दृष्टिपात करें तो और भी बड़ी पुष्ट सामग्री प्राप्त हो जाती है। समराङ्गण-सूत्रधार में निम्न प्रवचन बड़ा मार्मिक है—

तदेष त्रिदशाचार्यः सर्वसिद्धिप्रवर्तकः।
सुतः प्रभासस्य वसोः स्वस्रीयश्च बृहस्पतेः॥

विश्वातिशायिधीः सर्वं विश्वकर्मा करिष्यति।
राजन्नसौ महेन्द्रस्य विदधावमरावतीम्॥

अन्या अप्यमुना रम्याः पुर्यो लोकभृतां कृताः।
त्वया क्षेत्रीकृतां मूर्तिं दृष्ट्वा साद्रिद्रुमामसौ॥

सन्निवेशान् पुरग्रामनगराणां विधास्यति।
तद् गच्छ वत्स! लोकानामितस्त्वं हितकाम्यया॥

मयोज्झिता त्वमप्युर्वि! पृथोः प्रियकरी भव।
काले स्मृतः स्मृतः पुण्यो राज्ञः प्रियचिकीर्षया॥

त्वमप्यखिलमेवैतद् विश्वकर्मन् करिष्यसि।

इस अवतरण-संदर्भ में निम्नलिखित चार संकेतों पर ध्यान देना है—

(अ) विश्वकर्मा प्रभास वसु का पुत्र,
(आ) विश्वकर्मा बृहस्पति का भानजा,
(इ) विश्वकर्मा के द्वारा इन्द्र की अमरावती का निर्माण तथा
(ई) विश्वकर्मा की संसार के सर्वप्रथम शासक महाराज पृथु के साथ समकालीनता।

विश्वकर्मा बृहस्पति का भानजा था और प्रभास वसु का लड़का था—इस कथन में एक बड़ा ही मार्मिक रहस्य छिपा है। वेदों में आठ वसुओं के

निर्देश मिलते हैं जिनका सम्बन्ध तत्कालीन कलाओं से था, ऐसा अनुमेय है। धर, ध्रुव, सोम, अहः (आयः), अनल, अनिल, प्रत्यूष, प्रभास इन आठ वसुओं में कुछ तो अग्नि-कला में, कुछ यातायात के साधनों में और कुछ तक्षण और कई वास्तु-कलाओं में विचक्षण थे। वसुओं के वंश में प्रभास-वसु आता है। प्रभास वसु की शादी बृहस्पति की बहिन से हुई थी—यह समराङ्गण की परम्परा है; परन्तु अपराजित-पृच्छा की परम्परा में प्रभास वसु ने महर्षि भृगु की बहिन से शादी की थी। भृगु और भार्गव के पौराणिक आख्यानों एवं कथाओं से हम परिचित ही हैं। परन्तु आज कल की भारतीय विज्ञान-परम्परा में 'भृगु' इस शब्द के निर्वचन में (दे० Encyclopaedia of Religions and Ethics—धर्म तथा आचार का विश्वकोश) 'भृगु' शब्द एक प्रकार से प्राचीन कारीगरों के लिए बताया गया है जिनको हम आजकल स्वर्णकार, लोहकार, रथकार के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं।

इनकी कला की सबसे बड़ी ओजस्विता आग्नेय-कौशल था। महाभारत के आग्नेय-अस्त्रों से हम परिचित ही हैं—आग्नेयास्त्र, वायव्यास्त्र, वारुणास्त्र, ऐसे नाना अस्त्रों का संकीर्तन बहुत बार हुआ है। अभी तक हम इन अस्त्रों को कवि-कल्पना समझते रहे। प्राचीन पुष्पक-विमान का भी हम कल्पना के रूप में ही मूल्याङ्कन करते रहे। परन्तु अब हमें यह अविश्वास छोड़ना पड़ेगा। यदि आज का मानव आणविक शक्ति के प्रयोग से बड़े-बड़े अस्त्रों का निर्माण कर सकता है तो क्या प्राचीनकाल के मय तथा विश्वकर्मा जैसे कला-कोविद् तथा बृहस्पति और भृगु जैसे विज्ञान-वेत्ताओं ने क्या ऐसा नहीं किया होगा? हमें भले ही महर्षि भारद्वाज के वैमानिक-शास्त्र की प्रामाणिकता पर विश्वास न हो परन्तु ११वीं शताब्दी के धाराधिप महाराज भोज की कृति 'समराङ्गण-सूत्रधार' में जो यन्त्राध्याय है और उसमें यन्त्र शब्द के निर्वचन में जिन भूतों का वर्णन है तथा यन्त्र की शक्ति के स्वभाव पर, यन्त्र के बीजों पर, और इसी प्रकार, यन्त्र-कर्म, यन्त्र-गुण, यन्त्र-भेद तथा प्राचीन यन्त्र-कौशल आदि का जो निरूपण मिलता है और साथ-ही-साथ इस यन्त्राध्याय के विमान-यन्त्र के प्रकरण में पारा, अग्नि और अयः-कपाल आदि के जो निर्देश मिलते हैं उनसे भी प्राचीनकाल में भारतीय यान्त्रिक ज्ञान के अभाव की आस्था पर वज्रपात होता है। यहाँ पर इस भवन-निवेश में यान्त्रिक-कला और यन्त्र-विज्ञान पर सविस्तर प्रतिपादन अभीष्ट नहीं है। इस ग्रन्थ के तीसरे भाग में हम इस विषय की विशद व्याख्या करेंगे। हमारा इस उपोद्घात से यह अभिप्राय है कि हमारे देश में भवन-निर्माण-कला जिसे स्थापत्य-वेद कहें अथवा वास्तु-शास्त्र कहें या शिल्प-

शास्त्र कहें अत्यन्त प्राचीन थी। आज भी विश्वकर्मा के वंशीय वस्वायां के नाम से पुकारे जाते हैं। यह शब्द गुजरात में बहुत प्रचलित है। वस्वांयां वहाँ पर कुम्हारों (कुम्भ-कारों) तक्षकों, लुहारों और भवन-निर्माता कारीगरों के लिए उपयुक्त होता है।

भारतीय स्थापत्य, आर्य एवं आर्येतर संस्था तथा परम्परा

भारतीय स्थापत्य लेखक की दृष्टि में विशुद्ध आर्य-संस्कृति नहीं है। जब वेदों की विशुद्ध 'त्रयी' (ऋक्, यजुः, साम)—संस्था अनार्यों (जिन्हें द्राविड़ कहें अथवा असुर या नाग कहें) के संमिश्रण से या यों कहें, जेताओं और विजितों के पारस्परिक आदान-प्रदान से अथर्ववेद की उद्भावना से 'चत्वारो वेदाः' की परम्परा पल्लवित हो सकती है तो ग्राम-वासी अरण्य-निवासी, सरिता-कूल-प्रेमी आर्य लोगों ने अनार्यों के 'सहस्र-स्तम्भ' वाले बहु-भूमिक विमानों एवं हर्म्यों का क्या अनुकरण नहीं किया होगा ? जो आर्य निर्जन अरण्यों के प्रेमी रहे हों, खुले हुए मैदानों और उदात्त हरे-भरे चरागाहों से सुसज्जित भू-प्रदेशों पर अपना जीवन बिताने में बड़ी प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हों, उन्होंने भवन-निर्माण के शास्त्र में पुर-निर्माण या नगर-निर्माण के उपादेय अङ्गों में प्रथम अङ्ग प्राकारादि-विन्यास अर्थात् परिखाओं, प्राकार-दीवालों, वप्रों, अट्टालकों आदि की अनिवार्य योजना कैसे प्रतिपादित की ? यह आसुरी या द्राविड़ी विशुद्ध परम्परा है। उसी का प्रभाव आर्यों की वास्तु-कला पर पड़ा होगा। अतः हमारा यह प्राचीन स्थापत्य आर्यों एवं अनार्यों दोनों की देन है। आर्य अलङ्कृति-विहीन सीधी-सादी रचना के शौकीन थे। अनार्य या द्राविड़ अलङ्कृति से ओत-प्रोत और बहु-सम्भार-सापेक्ष्य, विशाल-आकार-मण्डित, तक्षण-चित्रण आदि से शोभित कला के जन्मदाता थे।

नागों का तक्षण (Sculpture) और चित्रण (Painting) भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध है। इतिहास-कोविदों ने बहुत-सी नाग-जातियों के वंशों को कुशल तक्षक के रूप में सिद्ध किया है। हमारे देश के साहित्य में नागों के लिए तक्षक शब्द का प्रयोग किया गया है। नग्नजित् के 'चित्रलक्षण' का हम ऊपर निर्देश कर ही चुके हैं। बौद्ध जातकों एवं पाली-साहित्य में नागों की कला के प्रचुर प्रमाण मिलते हैं। यह तो है प्राचीन कथा। आज भी दक्षिणापथ के उत्तुङ्ग विमानों में जो अलङ्कृति-चित्रण और तक्षण-कौशल मिलता है वह अन्यत्र अप्राप्य है। मोहञ्जोदाड़ो और हड़प्पा की खुदाई में जो महल तथा स्नानागार और नालियां मिलती हैं उन्हीं की परम्परा में यह द्राविड-वास्तुकला

आज भी अपना वैभव बतला रही है। द्राविड़ों की कला से ही नागर प्रासादों की कला-कल्पना निखरी है।

कला एवं अध्यात्म—

भारतीय स्थापत्य की प्राचीनता का बहुत बड़ा प्रमाण वात्स्यायन का कामसूत्र है जिसमें नागरिकों के शिष्ट जीवन में चौंसठ कलाओं का एक प्रकार से अनिवार्य स्थान प्रतिपादित किया गया है। सभ्य नागरिकों के जीवन में गीत, नृत्य, वाद्य के स्थान को सभी जानते हैं परन्तु आलेख्य, वास्तु-कला, तक्षण, प्रतिमाला आदि नाना पारिभाषिक कलाओं का जो वहाँ पर परिगणन किया गया है वह भारतीय जीवन के कला-पक्ष पर बड़ा भारी प्रकाश डालता है। भारतीय स्थापत्य पर विहङ्गम-दृष्टि का एक विशेष मर्मोद्घाटन यह है कि इस देश में कला और विज्ञान अध्यात्म अथवा दर्शन से अलग नहीं रखे गये। कला का जन्म मनोरञ्जन से नहीं बल्कि धर्म और दर्शन से हुआ है। धर्म की व्याख्या हम ऊपर कर चुके हैं। दार्शनिक दृष्टि के सम्बन्ध में इतना ही विभाव्य है कि जो विज्ञान अथवा कला अध्यात्म से शून्य है अथवा दर्शन से अननुप्राणित है वह कोरी और सूखी कला है जो शुष्क काष्ठ के समान जलाने लायक है। कला और विज्ञान आसुरी सम्पदा हैं उसे राक्षस नहीं बनने देना चाहिए। जो मनुष्य का भक्षक बन जावे उसे देवत्व की भावना से सदैव अनुप्राणित रखना चाहिए जिससे वह द्यावा, पृथिवी, अन्तरिक्ष, पर्जन्य, चन्द्र, सूर्य के समान जन-मङ्गल, जन-रक्षण एवं जन-जीवन का विधान कर सके। संगीत हमारी इन्द्रियों को तृप्त अवश्य कर सकता है परन्तु ये इन्द्रियां हमें बिगाड़ सकती हैं, हमारे व्यक्तित्व को नष्ट कर सकती हैं, हमारे जीवन को ही खतरे में डाल सकती हैं, परन्तु वही संगीत जब देवाराधन में, देव-तृप्ति में लगाया जाता है तो 'नादब्रह्म' का जन्म होता है, विश्व-संगीत का स्फुरण होता है, और भूतल पर नट-राज शिव के पावन चरणों के स्पर्श से अगणित मानवों का उद्धार होता है, एवं विश्व में शान्ति तथा सुख का साम्राज्य फैलता है। कृष्ण की वंशी, नाद और तुम्बुर की वीणा में भी यही रहस्य छिपा है। वैसे तो सभी मकान बनाते हैं और बिना विचार किये भी आजकल उसका निवेश कर बैठते हैं। भवन का दिक्-साम्मुख्य किस ओर होना चाहिए, किस देवपद पर कौन-सा भवनाङ्ग निवेश्य है और कौन से देव-पद वर्ज्य हैं यह ज्ञान और विज्ञान तभी सम्पन्न हो सकता है जब हम भारतीय स्थापत्य के प्रमुख एवं प्रथम अङ्ग वास्तु-पद-विन्यास या वास्तु-पुरुष-मण्डल के मर्म को पूरी तरह

समझ लें। वास्तु-बलि एवं वास्तु-पूजा बहुत ही प्राचीन संस्था है। यह वैदिक काल में भी थी। वास्तु-पूजा अथवा वास्तु-बलि-विधान में जिस मन्त्र का हम सनातन से उच्चारण कर रहे हैं उसमें वास्तोष्पति या वास्तु-ब्रह्म या वास्तु-पुरुष का ही आवाहन है। भारत की सब से बड़ी विभूति यह है कि हम ने स्थापत्य में भी निराकार ब्रह्म को साकार रूप में प्रतिष्ठित कर दिया है। सागर को बिन्दु में भर दिया है और बिन्दु में सागर की सत्ता की पूर्ण शक्ति का आवाहन कर लिया। भारतीय स्थापत्य का मुकुट-मणि मन्दिर-निर्माण है। मन्दिर के निर्माण में जिन कल्पनाओं के द्वारा उसका भिट्ट, जगती, पीठ, वलाणक, मण्डोवर, शिखर, कलश, आमलक आदि का विन्यास प्रतिपादित है उसमें पूर्णरूपेण निराकार ब्रह्म की साकार प्रतिष्ठा है। हम इस विषय पर सविस्तर विवेचन इस ग्रन्थ के दूसरे भाग 'प्रासाद-निवेश' में करेंगे।

सारांश यह है कि वास्तु-पुरुष की इसी कल्पना के आधार पर हम ने वास्तु-ब्रह्म के सिद्धान्त को स्थापत्य से भौतिक विज्ञान में भी प्रतिष्ठित किया। तात्पर्य यह है कि इस देश का विज्ञान और दर्शन दोनों एक दूसरे से प्रभावित हैं और कोरा विज्ञान कभी भी भारतीय संस्कृति में ग्राह्य नहीं रहा। पाश्चात्य देशों में कला-शास्त्र की पृष्ठ-भूमि सौन्दर्य बनाया गया, परन्तु वह सौन्दर्य भौतिक सौन्दर्य से ऊपर नहीं उठ सकता। पाश्चात्य सौन्दर्य-शास्त्र भारत में रस-सिद्धान्त के नाम से पुकारा जाता है और रस में भी यहाँ के लोगों ने रस-ब्रह्म (रसो वै सः) की कल्पना कर डाली। व्याकरण जैसे नीरस एवं शुष्क शास्त्र में भी शब्द-ब्रह्म की कल्पना के द्वारा आधुनिक विद्युत्-यन्त्र से रेडियो-मशीन में जिस शब्द की व्यापकता का हम अनुभव करते हैं वह यहाँ बहुत पहले पल्लवित हो चुका था। इस प्रकार से हम देखते हैं कि भारतीय पारिभाषिक शास्त्र एवं कला-विज्ञान, धर्म और दर्शन के ज्योति-पुञ्ज से सर्वथा जगमगा रहे हैं।

भारतीय स्थापत्य तथा भौतिक, भौगर्भिक, भौगोलिक एवं ज्योतिष विज्ञान—

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि समराङ्गण जैसे विशुद्ध परिमार्जित एवं परिष्कृत वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ में भूगोल तथा सौरमण्डल की गतिविधि का वर्णन तथा इस ब्रह्माण्ड के ग्रहों, उपग्रहों का वर्णन क्या रहस्य रखते हैं, कौनसा मर्म उद्घाटित करते हैं ?

वास्तव में बात यह है कि भारतीय दृष्टि-कोण से स्थापत्य का सम्पूर्ण भूमण्डल ही नहीं सम्पूर्ण विश्व ही, प्रतिपाद्य विषय है। कोई भी 'निर्मिति'

वास्तु है, कोई भी योजना 'वास्तु' है। वास्तु शब्द वस्तु से निकला है। विधाता ने मानसी सृष्टि की और सम्भवतः भौतिक सृष्टि की भी परन्तु वह जितनी भी सृष्टि है वह सभी वस्तु है। अतः उसको वास्तु में परिणत करने के लिए विश्वकर्मा की आवश्यकता हुई और विश्वकर्मा को एक संरक्षक महाराज की भी आवश्यकता हुई। पुराणों में पृथु का गोदोहन-वृत्तान्त सर्व-विदित है। पण्डित लोग इसका अर्थ लगावेंगे कि पृथ्वी को दुहा या गाय को दुहा। परन्तु मेरी दृष्टि में पृथु के इस गोदोहन से ऊबड़-खावड़, पथरीली-कंकरीली ज़मीन को केवल पुर, ग्राम निवेशों के उचित ही नहीं बनाया गया अपितु भिन्न-भिन्न भूखण्डों, पार्वत्य-प्रदेशों, नदी-कूलों, सघन वनों, कान्तारों और वृक्षों का पता लगाया गया और उन देशों, प्रदेशों और भूखण्डों की भूमि का परीक्षण भी किया गया जिस से यह साबित हो सके कि कौनसे प्रदेश मानव-वासोचित हैं? कौन से प्रदेश पशुओं की समृद्धि के अनुकूल हैं, किन-किन प्रदेशों में इस रत्न-गर्भा वसुंधरा के कौन २ से नाना खनिज पदार्थ, धातु, रत्न आदि प्राप्य हैं। इस दृष्टि से यह गोदोहन आज की भाषा में (Geological Expedition) के नाम से पुकारा जा सकता है।

इसी प्रकार मन्वादि-धर्मशास्त्रों में लिखा है कि सृष्टि के पूर्व एक ही तत्त्व था अर्थात् जल ही जल था। पुराणों में यह भी लिखा है कि पृथिवी पर जल ही जल था। प्रलयावस्था इसी का नाम था तो फिर क्यों जल ही जल था। बात यह है कि बहुत अतीत की बात है कि यह पृथिवी बड़ी गर्म थी। यह एक प्रकार जलते हुए गोले के समान थी। ऐसे गोले पर वनस्पतियों, कीटादि-जन्तुओं, पशुओं और मानवों का उद्‌गम एवं निवास कैसे सम्भव था? अतः पुराणों में एक आख्यानात्मक अथवा उपरञ्जक शैली में लिखा है कि संवर्तक और आवर्तक आदि मेघों ने इस पृथिवी को शीतल करने के लिए घोर वृष्टि कर दी तब यह पृथिवी वनस्पतियों, जन्तुओं और मानवों के बसने और बसाने के योग्य बनी। आजकल विकासवाद का सिद्धान्त सर्व-प्रचलित है और सर्वमान्य भी है। इस विकासवाद की हम हिन्दू-दृष्टि से कैसे व्याख्या कर सकते हैं? समराङ्गण में लिखा है कि इस जलमयी सृष्टि के अनन्तर ही सागरों, समुद्रों, द्वीपों, पर्वतों आदि का विभाग हुआ लेकिन इसका श्रेय प्रचण्ड प्रभञ्जन पवन को है जिसने इस महा-वृष्टि के बाद अपने प्रचण्ड समीरण के द्वारा जल को सुखाया। जो स्थल सूख गये वे मैदान बन गये। जो नहीं सूखे और घने रहे वे समुद्र बन गये। सरिताएँ कैसे बनीं, जीव-जन्तुओं की सृष्टि कैसे हुई यह भी प्रतिपादित है। यह सब अपने-अपने अध्यायों में प्रतिपादित है। यह विस्तार से वहीं पर द्रष्टव्य है।

पुराणों में यह भी लिखा है कि नारायण विष्णु ने समस्त ब्रह्माण्ड को अपने उदर में रखकर इस महान् जलराशि (जलधि) में शयन कर लिया। सोते-सोते उनकी नाभि से कमल पैदा हुआ और कमल से सुरेश्वर-ब्रह्मा का प्रादुर्भाव हुआ। पीछे हमने युगान्ताग्निप्लुष्टावस्था का निर्देश किया है—जब यह पृथ्वी जलते हुए गोले के समान थी तब यह निवासयोग्य: नहीं थी। दूसरी ओर अवस्था का निर्देश सृष्टि के उपक्रम में किया गया है जिसे हम विश्व की—एकार्णवी-उपवस्था के नाम से पुकार सकते हैं—जब समस्त भूमण्डल पर जल ही जल था। सृष्टि के तीसरे सोपान का भी संकेत किया गया है, अर्थात् नारायण विष्णु का क्षीराब्धि-शयन उसे विश्व की गर्भावस्था के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं। नारायण-विष्णु की नाभि से कमल की उत्पत्ति से सृष्टि के दृश्यमान स्थावर-जङ्गमात्मक संसार के प्रथम आभास का परिकल्पन कर सकते हैं। पुराणों में विष्णु के दशावतारों का वर्णन है—जैसे मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह आदि आदि। इन अवतारों का जो वर्णन पाया जाता है वह एक प्रकार से विश्व के विकास की एक कहानी है। पहला मत्स्य, दूसरा कूर्म, तीसरा वराह। चतुर्थ अवतार वह है जहाँ मानव और पशु दोनों में सहज एवं नैसर्गिक विकास विदित होता है जिसमें हम सृष्टि का स्थावर-जङ्गमात्मक पूर्ण प्रभव मान सकते हैं।

इसी प्रकार से अन्य नाना आख्यान, उपाख्यान, कथा-प्रसंग, पुराण तथा इतिवृत्त आधुनिक दृष्टि से भी समझे जा सकते हैं। भूगर्भ-शास्त्र (Geology) केवल आज के विज्ञान की ही देन है—यह हमारा अज्ञान है। पुराणों का पृथु-वृत्तान्त और पृथु का गो-दोहन वास्तव में प्राचीन (Geology) और (Geography) की कथा है। पृथ्वी गोल है और लाखों वर्ष पूर्व बड़ी गरम थी, रहने के योग्य नहीं थी—यह ज्ञान आधुनिक विज्ञान की ही उपज नहीं। हमारे प्राचीन ऋषि इस तथ्य से पूर्ण परिचित थे। भौतिक-शास्त्र के आधुनिक विज्ञान की बड़ी उन्नति हुई है। आणविक शक्ति की परीक्षा पराकाष्ठा को पहुँच गई है। सूर्य-रश्मि-विज्ञान पर भी बहुत विशद अनुसन्धान किये जा चुके हैं और नाना प्रकार के आविष्कृत यन्त्रों के द्वारा सूर्य-रश्मियों की वर्णपट (Colour spectrum) का भी पता लगाया जा चुका है। परन्तु ऋग्वेद के ऋषियों ने सूर्य की स्तुति में जिन विशेषणों का प्रयोग किया है, सूर्य की रश्मियों की जो व्याख्या की है, उससे पता चलता है कि हमारे देश में प्राय: ५ हजार वर्ष पूर्व बिना किसी तथाकथित आधुनिक वैज्ञानिक यन्त्रों के एवं विज्ञान-शालाओं के स्वल्प सम्भार के भी अभाव में उन्हें यह सब ज्ञान पूर्ण-मात्रा में प्राप्त था। सूर्य को 'सप्त-हरित' कहा गया है। उसे 'सप्ताश्व', 'सप्तरश्मि'

भी कहा गया है। इनसे लोग समझते हैं कि सूर्य के रथ में सात घोड़े होते हैं—यह वैज्ञानिक व्याख्या नहीं है। 'हरित्' शब्द हृ धातु से निष्पन्न होता है। यास्क ने अपने निघण्टु में हरित् का अर्थ 'Take away' आदान करने वाला कहा है। इस प्रकार हरित् का अर्थ रश्मि से है और वही अर्थ अश्व से भी समझना चाहिए। सूर्य-रश्मियाँ जिस प्रकार आदान करती हैं उसी प्रकार से प्रदान भी करती हैं। इसीलिए वर्ष में आदान-काल और विसर्ग-काल दो षाण्मासिक काल माने गये हैं। पर्जन्य, वरुण आदि जिन देवों का ऋग्वेद में वर्णन है तथा आगे चल कर इस देव-परम्परा में जिन पौराणिक देवों का विकास हुआ है अथवा वास्तु-विन्यास में जिन ४९ या ५३ पद-देवों की प्रतिष्ठा हुई है, वे सब वास्तव में दृश्यमान, देदीप्यमान एवं महीयान् इस महादेव सूर्य-देव की रश्मियों के ही नाम हैं, जो सूर्य के रश्मि-पुञ्ज की विविध वर्णमाला की व्याख्या करते हैं। इस विषय की विशद चर्चा हम आगे वास्तु-पुरुष-मण्डल की व्याख्या में करेंगे।

भारतीय वास्तु-शास्त्र का व्यापक क्षेत्र—सृष्टि, भूगोल तथा सौरमण्डल

इस अधिकरण में हमें पाठकों के सामने समराङ्गण आदि वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित भूगोल-वर्णन और सौर-मण्डल के वर्णन की क्या संगति है—इस पर प्रकाश डालना है। इस उपोद्घात से यह पता लग ही चुका है कि भारतीय वास्तु-शास्त्र का बड़ा ही व्यापक दृष्टिकोण था। जब समस्त भूमण्डल तथा सौरमण्डल 'वास्तु' का विषय है तो वास्तु की व्याख्या में वास्तु को भवन-निर्माण की कोठरी में बन्द कर देना बड़ा अभिशाप है। भारतीय स्थापत्य के अनुसार वास्तु-विनियोजना समस्त भूमण्डल को लेकर चलती है। एक देश दूसरे देश से प्रभावित रहता है। पड़ोसी देशों की पारस्परिक मैत्री अथवा शत्रुता का एक दूसरे पर कैसा प्रभाव पड़ता है—यह हम जानते ही हैं। इसी प्रकार देश-विशेष के अपने-अपने जनपदों, नगरों, ग्रामों, कुटुम्बों की पारस्परिक मैत्री और शत्रुता का क्या प्रभाव पड़ सकता है यह भी किसी से अविदित नहीं।

अथ च इस सौरमण्डल में यह पृथ्वी एक बहुत ही लघु इकाई है। सौरमण्डल के विभिन्न ग्रह एक दूसरे को प्रभावित करते हैं। यह बेचारी पृथ्वी सूर्य और चन्द्र के बिना निर्जीव-सी है, अन्धी-सी है, बेकार है, तो क्या इस क्षुद्र पृथिवी पर रहने वाला जन्तु वह मानव हो, किंवा पशु हो, क्या सूर्य-चन्द्र

से प्रभावित नहीं होगा ? तो फिर शुक्र, मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि नवग्रहों के प्रभाव पर आस्था न रखने वाले नागरिक क्या अज्ञानी नहीं हैं ? तो फिर इन मनीषियों ने वास्त्वारम्भ में जो आयादि-विचार, नक्षत्र-परीक्षा, लग्न-साधन, तिथि, वार आदि निर्धारण जो अनिवार्य वास्तु-कृत्य माने हैं, वे कितने वैज्ञानिक कहे जा सकते हैं—क्या यह समझने की बात नहीं है ? अतः अष्टाङ्ग स्थापत्य में ज्योतिष का प्रमुख स्थान है। इसलिए वास्तु-शास्त्र के ग्रन्थों में ज्योतिष से सम्बन्धित सौर-मण्डल का ज्ञान परमोपादेय होने के कारण उसका भी प्रारम्भिक अध्यायों में सन्निवेश किया गया है। सारांश यह है कि भवन-निर्माण न केवल एक एकाङ्गी कला अथवा कृत्य है वरन् एक समन्वित एवं सर्वव्यापक विज्ञान है। अतएव ज्योतिष, भूगर्भ-विद्या, भूगोल आदि सभी शास्त्रों का इसमें सन्निवेश किया गया है। यह तो वास्तु-शास्त्र का व्यापक दृष्टिकोण है। वास्तु-शास्त्र का एक सामाजिक और औपयोगिक अथवा सर्वजन-हितार्थ दृष्टिकोण भी माना गया है। मानव के पशु और वनस्पति, सदैव सहचर रहे हैं। बिना उनके उसका जीवन असम्भव-सा रहा है। धेनु, धेनुवत्स, वृषभ, अश्व आदि पशु सनातन से कितने उपयोगी चले आ रहे हैं। इसी प्रकार जिस भू-प्रदेश पर वनस्पति का विकास नहीं, हरे-भरे पौधे नहीं, प्राकृतिक सुषमा नहीं, जलाशय नहीं, तीर्थ नहीं, कान्तार नहीं, वन, उपवन, वीरुध-लताएँ, गुल्म, तृण-जातियाँ और चरागाह नहीं, वहाँ मानव और पशु कैसे रह सकता है। समराङ्गण-सूत्रधार—वास्तुशास्त्र के भूमि-चयन अथवा भूमि-संग्रह, भूमि-परीक्षा आदि प्रसंगों में जिस प्रकार के सुन्दर, सुहावने एवं सरस तथा काव्य-मय भूमि के वर्णन आये हैं वे सब इसी बात पर ज़ोर देते हैं कि नगरोचित, पुरोचित, ग्रामोचित वे ही प्रदेश संग्रहणीय हैं जहाँ जला-धिक्य हो, कृषि, शाक, पुष्प-फलादि के प्रचुर साधन हों। भवन-द्रव्य के लिए दारु-आहरण की अनिवार्य आवश्यकता की पूर्ति के लिए घने कान्तार हों, जहाँ बड़े-बड़े शीशम, सर्ज, अर्जुन आदि महीरुह अपनी महिमा से उस प्रदेश को मण्डित कर रहे हों। जल का संस्कृत में जीवन, भुवन और वन भी पर्याय माना गया है। इससे स्पष्ट है कि किसी भी वास्तु-योजना में जलाशयों का विचार प्रथम कोटि में आना चाहिए। भारत में प्रायः सभी प्राचीन नगर सरिताओं के कूलों पर स्थित हैं। प्राचीन काल में हम सरिताओं को पूजते थे। उसका अर्थ यह था कि उनका मनुष्य जीवन के साथ बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। स्नान और जलपान तो थे ही, साथ-ही-साथ सरिताओं के द्वारा बड़े-बड़े सम्मेलनों की भी योजना किया करते थे। सरिताओं के तटों से बढ़ कर

धर्म, ज्ञान, विज्ञान, दर्शन और कला पर विचार करने के लिए और दूसरा उपयुक्त, अनुकूल तथा प्रशस्त वातावरण नहीं समझा जाता था। कंकरीली-पथरीली ज़मीन पर शस्य-श्यामला कृषि की कल्पना आकाश-कुसुम के समान है। आजकल की वन्द इमारतों में बैठकर विराट्-पुरुष पर विचार असम्भव है। वह पृष्ठ-भूमि तथा वातावरण ही नहीं रहा। इसलिए अरण्यों में पैदा होने वाला औपनिषदिक रहस्य आज भी सबसे बड़ा विज्ञान माना जाता है। सुकरात ने पश्चिम में सब से बड़ा ज्ञान आत्म-ज्ञान माना था। उससे बहुत पूर्व यहाँ के ऋषियों ने आत्मा के ज्ञान में ही परमात्मा को पहचान लिया था। उस दिन से मानव अपने आगे की छलांग को छोड़कर फिर पीछे मुड़ गया और आत्मा को तो उसने अपने हाथों से ही मार डाला और परमात्मा को ईंटों से तथा पत्थरों से मार रहा है।

भारतीय स्थापत्य की विशेषता—

भारतीय स्थापत्य भारतीय संस्कृति का एक बड़ा ओजस्वी अङ्ग है। यह वह अङ्ग है जहाँ पार्थिव और अपार्थिव दोनों का संगम होता है। भारतीय स्थापत्य की यही अपनी विशेषता है। यूनान और रोम की वास्तु-कला पार्थिव तत्त्वों से ही विकसित हुई है। मानव शरीर के सौष्ठव की अभि-व्यक्ति ही वहाँ की कला का परम प्रयोजन रहा है। स्त्री-पुरुषों के शरीरावयवों की अभिव्यक्ति के साथ देवों और वीरों की आकृतियों में भी उसी निष्ठा का पर्याप्त परिचय मिलता है। बड़े-बड़े गिरजा-घरों में भी राजसी ठाठ-बाठ, अति-रञ्जना एवं अलङ्कृति के अतिरिक्त और क्या मिलेगा ? वहाँ के स्थापत्य में शरीरावयवाभिव्यक्ति निष्णात स्थपतियों की कला की पराकाष्ठा है, और विशाल भवनों विशेष कर गिरिजा-घरों और राज-प्रासादों की रचना उनके गौरव की प्रतीक हैं। गिरजा-घरों में कतिपय धार्मिक चिह्नों एवं उपलक्षणों की सूचक निर्मितियों के द्वारा वे राज-गृहों से पृथक् किये जा सकते हैं। सनातन से देव-मन्दिरों के निर्माण में कोई-न-कोई पृष्ठ-भूमि का सहारा लिया गया है। बहुत से विद्वानों के मत में गिरजा-घरों और देव-मन्दिरों की रचना एक प्रकार से राज-घरों का संस्करण है। राज-गृहों का सब से प्रमुख निवेश सभा या आस्थान-मण्डप है जिसे दरबारे-आम या 'आडियन्स-हाल' के नाम से पुकारते हैं। दूसरी विशे-षता दरबारे-खास या आभ्यन्तर-कक्ष है जो क्रमशः मण्डप और विमान के पल्ल-वन में सहायक हुआ है। उसी प्रकार राज-गृहों की भूमिकाएँ भी शिखरावलि—अलंकृतियां तथा वितान-विन्यास आदि नाना निवेश मन्दिर-स्थापत्य के अङ्ग बने। यह विषय विवादास्पद है जिस पर हम 'प्रासाद-निवेश', में विचार करेंगे।

समराङ्गण की देन—भारतीय स्थापत्य में साधारण जनावासों का स्थान—भवन-जन्म-कथा

भारतीय स्थापत्य के इस व्यापक दृष्टिकोण पर किञ्चित्कर प्रवचन के उपरान्त हमें भारतीय वास्तु-शास्त्र के मूर्धन्य ग्रन्थरत्न—समराङ्गण-सूत्रधार—वास्तु-शास्त्र के अध्ययन सम्बन्धी इस भाग में उसके प्रतिपाद्य विषय पर इस उपोद्घात में कुछ विस्तृत चर्चा करनी है। परन्तु इससे पूर्व लेखक ने जो मौलिक-परिमार्जन एवं संशोधन किया है उसका एक सुसम्बद्ध एवं वैज्ञानिक पोषण आवश्यक है।

समराङ्गण-सूत्रधार का प्रथम सम्पादन एवं संस्करण म० म० टी० गणपति शास्त्री महोदय ने १९२४ में किया था और इसको दो भागों में महाराज बड़ौदा-नरेश के संरक्षण में प्रकाशित किया था।

सम्पूर्ण समराङ्गण में ८३ अध्याय हैं। उनमें पहले ५४ अध्यायों का सम्पादन प्रथम-भाग और अन्तिम २९ अध्यायों का द्वितीय भाग में किया गया है।

समराङ्गण सूत्रधार बड़ा ही पारिभाषिक, वैज्ञानिक एवं कठिन ग्रन्थ हैं। इसके प्रथम अध्ययन का श्रेय मुझे मिला। अतः इस अध्ययन-जन्य अनुभव से सारांश यह निकला कि भारतीय वास्तु-शास्त्र के निम्नलिखित प्रमुख अङ्गों पर इस ग्रन्थ में प्रतिपादन है—

१—प्राचीनकालीन इंजिनियरिङ्ग,

२—पुर-निवेश—टाउन-प्लानिंग,

३—पुरोचित, साधारणजनोचित भवन-निवेश—शाल-भवन,

४—राज-निवेश तथा राज-हर्म्य,

५—देव-मन्दिर—प्रासाद-वास्तु,

६—देव-प्रतिमा—मूर्ति-कला या प्रतिमा-शिल्प,

७—चित्र-कला तथा

८—यन्त्र, शयन एवं आसनादि।

समराङ्गण-सूत्रधार—इस शीर्षक से ही इस ग्रन्थ की देन का पूर्ण संकेत है। समराङ्गण के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में जैसे मानसार, मयमत तथा अनेक प्राचीन पुराणों में एवं आगमों में वास्तु-शास्त्र का विशद क्षेत्र देव-मन्दिरों एवं देव-प्रतिमाओं तक ही पाया जाता है। मानसार के ९८ प्रकार के भवन एक प्रकार के विमान-मन्दिर हैं। मयमत की भी यही परम्परा है। पुराणों में भी प्रासादों का ही प्रकर्ष है। अतएव आजकल के भारतीय पुराविदों की भी पाश्चात्य पुराविदों के समान एक भ्रान्त धारणा हुई कि भारतवर्ष के वाङ्मय में 'सिविल-आर्कि-टैक्चर' का कोई वैज्ञानिक शास्त्र नहीं विकसित हुआ है। यहाँ के लोग बड़े-बड़े मन्दिर, राज-भवन अथवा दुर्ग तथा प्राकार वलयावृत नगर की ही रचना में दक्ष थे। परन्तु साधारण जनोचित भवनों के विन्यास में सर्वथा अनभिज्ञ थे।

यह धारणा नितान्त भ्रान्त है। यतः इस देश की संस्कृति में दैवी तत्त्व के सामने अथवा सनातन अध्यात्म तत्त्व के सामने नश्वर भौतिक तत्त्व एवं भौतिक वाह्याडम्बर को विशेष प्रश्रय नहीं दिया गया और ऊँचे विचार तथा साधारण जीवन ही सार्वदेशिक एवं समन्वित रूप में इस देश की संस्था रही है; अतएव लोग साधारण छाद्य भवनों में रहते हुए परमानन्द प्राप्त करते रहे।

विज्ञान और कला को जीवन के व्यावहारिक उपयोग में नहीं लगाया गया। विज्ञान और कला को देवता के चरणों में समर्पित किया गया। अन्यथा आजकल की सी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो जाती। जो विज्ञान एवं कला अध्यात्म से शून्य है अथवा देवता-तत्त्व से रहित है वह स्वयं संहारक अथवा संहार्य है। अतएव वह कला जो अध्यात्म से शून्य है, जो दैवीतत्त्व से शून्य है वह केवल जलाने के काम आ सकती है।

इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि इस देश में भौतिक पक्ष को सर्वथा गौण कर दिया गया। इस देश की सबसे बड़ी विशेषता यह रही कि आध्यात्मिक पक्ष एवं भौतिक पक्ष को सदैव संतुलित रखा गया और यह संतुलन तभी सम्भव हो सकता है जब भौतिक पक्ष की उद्दाम गति का अध्यात्म के द्वारा सदैव निरोध रहता रहे। अन्यथा यह भौतिकवाद भस्मासुर के समान अपने जनक स्वयं शिव को भक्षण करने को तत्पर हो जाता है।

कोई भी देश महान् नहीं बन सकता, कोई भी संस्कृति अथवा सभ्यता चिर-स्थायी नहीं रह सकती जो एकाङ्गी हो। भारतवर्ष एक महान् देश था और है। भारतवर्ष की संस्कृति एवं सभ्यता महान् थी एवं अब भी कही जाती है। पुनः हमारे देश को धर्म-प्रधान देश कहना अथवा हमारी संस्कृति को

अध्यात्म-मूलक कहना एकाङ्गी आक्षेप है। हमारे देश के आचार्यों ने धर्म की व्याख्या में तो भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों पक्षों पर समान अभिनिवेश दिखाया है, यह हम पहले ही कह आये हैं। जिससे देश-विशेष अथवा समाज-विशेष में या उसकी सभ्यता एवं संस्कृति के मूल्याङ्कन में ऐहिक उन्नति अर्थात् भौतिक उन्नति तथा पारलौकिक उन्नति अर्थात् परमार्थ-साधन दोनों ही देखे जाते हों वही धर्म है। मानव-जीवन एकमात्र पाशविक संस्था नहीं है जो सतत उदर-पोषण एवं इन्द्रियों की तृप्ति में ही लगा रहे। मानव-जीवन और पशु-जीवन का विभेदक घटक धर्म है। बुद्धिजीवी मानवों की आत्म-जिज्ञासा परमात्म-चिन्तन एवं तदनुकूल देवाराधन तथा विशुद्ध जीवन ही परमोद्देश्य है। अतः ऐसी परम्परा में बाह्याडम्बर से ओत-प्रोत वैभव, विलासिता, आमोद-प्रमोद, क्रीड़ा और विहार नृत्य एवं नाद, संगीत और आलेख्य, तौर्यत्रिक—वादन-गायन-नर्तन आदि कलाओं से वशीभूत होकर मानव शरीर-विभोर हो सकता है, आत्म-विभोर नहीं हो सकता। इस देश के प्राचीन स्मारकों जैसे—अजन्ता, एलोरा आदि प्रसिद्ध वास्तु-पीठों के गुहा-मन्दिरों एवं अन्य नाना देव-मन्दिरों की जो परम्पराएँ हैं उनमें ये सब कलाएँ देवाराधन में लगाई जाती थीं। अजन्ता के आलेख्य, चिदम्बरम् के नृत्य और नाटय तथा प्रत्येक विमान एवं प्रासाद में संगीत एवं नाद में सभी कलाएँ देवाराधन में तत्पर रहीं।

पुराणों में सहदेवाधिकार नामक एक आख्यान है जिसमें आधुनिक विकास-सिद्धान्त के प्रतिकूल यह कहा गया है कि पुरा मानव और देव एक साथ रहते थे। देवों के समान मानवों की भी पुण्यश्लोकता थी, अजरता थी, अमरता थी। परन्तु कालान्तर में मानवों में देवों के प्रति अवज्ञा आविर्भूत हुई। उसके फलस्वरूप मानवों की वह पुण्यश्लोकता चली गई। कल्पवृक्षों के नीचे उनके आहार-विहार, क्रीडा-प्रमोद आदि भी समाप्त हो गये और वे क्षुधा और तृषा से व्याकुल होकर, व्याधियों से पीड़ित होकर शस्यादि का आहार करने लगे जिससे उनमें मल-प्रवृत्ति हो गई और उससे उनकी प्रकृति भी राजस हो गई एवं वे आधि-व्याधियों के वशीभूत होने लगे। उनमें द्वन्द्व का प्रादुर्भाव हो गया। वह पुराना साम्यवाद समाप्त हुआ एवं व्यक्तिवाद ने आकर अपना अड्डा जमाया। ऐसी स्थिति में मैथुन आदि की अभिगुप्ति के लिए और शीतादि से बचने के लिए उन्हें घर की आवश्यकता हुई एवं उन्होंने कल्पद्रुम के आकार में शाल-गृहों अर्थात् शाखाओं के द्वारा गृहों की रचना की। भूतल पर प्रथम भवन की जन्मकथा पर यह अत्यन्त सूक्ष्म संकेत है। इस सहदेवाधिकार का समराङ्गण-कर्ता ने भी उल्लेख किया है जिसको पाठक आगे पढ़ेंगे। परन्तु यहाँ पर

इस अधिकृत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय में भवन-निर्माण अर्थात् शाल-भवन-विन्यास अर्थात् साधारण-जनोचित निवास-भवनों की रचना-पद्धति ही ग्रन्थ सर्वप्रधान है, तो फिर इस देश में 'सैकूलर आर्किटेक्चर' का वैज्ञानिक विवेचन नहीं हुआ—यह कथन निराधार है कि नहीं ?

आगे हम भारतीय भवन-रचना-सिद्धान्तों का सविस्तर विवेचन करेंगे वहाँ उस प्रश्न का अनायास ही समाधान हो जायगा। यहाँ पर प्रकृत में समराङ्गण की जिज्ञासा में 'समराङ्गण-सूत्रधार' इस शीर्षक का अर्थ मात्र ही हमारे प्रवचन का प्रबल समर्थन करता है। समराङ्गण का साधारण अर्थ तो युद्ध-क्षेत्र है। परन्तु यह तो वास्तु-शास्त्र का ग्रन्थ है, यहाँ पर युद्ध-क्षेत्र की क्या कथा ? अतः ग्रन्थकार ने वास्तुशास्त्र का परमोपादेय मर्म इस शीर्षक में ही भर दिया है। समर का अर्थ है जुड़े हुए अथवा अच्छे-अच्छे चक्र, जैसे एक पहिये में उसके अर जुड़े हुए होते हैं—उसी प्रकार से शालाएँ (गृह) आङ्गन से जुड़े हुए होते हैं—वे समराङ्गण हैं और उनका सूत्रधार 'समराङ्गण-सूत्रधार' हुआ। अर्थात् इस ग्रन्थ की सर्वप्रमुख विशेषता साधारण-जनोचित-भवन-विन्यास है। वैसे तो देव-भवनों पर भी बड़ा प्रौढ़ प्रतिपादन है परन्तु इस ग्रन्थ के पूर्ववर्ती ग्रन्थों में एकमात्र देवभवनों का ही रूढ़ि-ग्रस्त जो प्रतिपादन मिलता है उसी रूढ़ि का भञ्जन कर ग्रन्थकार ने वास्तु-कला की सर्वव्यापक प्रतिष्ठा में तीनों प्रकार के भवनों (जनभवन, राजभवन, देवभवन) की रचना के सिद्धान्तों की व्याख्या की है।

वास्तु एवं शिल्प—

समराङ्गण-सूत्रधार के अध्यायों की हम चर्चा कर रहे थे। समराङ्गण-सूत्रधार के लेखक धाराधिप महाराजाधिराज भोजदेव थे। हो सकता है कि कालान्तर में इस शास्त्र को लिपिबद्ध करने में लेखकों ने कुछ इधर-उधर गड़बड़ी कर दी हो अतएव इस ग्रन्थ में भवन-सम्बन्धी अध्यायों में पूर्वापर क्रम सुसम्बद्ध नहीं है। अतः मैंने अपने इस दीर्घ-कालीन अध्ययन से प्राप्त अनुभव के आधार पर निम्नलिखित तालिका में अध्यायों के सुसम्बद्ध सङ्कटन करके ग्रन्थ का परिमार्जन किया है। परन्तु इस तालिका के अवतरण से पूर्व विज्ञ पाठकों के सम्मुख थोड़ा-सा इस सम्बन्ध में निवेदन अपेक्षित है। यह ग्रन्थ वास्तु-शास्त्र का प्रतिपादन करता है। बहुत से अन्य ग्रन्थ जैसे—मानसार तथा मयमत वास्तु-शास्त्र के स्थान पर शिल्प-शास्त्र का शीर्षक देते हैं। वैसे तो ये सभी ग्रन्थ एक ही शास्त्र का प्रतिपादन करते हैं, परन्तु वास्तु-शास्त्र एवं

शिल्प-शास्त्र की व्यापकता में अन्तर है। यतः "प्राधान्य से ही प्रायः व्यपदेश होते हैं" अतः द्राविड़ी परम्परा में वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों को भी शिल्प-शास्त्र की संज्ञा से कीर्तित किया गया है। द्राविड अथवा दक्षिण की वास्तुकला में चित्रण का प्राधान्य होने के कारण वास्तु अर्थात् भवन-कला भी एक प्रकार से शिल्प-कला अर्थात् मूर्तिकला के रूप में परिणत हुई। अतः वहाँ के वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थ भी शिल्प-शास्त्र के शीर्षक से अलंकृत हुए। वास्तु शब्द शिल्प शब्द की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। वैसे तो वास्तु शब्द की उत्पत्ति वस्तु शब्द से हुई है। इस प्रकार कोई भी निर्माण द्रव्य—काष्ठ, इष्टिका, पाशाण, धातु इत्यादि जब एक अभिनव निर्मिति में परिणत होते हैं तो वे वास्तु की संज्ञा से व्यवहृरित होते हैं। यह समस्त सृष्टि ही वस्तु है परन्तु विश्वकर्मा के द्वारा वह वास्तु में परिणत हो गई। ब्रह्मा ने केवल मानसी सृष्टि की। पुनः इस ऊबड़-खाबड़ जमीन को महाराज पृथु ने समीकृत कर भूतल पर आवास-योग्य पुर, ग्राम, भवन, पत्तन, प्रासाद आदि का निर्माण विश्वकर्मा से करवाया। पुराणों का पृथु-गोदोहन-वृत्तान्त एक विशुद्ध भौगर्भिक-शास्त्रीय-अन्वेषण-अनुष्ठान समझना चाहिए। यह हम पहले ही कह आये हैं। कौन-सी पृथिवी कैसी है? कहाँ पर नगर बसाने चाहिएँ और कहाँ पर दुर्ग स्थापित करने चाहिएँ? कौन से देश जनावास-योग्य हैं, कौन से वर्ज्य हैं, कौन-सी पृथ्वी खनिमती है और कौन रत्नगर्भा है, कौन-सी शस्य-श्यामला है, कौन-सी सिता है, पीता है, कृष्णा है, रक्ता है—यही महाराज पृथु का गोदोहन है, जिसे आजकल के पण्डित आजतक नहीं समझ पाये। अस्तु, निष्कर्ष यह है कि वास्तु शब्द का साधारण अर्थ भवन या नगर है। वस्तु शब्द का व्यापक अर्थ धरा है। अतः धरा पर निर्मित भवन, पुर, प्रासाद सभी वास्तु हैं। पहले साधारण भवनों, ग्रामों, नगरों का विन्यास एवं निर्माण प्रारम्भ हुआ पुनः इस विन्यास की रचना-पद्धति में कालान्तर में अतिरञ्जना के कारण अलंकृति-चित्रण-प्राधान्य प्रारम्भ हुआ तो वास्तु की सजधज शिल्प व चित्र से जगमगा उठी। आधुनिक कला-मर्मज्ञों का कथन है कि बहुत से मन्दिर वास्तुकर्ता स्थपति की कला न होकर पाषाण-कोविद् शिलावर्तों अथवा चित्रकारों की कृतियाँ हैं, जिसे अंग्रेजी में (Sculptor's architecture) कहते हैं।

यह पहले ही संकेत किया जा चुका है कि वास्तु शब्द शिल्प की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। वास्तु शब्द ऋग्वेद में भवन के अर्थ में आया है। अतः वास्तु अर्थात् भवन से सम्बन्धित शास्त्र को वास्तु-शास्त्र कहते हैं। हम पहले ही संकेत कर चुके हैं कि चार वेदों के समान चार उपवेद भी थे। उनमें

स्थापत्य-शास्त्र, वास्तु-शास्त्र, शिल्प-शास्त्र ये तीनों शब्द पर्यायवाची विवृत हुए। परन्तु मेरी धारणा के अनुरूप वास्तु-शास्त्र के निम्नलिखित अङ्ग हैं—वास्तु, शिल्प तथा चित्र। ये तीनों एक दूसरे के उपकारक हैं। भारतवर्ष की कला उपलक्षणात्मक रूप में पल्लवित एवं फलित हुई है। उपलक्षण अर्थात् 'सिम्बल्स' या प्रतीक की अवतारणा में चित्रण और मूर्तिकला नितान्त अनिवार्य सहचर हैं। शिल्परत्न का लेखक स्वयं कहता है—

एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा यतः।
मनोहरतरं कुर्यान् नानाचित्रैर्विचित्रितम्॥

इस प्रवचन से वास्तु-कला एक यान्त्रिक-कला न रहकर मनोरम-कला के रूप में उद्भावित की गई है। भारतीय वास्तुकला वास्तव में पश्चिम की वास्तु-कला के समान यान्त्रिक-कला नहीं है। यह काव्य-कला, संगीत-कला, नृत्य-कला नाट्यकला के समान एक मनोरमकला है। इसके साथ-ही-साथ भारतीय कलाओं की सर्वप्रमुख विशेपता यह भी है कि इनका आधार अध्यात्म की ज्योति है जिससे वे अनुप्राणित हैं। संगीत के नाद ब्रह्म के समान, काव्य और नाटक के 'रसो वै सः' रस ब्रह्म के समान वास्तु में भी वास्तु-ब्रह्मवाद की केवल शास्त्रीय अवतारणा ही नहीं की गई वरन् प्रासाद की रचना में अथवा विमान की रचना में उसे पूर्णरूप से प्रतिष्ठित किया गया है। आगे हम जब प्रासाद अर्थात् हिन्दू-देवमन्दिर का विवेचन करेंगे तब प्रासाद की प्रकृति एवं उसके उद्‌गम और विकास पर जो प्रकाश पड़ेगा उससे हिन्दू-मन्दिर की 'आरगैनिक थ्योरी'—पुरुष-सिद्धान्त अर्थात् प्रासाद-पुरुष-सिद्धान्त के द्वारा इस मर्म का पूर्णरूप से मर्मोद्‌घाटन हो सकेगा। अतः वास्तु, शिल्प और चित्र के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध पर इस संकेत से भारतीय दृष्टि से कुछ निर्वचन हुआ। अब वास्तु के व्यापक क्षेत्र पर थोड़ा-सा प्रवचन आवश्यक है।

वास्तु की व्यापकता—

भवन-निर्माण के प्रथम भवनोचित देश, प्रदेश, जनपद, सीमा, क्षेत्र, वन, उपवन, भूमि आदि की परीक्षा आवश्यक है। पुनः भवन एकाकी नहीं रह सकता। वह तो किसी पुर, पत्तन अथवा ग्राम का अङ्ग होता है अतः भवन-निर्माण अथवा भवन-निवेश की प्रथम प्रक्रिया अथवा प्रथम सोपान पुर-निवेश है। परन्तु पुर-निवेश जहाँ कहीं नहीं किया जा सकता। पुरोचित-भू प्रदेश का चयन भी आवश्यक होता है। इस चयन में आधुनिक 'सर्वेइङ्ग' और इञ्जिनिय-

रिङ्ग आ जाती है। पुनः यह 'सर्वेइङ्ग' और इञ्जिनियरिङ्ग किस आधार पर हो, यह ज्ञान परमावश्यक है।

अतः वास्तु के तीन प्रमुख अङ्ग अनायास स्वतः सिद्ध हो गये—

१—वास्तु के मौलिक सिद्धान्त।

२—पुर-निवेश।

३—भवन-निवेश।

अब प्रश्न यह है कि भवन शब्द का क्या अर्थ है। भवन की निम्न-लिखित पर्यायतालिका देखिए—

भवन-विकास

	मयमत	मानसार	समराङ्गण
	अध्याय १६.१०—१२	अ० १६.१०८—१२	अ० १८. ८—६
१.	विमान	विमान	आवास
२.	भवन	समलय	सदन
३.	हर्म्य	हर्म्य	सद्म
४.	सौघ	आलय	निकेत
५.	धाम	आधिष्ण्यक्	मन्दिर
६.	निकेतन	प्रासाद	संस्थान
७.	प्रासाद	भवन	निधान
८.	सदन	क्षेत्र	धिष्ण्य
६.	सद्म	मन्दिर	भवन
१०.	गेह	आयतन	वसति
११.	आवासक	वेश्म	क्षय
१२.	गृह	गृह	आगार
१३.	आलय	आवास	संश्रय
१४.	निलय	क्षय	नीड
१५.	वास	धाम	गेह
१६.	आस्पद	वास	शरण
१७.	वास्तु	गेह	आलय
१८.	वास्तुक	आगार	निलय
१६.	क्षेत्र	सदन	लयन

२०.	आयतन	वसित	वेश्म
२१.	वेश्म	निलय	गृह
२२.	मन्दिर	तल	ओक
२३.	धिष्ण्यक्	कोष्ठ	प्रतिश्रय
२४.	पद	स्थान	—
२५.	लय	—	—
२६.	क्षय	—	—
२७.	आगार	—	—
२८.	उद्वसित	—	—
२९.	स्थान	—	—

इस तालिका से भवन के जन्म, उद्गम, आकृति, प्रतिकृति, प्रकार और प्रकर्ष सभी दिखाई पड़ते हैं। साधारण उटज भी भवन थे और आज-कल के अभ्रंलिह बहु-भूमिक प्रासाद अथवा हर्म्य भी भवन हैं। परन्तु वैज्ञानिक दृष्टि से भारतवर्ष की भवन-कला में निम्नलिखित तीन ही भवन-वर्ग हैं—

जन-भवन, राज-भवन, और देव-भवन।

राजभवन में ही आजकल की जो 'पबलिक बिल्डिङ्गस' हैं वे गतार्थ होती हैं—जैसे पुस्तकालय, विश्रामालय, सभा इत्यादि। परन्तु आधुनिक युग में यह वर्ग-त्रयी अपूर्ण ही कही जायगी क्योंकि औद्योगिक विकास ने नाना प्रकार के नये-नये भवनों को जन्म दिया। परन्तु यह पुरातत्त्व का ग्रन्थ है और पुरातत्त्व की समीक्षा है अतः हमारे क्षेत्र में यह जिज्ञासा अथवा विचि-कित्सा अनावश्यक है। इस प्रकार से वास्तु अथवा भवन-कला का निम्नलिखित षडङ्ग विनिर्णीत हुआ—

१. वास्तु-शास्त्र के मौलिक सिद्धान्त;
२. पुर-निवेश (ग्रामादि भी);
३. भवन-निवेश (जन-भवन, शाल-भवन);
४. राज-निवेश तथा राज-भवन;
५. प्रासाद-निवेश (विमान-विधान, देव-भवन) तथा
६. देव-भवन-चित्रण अर्थात् शिल्प एवं चित्र।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि भारतवर्ष की वास्तु-कला यूनान अथवा रोम की वास्तु-कला से विलक्षण है। यूनान की वास्तु-कला वैषयिक है अर्थात् पार्थिव जगत—मानव, पशु-पक्षी एवं प्रकृति का हू-बहू चित्रण ही उनका परम

कौशल अभिप्रेत था तथा यही निष्णात कलाकारों एवं स्थपतियों की विभूति मानी गई है। शरीरावयवों का अविकल मनोरम तथा आकर्षक चित्रण अथवा अभिव्यक्ति ही वहाँ की कला का परम पुरुषार्थ था। परन्तु हमारे देश की कला, जैसाकि इससे पूर्व संकेत किया जा चुका है, विशेषकर आध्यात्मिक है और अध्यात्म का चित्रण पार्थिव पदार्थों से तभी सम्पन्न हो सकता है जब वह प्रतीकात्मक हो, उपलक्षणात्मक हो अथवा रसात्मक या अलङ्कृति-प्रधान हो। अलङ्कृतियाँ भी या तो औपम्यगर्भ अतिशयात्मक हो जाती हैं, अथवा प्रतीकात्मक बन जाती हैं। हमारी मूर्ति-कला में देवों की प्रतिमा तो साधारण जनों के लिये बोधगम्य हो सकती है, परन्तु नानावर्गीय पशु, पक्षी, देव-योनि, किन्नर, गन्धर्व, अप्सराएँ, सुरसुन्दरी, शार्दूल, मिथुन इत्यादि सभी प्रतिमाएँ, जो प्रासाद-चित्रण के प्रमुख अङ्ग हैं, बिना उपलक्षण अथवा प्रतीकात्मक संकेत तथा रस एवं भाव के बिना बोधगम्य नहीं हैं। भारतीय मन्दिर-निर्माण के अवयवों पर दृष्टिपात कीजिए—पीठ, जङ्घा, शिखर, शृङ्ग, अण्डक आदि नाना प्रासादावयवों का क्या रहस्य है? क्या मर्म है? क्या अर्थ है?—यह एक विशद व्याख्या का विषय है जिसको इस अध्ययन के दूसरे भाग में विस्तृत रूप से प्रकट करेंगे। यहाँ पर इतना ही संकेत अभिप्रेत था कि वास्तु-कला में शिल्प (मूर्तिकला) एवं चित्र-कला के साहचर्य का क्या मर्म है। इस प्रकार से वास्तु-कला उपर्युक्त के षडङ्ग में प्रासाद-चित्रण का जो हम ने उल्लेख किया है वह पाठकों की समझ में आ सकता है।

अब थोड़ा विवेचन प्रासाद-चित्रण पर भी आवश्यक है, तभी हम वास्तव में वास्तु-शास्त्र का सुसंबद्ध एवं वैज्ञानिक संघटन करने में समर्थ हो सकेंगे।

वास्तु-शास्त्रीय अथवा शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों में चित्र शब्द बड़ा ही पारिभाषिक है। साधारण पाठक चित्र से अर्थ पेंटिङ्ग समझते हैं, परन्तु प्रतिमा के वर्गीकरण में तीन प्रकार की प्रतिमाएँ बताई गई हैं—चित्र, चित्रार्ध तथा चित्राभास। 'चित्र' का अर्थ पूरी प्रतिमा से है जिसको हम व्यक्त-प्रतिमा कह सकते हैं और जिसमें किसी देव-विशेष की पूर्ण प्रतिकृति चित्रित होती है। 'चित्रार्ध' से तात्पर्य अर्धाङ्ग-चित्रण से है—मुखमात्र अथवा कटिपर्यन्त चित्रण चित्रार्ध है जिसे हम व्यक्ताव्यक्त-प्रतिमा कह सकते हैं। तीसरी कोटि चित्राभास की है जो वास्तव में पेंटिङ्ग में परिगणित की गई है। यह किसी भित्ति, पट अथवा पट्ट पर चित्र्य होती है। इस प्रकार से शिल्प अर्थात् मूर्ति-कला और चित्र अर्थात् चित्र-कला का कैसा अभिन्न स्रोत है, यह हमारी समझ में आ सकता है।

अथ च प्रतिमा-निर्माण के नानावर्गीय द्रव्यों में जैसे पाषाण, धातु, रत्न, काष्ठ, मृत्तिका इन विभिन्न द्रव्यों का संकीर्तन किया गया है वहीं चित्र को नहीं भुलाया गया है। अतएव जिस प्रकार से हम भारतीय स्थापत्य में पाषाण-निर्मिता, धातूत्था, काष्ठजा, रत्नजा, मृन्मयी आदि प्रतिमाओं को पाते हैं वहाँ चित्रजा प्रतिमा भी भारतीय स्थापत्य की अनुपम एवं अभिन्न निधि के रूप में पाई जाती है। अभी तक हम वास्तु-कला को पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक स्तर से विचार करते रहे, यद्यपि हमने भाव और रस का भी उल्लेख किया है जिसमें भक्ति भी आ सकती है, परन्तु जो स्तर स्पष्ट-रूप से प्रतिपाद्य है वह है धार्मिक-स्तर। वैसे तो हमारा समस्त वास्तु-वैभव और शिल्प-उत्कर्ष देव-चरणों पर पुष्पाञ्जलि के रूप में पल्लवित एवं फलित हुआ है और यही कारण है कि देवत्व की अभिव्यञ्जना और उसकी व्याख्या में प्रतीकों और उपलक्षणों का सहारा लेना पड़ा है। परन्तु जहाँ तक इस देश की मूर्ति-कला के विकास का प्रश्न है वह सर्वथा धर्माश्रय से निष्पन्न हुआ है।

वैदिक-इष्टि में प्रतिमा की आवश्यकता नहीं थी; परन्तु पौराणिक पूर्त में देवतायतनों का निर्माण एवं उनमें देवता-प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा एक अनिवार्य संस्था बन गई। अतः प्रतिमा-निर्माण जन-धर्म की आवश्यकता की पूर्ति के हेतु प्रौढ़ संस्था बन गई।

सभी ज्ञानी एवं ध्यानी नहीं बन सकते थे, सभी आत्मवित् तथा ब्रह्मवित् नहीं बन सकते थे। अतः साधारण जनों की धार्मिक पिपासा, आत्मिक उन्नति तथा भावमयी तुष्टि एवं भक्तिप्रधान आसक्ति के लिए अज्ञों के निमित्त प्रतिमा की प्रकल्पना एक युगीन चेतना के रूप में विकसित हुई जो प्रासाद-वास्तु अर्थात् मन्दिर-स्थापत्य की अभिन्न सहचरी बन गई। अतएव वास्तु-कला के षडङ्ग में ही प्रासाद-चित्रण भी एक प्रधान अङ्ग है यह समझ में आ सकता है और यह भी समझ में आ सकता है कि भारतीय परम्परा के अनुसार वास्तु, चित्र एवं शिल्प एक दूसरे से कितने सम्बन्धित हैं।

पश्चिमीय परम्परा और आजकल की प्रगति के अनुसार वास्तु, शिल्प और चित्र एक प्रकार से अलग-अलग कलाएँ हैं तथा उपजीव्य व्यवसाय भी हैं एवं वैयक्तिक अध्यवसाय भी हैं। प्राचीन भारत की पद्धति के अनुसार वास्तु-कला-कोविद् स्थपति की चार कोटियाँ थीं—स्थपति, सूत्रग्राहिन्, तक्षक तथा वर्धकि। स्थपति वास्तु-शास्त्र के सभी अङ्गों का निष्णात विद्वान् और परम-कुशल कलाकार माना जाता था परन्तु तक्षक की विशेषता और वैदुष्य तथा दाक्ष्य पाषाण-कला अर्थात् मूर्ति-कला पर आश्रित था। वर्धकि पच्चीकारी और

काष्ठ-कला का कोविद् होता था और सूत्रग्राहिन् आजकल के इञ्जीनियर अथवा ओवरसियर की तरह काम करता था। इन शिल्प-कोटियों में ही भारतीय-स्थापत्य-शास्त्र अथवा वास्तु-शास्त्र का कितना विशाल एवं व्यापक क्षेत्र प्रकट हुआ—यह हमारी समझ में आ सकता है।

समराङ्गण-सूत्रधार वास्तुशास्त्र का पुनःसंगठन—अध्यायों की वैज्ञानिक योजना—

इस भाग के प्रतिपाद्य, उपादेय एवं उपजीव्य विषय भवन-निवेश की हम चर्चा कर रहे थे और इस चर्चा में साधारण भवन-निवेश अर्थात् जन-भवन या 'पापूलर रेज़िडेंशल हाउस' अथवा आधुनिक भाषा में 'सिविल आर्किटेक्चर' या 'सेकुलर आर्किटेक्चर' की बात कर रहे थे और उस सम्बन्ध में हम पाठकों के सामने यह प्रस्तुत कर रहे थे कि समराङ्गण-सूत्रधार के अध्यायों का क्रम सुसम्बद्ध नहीं है जो सम्भवतः लिपिकारों की गड़बड़ी हो अथवा कालान्तर में एक प्रति से दूसरी प्रति बनाने में कोई गड़बड़ी रह गई हो। अतः अपनी बुद्धि से इन अध्यायों का परिमार्जित संस्करण उचित समझा गया। उसे हम ने निम्न रूप से किया है, परन्तु यह मार्जन या संस्करण पाठकों की समझ में तभी आ सकता है जब अध्यायों और उनके दोषों का पहले ही स्पष्टीकरण कर दिया जाय।

समराङ्गण के भवन-सम्बन्धी अध्यायों को विषय और शास्त्र की दृष्टि से निम्नलिखित चार पटलों में विभाजित किया गया है—

प्रथम पटल—औपोद्घातिक

जिस में वास्तु-शास्त्र के साथ दूसरे शास्त्रों के सम्बन्ध के साथ-साथ वास्तुशास्त्र के क्षेत्र आदि पर जो अध्याय हैं उनकी समीक्षा औपोद्घातिक रूप में कल्प्य है। इस प्रकार से प्रथम सात अध्याय बिलकुल ठीक हैं। अर्थात् महासमागमन नाम प्रथम अध्याय में वास्तु-आधार महासमा पृथिवी, वास्तु-संरक्षक पृथु और वास्तु-आचार्य विश्वकर्मा इस वास्तु-त्रयी की जो अवतारणा की गयी है वह ठीक ही है। पुनः दूसरे अध्याय में विश्वकर्मा और उसके पुत्रों का वार्तालाप और वास्तु-कर्म में अपने पुत्रों का विनियोग ठीक ही है। प्रश्न नामक तीसरे अध्याय में जय, विजय, सिद्धार्थ, अपराजित, विश्वकर्मा के इन चार पुत्रों में जय की जिज्ञासा वास्तु-शास्त्र के व्यापक क्षेत्र पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालती है। इस जिज्ञासा में जहाँ वास्तु-कला, शिल्प-कला, चित्र-कला के नाना प्रङ्गों की जिज्ञासा है वहाँ पहली जिज्ञासा अथवा पहला प्रश्न

इस समस्त भूलोक एवं सौरमण्डल तथा समस्त ब्रह्माण्ड से सम्बन्धित है। क्या किसी देश-विशेष की वास्तु-योजना में दूसरे देशों का ज्ञान आवश्यक नहीं है ? यह भूलोक सौरमण्डल की क्या एक लघु इकाई है; और क्या यहाँ के निवासियों के जीवन और भाग्य अन्य ग्रहों से प्रभावित नहीं रहते हैं ? अतः सौरमण्डल और इस समस्त ब्रह्माण्ड या अण्ड-कर्पर का भी थोड़ा-सा ज्ञान परमावश्यक है। अतएव इस अध्याय के बाद आचार्य विश्वकर्मा पहले सृष्टि-वर्णन करते हैं जिसका शीर्षक **महदादिसर्ग** (चौथा अध्याय) है। पुनः पाँचवें अध्याय में सूर्यादि ज्योतियों की स्थितियों एवं गतियों पर प्रकाश डाला गया है।

भूतल पर भवन की आवश्यकता क्यों हुई ? अतः भवन-जन्म की कहानी के सुन्दर कथा-चित्र एवं भवन की प्रकृति तथा प्रतिकृति एवं रूप-रेखा पर भी प्रकाश डाला गया है। यह विषय **सहदेवाधिकार** नामक छठे अध्याय में उद्घाटित है। भारतीय संस्कृति का मूलाधार वर्णाश्रम-धर्म है। अतः कोई भी इस देश की योजना वर्णाश्रम-धर्मानुकूल ही होनी चाहिए। अन्यथा न तो सुनियोजित राष्ट्र सम्पन्न हो सकता है, और न सुसंघटित समाज परिकल्पित हो सकता है तथा न व्यक्ति ही सभ्य नागरिक के रूप में विकसित हो सकता है। अतः किसी भी योजना के लिए सुसंयमित व्यक्ति, सुनियन्त्रित समाज तथा सुशासित राज्य परमावश्यक है। अतः **वर्णाश्रम-प्रविभाग** नामक सातवें अध्याय में भूलोक के प्रथम शासक महाराज पृथु के द्वारा इन तीनों की सुन्दर व्याख्या की गई है। साथ-ही-साथ उनकी वृत्ति के लिए खेट, ग्राम, नगर, दुर्ग आदि की कल्पना की गई है जो वास्तु-शास्त्र के परम उपजीव्य विषय हैं।

द्वितीय पटल—सामान्य

हमने वास्तु-शास्त्र के नाना अङ्गों का निर्धारण किया है जैसे—नगर-निवेश, भवन-निवेश, राज-निवेश, प्रासाद-निवेश, प्रतिमा-निवेश, चित्र-निवेश आदि-आदि। अतः इन सभी निवेशों के योग्य कुछ सर्वसाधारण वास्तु-शास्त्रीय उपजीव्य विषय हैं जिनको हमने सामान्य के अन्दर रखा है। वास्तु-कला का अधिकृत विद्वान् और कुशल कारीगर स्थपति है। वास्तु-शास्त्र अथवा स्थापत्य-शास्त्र के शास्त्रीय दृष्टि से कौन-कौन अङ्ग हैं यह जिज्ञासा सामान्य में पहली होनी चाहिए। अतः स्थपति और स्थापत्य विषयक **'स्थपति-लक्षण'** ४४वां तथा **'अष्टाङ्ग लक्षण'** ४५वां ये दोनों अध्याय सामान्य-शीर्षक द्वितीय पटल के प्रथम दो अध्यायों में परिकल्पित किये गये हैं। अतः इस नवीकरण में इन अध्यायों का क्रम आठवां नवां हो गया है।

इसके बाद भूमि-परीक्षा और हस्त-लक्षण (नाप-जोख के सिद्धान्त) जो समराङ्गण में आठवें एवं नवें अध्याय थे वे अब दसवें और ग्यारहवें हो गये। समराङ्गण का दसवां अध्याय पुर-निवेश है। परन्तु पुर-निवेश या नगर-निवेश कैसे हाथ में लिया जा सकता है जब तक लग्न-विचार. तिथि-निर्णय, आयादि-निर्णय, वास्तु-विभाग अर्थात् 'साईट-प्लानिङ्ग', शिलान्यास, वास्तु-पूजन, बलि-दान-विधि, कीलक-सूत्रपात आदि-आदि जो सामान्य विषय हैं उनका उद्घाटन न हो चुका हो। अतः इस सामान्य पटल में हमने निम्नलिखित अध्यायों का निम्न प्रकार से परिमार्जन किया है—

परिमार्जित संख्या	अध्याय-शीर्षक	मौलिक संख्या
८.	स्थपति-लक्षणम्	४४
९.	अष्टाङ्ग-लक्षणम्	४५
१०.	भूमि-परीक्षा	८
११.	हस्त-लक्षणम्	९
१२.	आयादि-निर्णयः	२६
१३.	इन्द्र-ध्वजोत्थानम्	१७
१४.	वास्तु-त्रय-विभागः	११
१५.	नाड्यादि-सिरादि-विकल्पः	१२
१६.	मर्म-वेधः	१३
१७.	पुरुषाङ्ग-देवता-निघण्ट्वादि-निर्णयः	१४
१८.	बलिदान-विधिः	३६
१९.	वास्तु-संस्थान-मातृका	३८
२०.	शिलान्यास-विधिः	३५
२१.	कीलक-सूत्रपातः	३७

तृतीय पटल—पुर-निवेश

भवन-निवेश पुर-निवेश का अङ्ग है या यों कहिए कि भवन-निवेश के लिए पुर-निवेश पहली इकाई है; अतः औपोद्घातिक एवं सामान्य इन दो पटलों के उपरान्त और भवन-निवेश के पूर्व पुर-निवेश नाम के तीसरे पटल का क्रम प्राप्त होता है।

पुर-निवेश अथवा नगर-निवेश से सम्बन्धित दो ही अध्याय हैं—नगरादि-संज्ञा १८वां अध्याय तथा पुर-निवेश दसवां अध्याय। अतः समराङ्गण के इस सम्मार्जन में इन अध्यायों को २२वें एवं २३वें अध्यायों की संख्या से

उद्धृत किया गया है। इस प्रकार समराङ्गण के मौलिक अध्यायों में १८वें अध्याय तक पहुँचे। परन्तु बीच में दो अध्याय रह गये हैं—राज-निवेश नामक १५वां अध्याय तथा वन-प्रवेश नामक १६वां अध्याय। हम पहले ही भवन की त्रिविधा पर संकेत कर चुके हैं—जन-भवन, राज-भवन तथा देव-भवन। विकास की दृष्टि से राज-भवन और देव-भवन ऐतिहासिक दृष्टि से बाद के विकास हैं। अतः राज-भवन भारतीय स्थापत्य के अनुसार साधारण-जनोचित भवन-निवेश से एक विलक्षण संस्था है। अतः उसका मूल्याङ्कन प्रासाद-निवेश में होगा। वैसे तो प्रासाद का पारिभाषिक अर्थ वास्तु-शास्त्र की दृष्टि से मन्दिर अर्थात् देव-भवन है परन्तु वाङ्मय में 'प्रासादो देवभूभुजाम्'—अमरकोष की परम्परा और व्यावहारिक दृष्टि से तथा कला की अलंकृत शैली के अनुरूप राज-भवन और देव-भवन पर हम साथ-साथ प्रतिपादन करेंगे। अतः राज-निवेश का यह अध्याय इस भवन-खण्ड में असंगत है। आगे राज-निवेश सम्बन्धी अन्य अध्याय भी हैं—जैसे राज-गृह (३०वां), राजोचित शयनासन (२९वां), राजक्रीडार्थ यन्त्रादि (३१वां), राजोचित आयतनादि (५१वां)—ये अध्याय राज-निवेश के अङ्ग होने के कारण तत्रैव प्रतिपाद्य होंगे। अश्वशाला, गजशाला, सभा आदि के तत्तद-ध्याय भी प्रासाद-निवेश में विवेच्य एवं व्यवहार्य होंगे। वन-प्रवेश यह अध्याय गृह्य-सूत्रों की दार्वाहरण अर्थात् वन से भवनादि के निर्माण में आवश्यक काष्ठादि की सामग्री के आहरण की परम्परा है, जिसका सम्बन्ध भवन-रचना से है। अतः जब तक भवन के प्रकारों (चतुःशालादिदश-शालान्त साधारण जनावास) का निर्णय और विधाओं का वर्गीकरण नहीं बताया जाता तब तक रचना का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः यह अध्याय भवन-निवेश में द्वितीय सोपान के रूप में परिकल्पित किया जायगा।

अस्तु इस उपोद्घात के अनन्तर अब हम इस अध्ययन के चतुर्थ पटल पर थोड़ी-सी अध्याय-सम्बन्धी समीक्षा करेंगे—

चतुर्थ पटल—भवन-निवेश

भवन-निवेश पर समराङ्गण में, लेखक की दृष्टि से, १६ अध्याय हैं जिनको हम निम्नलिखित कोटियों में विभाजित कर सकते हैं—

क. भवन-प्रकार—चतुश्शालादिदशशालान्त भवन;

ख. भवन-द्रव्य एवं भवनाङ्ग;

ग. भवन-रचना;

घ. भवन-भूषा;

ङ. भवन-दोष, भवनाङ्ग-दोष, वेध-दोष एवं भङ्गादि-दोष तथा

च. भवन-शान्ति।

अतएव इसी वैज्ञानिक दृष्टि से हमने भवन-निवेश के इस चतुर्थ पटल में समराङ्गण के निम्नलिखित अध्यायों का निम्नलिखित रूपसे संमार्जन किया है—

परिमार्जित संख्या	अध्याय-शीर्षक	मौलिक संख्या
२४.	चतुश्शाल-विधानम्	१९
२५.	निम्नोच्चादि-फलम्	२०
२६.	द्वासप्तति-त्रिशाल-लक्षणम्	२१
२७.	द्विशाल-गृह-लक्षणम्	२२
२८.	एक-शाल-लक्षणम्	२३
२९.	द्वार-पीठ-भित्ति मानादिकम्	२४
३०.	समस्तगृहाणां संख्या-कथनम्	२५
३१.	वन-प्रवेश:	१६
३२.	गृह-द्रव्य प्रमाणम्	२८
३३.	चय-विधि:	४१
३४.	अप्रयोज्य-प्रयोज्यनानि	३४
३५.	द्वार-गुण-दोषा:	३९
३६.	द्वार-भङ्ग-फलम्	४३
३७.	तोरण-भङ्गादि-शान्तिकम्	४६
३८.	गृह-दोष-निरूपणम्	४८
३९.	शान्ति-कर्म-विधि:	४२

लेखक का समराङ्गणीय अध्ययन—

हमने अपने वास्तु-शास्त्रीय अध्ययन में निम्नलिखित १० ग्रन्थों की योजना १९५४ ई० में बनाई थी और महामाया की कृपा से १९६४ में समाप्त करने की कामना की है। भारतीय-वास्तु-शास्त्र के सामान्य शीर्षक में हिन्दी व संस्कृत के ग्रन्थों की योजना थी। कालान्तर में ३ बृहदाकार ग्रन्थ अंग्रेज़ी में भी उद्भावित हुए। दोनों की तालिका निम्न रूप से उद्धृत है।—

१. वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश;
२. भवन-निवेश;
३. प्रासाद-निवेश;
४. प्रतिमा-विज्ञान;
५. प्रतिमा-लक्षण;

६. यन्त्र एवं चित्र;
७. समराङ्गण का अनुवाद प्रथम भाग;
८. समराङ्गण का अनुवाद द्वितीय भाग;
९. समराङ्गण-वास्तु-कोष प्रथम भाग तथा
१०. समराङ्गण-वास्तु-कोष द्वितीय भाग।

यह योजना १० वर्ष पूर्व बनी थी और उसमें प्रथम, चतुर्थ एवं पञ्चम ग्रन्थ पूर्णरूप से उत्तरप्रदेश राज्य की सहायता से प्रकाशित हो चुके हैं। साथ-ही-साथ उत्तरप्रदेश राज्य की सहायता से प्रासाद-निवेश का उपोद्घात अर्थात् हिन्दू-प्रासाद की चतुर्मुखी पृष्ठ, भूमि—वैदिकी, पौराणिकी, लोकधर्मिणी तथा राजाश्रया—और चित्र-लक्षण ये दो पुस्तकें भी प्रकाशित हो चुकी हैं। भारतीय स्थापत्य के नाम से एक वृहदाकार ग्रन्थ भी लिखा जा चुका है जो उत्तरप्रदेश राज्य की हिन्दी-समिति प्रकाशित कर रही है।

अवशेष ग्रन्थों के प्रकाशन की नवीनीकरण की योजना से छः ग्रन्थों पर भारत सरकार के शिक्षा-सचिवालय से प्रतिश्रुत अनुदान-साहाय्य से यह प्रकाशन पुनः संचालित किया जा रहा है —

१.	समराङ्गण सूत्रधार	प्रथम भाग	प्रथम खण्ड	भवन-निवेश —अध्ययन एवं अनुवाद
२.	,,	,,	द्वितीय खण्ड	मूल एवं वास्तु-पदावली
३.	,,	द्वितीय भाग	प्रथम खण्ड	प्रासाद-निवेश—अध्ययन एवं अनुवाद
४.	,,	,,	द्वितीय खण्ड	मूल तथा वास्तु-शिल्प-पदावली
५.	,,	तृतीय भाग	प्रथम खण्ड	यन्त्र एवं चित्रादि कलाएँ अध्ययन एवं अनुवाद।
६.	,,	,,	द्वितीय खण्ड	मूल एवं वास्तु-चित्र-पदावली

यतः अनुदान की राशि बड़ी स्वल्प थी अतः वास्तु-कोष अब सचिवालय के विचाराधीन है। आशा है, वह किसी अन्य प्रकार से पार लगेगा।

इस भाग का विषय भवन-निवेश है। अतः इस अध्ययन में भवन-निवेश के सिद्धान्तों, विन्यास-प्रक्रियाओं, रचना-शैलियों एवं अन्य तत्सम्बन्धी अङ्गों पर एक उपोद्घात प्रस्तुत करना परमावश्यक है।

भवन-निवेश की प्रथम इकाई अथवा प्रथम अङ्ग वास्तु है। इस अङ्ग के

दो पक्ष हैं—एक औपचारिक एवं दूसरा पारिभाषिक अथवा वैज्ञानिक। प्रथम पक्ष में भारतीय संस्कृति की प्राचीन परम्परा के अनुरूप वास्तु-चयन एवं वास्तु-प्रकल्पन के साथ-साथ शोधन, कर्षण, अङ्कुरारोपण, बलिदान, होम, शान्ति, माङ्गलिक, आयादि-विचार, शिला-न्यास आदि-आदि कर्म विहित होते हैं। यद्यपि इन्हें तथा-कथित धार्मिक-कृत्य के रूप में आजकल लोग लेते हैं परन्तु वास्तव में इनके अन्तस्तम में भी बड़ा विज्ञान भरा है। उदाहरण के लिए शोधन से वास्तु-क्षेत्र के चयन में शल्योद्धार के द्वारा वास्तु-भूमि न केवल मनोरम वरन् पवित्र भी बन जाती है। बीज-वपन अथवा अङ्कुरारोपण से वास्तु-भूमि की प्रवर्धन-शीलता का प्रत्यक्ष अनुमान होता है। इसी प्रकार अन्य विधियाँ जैसे—वास्तु-देवता-पूजन, वास्तु-देवता-बलि, वास्तु-पुरुष-प्रतिष्ठा, वास्तु-होम, वास्तु-शान्ति एवं माङ्गलिकादि कृत्यों द्वारा भवन-निर्माण-कार्य एक वैयक्तिक चिकीर्षा नहीं रह जाती वरन् सामाजिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक संस्था बन जाती है। जन-कल्याण के लिए तथा सभी भूतों की तुष्टि के लिए और सर्वत्र व्याप्यमान सनातन चैतन्य के संस्मरण के लिए ये सभी कृत्य बड़े ही लोकोपकारी एवं जनानुरञ्जक हैं।

अब आइये वास्तु के पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक पक्ष की ओर—

वास्तु-शास्त्र (Science of Architecture) के मूलाधार—

हमने अपने अंग्रेजी के ग्रन्थ वास्तु-शास्त्र प्रथम भाग में वास्तु-शास्त्र के पाँच निम्नलिखित मौलिक सिद्धान्तों का निरूपण किया है जो किसी भी निवेश के लिए अनिवार्य हैं—

१. वास्तु-पद-विन्यास;
२. दिक्सांमुख्य अर्थात् प्राची-साधन या शङ्कु-स्थापन;
३. मान या हस्त-लक्षण;
४. आयादि-षड्-वर्ग तथा
५. पताकादि-षट्-छन्दस्।

अस्तु, ऊपर के उपोद्घात के अनुरूप पहले वास्तु-पद-विन्यास जो किसी भी निवेश (पुर, भवन, प्रासाद) का प्रथम मौलिक अङ्ग है, उस पर थोड़ा-सा प्रवचन आवश्यक है। वास्तु-पद-विन्यास एक प्रकार से आजकल का पौरोहित्य कर्म रह गया है और इसका वैज्ञानिक मर्म पण्डितों एवं ज्योतिषियों की मण्डलियों में भी सर्वथा विलुप्त हो गया है।

१. वास्तु-पद-विन्यास—

वास्तु-पद-विन्यास अथवा वास्तु-पुरुष-मण्डल आजकल की भाषा में भवन का नक्शा अथवा 'साईट प्लेनिङ्ग' के रूप में समझा जा सकता है। आज कल जो भी बिल्डिङ्ग बनती है उसका नक्शा पास कराना पड़ता है और नक्शा किसी इञ्जिनियर अथवा आर्किटैक्ट से बनवाना पड़ता है। इसी प्रकार प्राचीन काल में भी भवन-निर्माण के पूर्व भवन की योजना अर्थात् 'साईट-प्लान' या 'हाऊस-प्लान' बनवाना अनिवार्य अङ्ग था। भारतीय स्थापत्य की संज्ञा अष्टाङ्ग है। इस अष्टाङ्ग का प्रथम अङ्ग वास्तु-पुरुष-विकल्पन है। वास्तु-पुरुष-विकल्पन अर्थात् वास्तु-पुरुष-मण्डल या वास्तु-पद-विन्यास ये सभी संज्ञाएँ भवन की योजना के रूप में परिकल्प्य हैं।

भारतीय स्थापत्य का जन्म वैदिक यज्ञ-वेदी से प्राप्त हुआ। यज्ञ में यज्ञ-पुरुष की कल्पना के द्वारा ही प्राचीन याग की त्रिविधा—द्रव्य, देवता, त्याग अर्थात् किसी देव-विशेष के निमित्त किसी द्रव्य-विशेष का त्याग अर्थात् आहुति इसी त्रिविधा पर भारतीय याग-संस्था का विकास हुआ। पुनः वैदिक यज्ञ-वेदियों विशेषकर चितियों का निर्माण एक विशेष प्रक्रिया एवं सिद्धान्त से निष्पन्न होता था। अतएव भूमि-चयन, भूमि-शोधन, इष्टिका-कर्म, इष्टिका-चयन आदि-आदि वैदिक यज्ञ-वेदियों के अनिवार्य अङ्ग थे। उन्हीं के आधार पर कालान्तर में भवन-निर्माण के या किसी भी वास्तु-विनिवेश के ये अनिवार्य अङ्ग प्रकल्पित किये गये। यज्ञ के प्रधान अङ्गों में वेदिका-निर्माण एवं चिति-चयन के साथ-साथ यूप-स्थापन भी एक अनिवार्य अङ्ग था। इन यूपों की स्थापना कालान्तर में केन्द्रीय स्तम्भ के स्थापन की अग्रजा बनी। भवन-जन्म की कथा में (देखिये सहृदेवाधिकार) शाल-भवन का प्रधान अङ्ग, वृक्ष की शाखाओं एवं पत्तियों का छाद्य था, पुनः वृक्ष के तने की ही प्रतिकृति पर केन्द्रीय स्तम्भ की कल्पना की गई।

प्राचीन वास्तु-कला के इन अङ्गों का सम्बन्ध वास्तु-कला की व्यावहारिक प्रक्रिया एवं कलात्मक आचरण की ओर संकेत करता है जिसे हम वास्तु-शास्त्रीय पारिभाषिक अथवा वैज्ञानिक पक्ष में परामर्श कर सकते हैं। प्राचीन-वास्तु-कला का आध्यात्मिक एवं धार्मिक पक्ष भी बोधगम्य है। ऋग्वेद में जो मन्त्र वास्त्वारम्भ के लिए प्रयुक्त होता था उसकी परम्परा आज भी अक्षुण्ण है। पुनः ऋग्वेद के नाना देवों में वास्तोष्पति के भी पूर्ण दर्शन होते हैं। यही वास्तोष्पति आगे चल कर वास्तु-पुरुष में प्रचलित हुआ। वास्तु-शास्त्रीय

मूल्याङ्कन में वास्तु-पुरुष की यह परिकल्पना भारतीय स्थापत्य-कला को साधारण कला से उठाकर एक महनीय दर्शन में बिठा देती है। उपनिषदों के आत्मा और परमात्मा, बिन्दु और सागर, पुरुष और विराट् पुरुष अथवा नर और नारायण एक ही हैं। वे ही इष्टिका, पाषाण, मृत्तिका, काष्ठ आदि की कला में भी पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हुए। भारतीय स्थापत्य में इस महनीय दर्शन का बोध हमें प्रासाद-वास्तु के प्रत्येक अंग में प्राप्त होता है जिसका उद्घाटन हम प्रासाद-खण्ड में करेंगे।

अस्तु, यहाँ पर इस उपोद्घात का इतना ही मर्म अपेक्षित था कि वास्तु-पुरुष की विकल्पना के अन्तर्तम में कला और दर्शन दोनों छिपे हैं। कला की दृष्टि से वास्तु-पद-विन्यास भवन का नक्शा है। दर्शन की दृष्टि से यह भवन की रक्षा है और भवन-निवासियों के कल्याण के लिए एक जीवन-दर्शन है।

वास्तु-पुरुष की स्थापना एक मण्डल में की जाती है। यह मण्डल निवेश्य भूमि का तादात्म्य है। वास्तु-पुरुष की विकल्पना समस्त निवेश्य भू-भाग पर प्रकल्पित की जाती है और वह एक प्रकार से औंधा लेटा हुआ दिखाई पड़ता है। (देखिये वास्तु-पुरुष का चित्र पृ० सं० ३४—अनुवाद)। पुनः वास्तु-पुरुष-मण्डल इस समस्त भूमण्डल के समान चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ रखता है। अतः साथ-ही-साथ यह मण्डल वर्गों में विभाजित होता है। वैसे तो इसके नाना विभाजन हैं और उनकी नाना संज्ञाएँ हैं, परन्तु व्यवहार के लिए नगर, भवन, प्रासाद के निवेश में प्रयोज्य जो वास्तु-पद हैं उनमें एकाशीति-पद-वास्तु, चतुष्षष्टि-पद-वास्तु तथा शत-पद-वास्तु ये ही तीन विशेष उल्लेख्य हैं। अतः इनका मण्डलीकरण वर्ग पर आश्रित है जैसे ८१=९×९; ६४=८×८; १००=१०×१०—(देखिए इनके मण्डल पृष्ठ संख्या ८३, ८९, तथा ९६)। इन प्रत्येक वर्गों (अर्थात् ८१ में ८१, ६४ में ६४, १०० में १००) का कोई-न-कोई अधीश्वर देव नियत है। बहुत से देव एक से अधिक पदों के मालिक हैं। जैसे ८१ पद-वास्तु में केन्द्रीय देवता ब्रह्मा ९ पद के भोग का भागी है। उसी प्रकार मित्र, वरुण आदि ६, ६ पदों के भागी हैं। अब रहे दिशाओं एवं विदिशाओं के कोणों के पदों के अधीश्वर-देव, वे १ या २ या १½ पदों के मालिक हैं। यह सब विवरण इन वास्तु-पदों के रेखा-चित्रों में द्रष्टव्य है। परन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि वास्तु पुरुष-मण्डल अथवा वास्तु-पद-विन्यास को जब हम भवन का रेखा-चित्र अथवा नक्शा मानते हैं तो इन देवों की इसमें उद्भावना का क्या रहस्य अथवा मर्म है? यह प्रश्न बड़ा ही गम्भीर

एवं जटिल तो है ही परन्तु बड़ा ही विशद तथा वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक भी है। इसकी विस्तृत व्याख्या हमने अपने अंग्रेज़ी ग्रन्थ Vāstu-Śāstra Vol. I (See Fundamental Canons) में की है। उसका सारांश यह है कि प्राचीन वास्तु-उपदेशक आचार्य वैदिक ऋषि थे। वे मन्त्रद्रष्टा तो थे ही तत्त्वावगन्ता भी थे। अतः बिना आधुनिक भौतिक-शास्त्रीय यन्त्रों के भी उन्हें सूर्य-रश्मि-सिद्धान्त के पूरे अविकल विवरण ज्ञात थे। ये सभी देव सूर्य-रश्मि-जाल की पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं जिनका भवन अथवा प्रासाद-निवेश में दिक्-सांमुख्य (Orientation) के अनुकूल प्रतिष्ठित किया गया। उदाहरण के लिए प्रधान दो दिशाओं—प्राची एवं प्रतीची के अधीश्वर देव ईश तथा अग्नि हैं। ईश की व्याख्या यदि आप वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों एवं तत्सम्बन्धी अन्य वाङ्मय में पढ़ें तो वह बड़ा ही बोधक प्रतीत होगा। इसी प्रकार अग्नि के रूप तथा उसकी शक्तियाँ, उसकी ज्वालाएँ आदि भी बड़ी ही विशद हैं। ये सभी सौर-मण्डलीय-वर्ण-पट्ट (Spectrum) के बोधक एवं प्रतीक तथा उपलक्षण हैं। अतः वास्तु-पुरुष-मण्डल एक बड़ा ही वैज्ञानिक शास्त्र है जो दर्शन तथा विज्ञान को एक स्तर पर लाकर पल्लवित करता है—यही भारत की बड़ी अनुपम विभूति है।

अथ च वास्तु की उत्पत्ति, वास्तु-नाग, वास्तु-छागासुर आदि के जो पौराणिक आख्यान साहित्य में मिलते हैं उनमें भी यही व्याख्या देखने को मिलेगी। पुनश्च कोई भी कृति बिना योजना के सम्पन्न नहीं होती। वास्तु, पहले ही बताया जा चुका है कि, वस्तु से निकला है। अतः इस सृष्टि के लिए वास्तु उसी प्रकार परमोपादेय है जिस प्रकार सृष्टि—'वास्तु ब्रह्मा ससर्जादौ विश्वमप्यखिलं तथा'। विश्व-सृष्टि के प्रथम वास्तु की सर्जना हुई। ब्रह्मा मानसी सृष्टि का कर्ता है परन्तु विश्वकर्मा उस सृष्टि को नियोजन के द्वारा निर्मिति में अवतरित करता है। अतः जगत्-कर्ता ब्रह्मा और जगत् के आवास-योग्य स्थानों, पुरों, पत्तनों, नगरों, ग्रामों, दुर्गों के कर्ता विश्वकर्मा और उसके प्रतिनिधि शिल्पी हैं। यही वास्तु-प्रतिष्ठा और वास्तु-पुरुष-विकल्पना का मर्म है।

वास्तु-पद-विन्यास पर इस किञ्चित्कर प्रवचन के उपरान्त निवेश्या-निवेश्य पर भी थोड़ा सा प्रकाश डालना उचित है।

वास्तु-पद-विन्यास में वास्तु-पुरुष-विकल्पना अनिवार्य रचना है। अतः जब पुरुष की कल्पना है तो पुरुषाङ्गों की कल्पना अनायास ही आ जाती है। जिस प्रकार मानव-शरीर के विभिन्न अवयवों में मूर्धा, शीर्ष, मुख, हृद्, कटि जानु, पाद, सिरा, अनुसिरा, वंश, नाडी आदि-आदि होते हैं उसी प्रकार वास्तु-

पुरुष-विकल्पना में भी इनकी उद्भावना की जाती है। अतः किस अवयव पर कौन-सा निवेश्य विहित है और किस अवयव पर अविहित है—यह ज्ञेय है। जैसे मर्म आदि पर कोई निवेश्य उचित नहीं, अतः वह त्याज्य है। अतएव वह स्थान खुला रक्खा जाता है। कौन-सा भवन-भाग किस देव-विशेष के पद पर विन्यस्य है यह सब ज्ञान वास्तु-पद-विन्यास के बोध से ही सम्पन्न होता है।

वास्तु-पद-विन्यास से सम्बन्धित समराङ्गण में ४ अध्याय हैं। उनके अवलोकन से एतद्विषयक विवरण समझे जा सकते हैं। अतः इस उपोद्घात में इस स्तम्भ पर इतना संकेत पर्याप्त है।

२. शङ्कु-स्थापन—प्राची-साधन

अब आइये वास्तु-शास्त्र के मूलाधार-पञ्चक के द्वितीय मौलिक सिद्धान्त पर भी थोड़ी सी अवतारणा करें। वास्तु-शास्त्र एवं शिल्प-शास्त्र के ग्रन्थों में शङ्कु-स्थापन-शीर्षक अध्याय में भवन-विशेष अथवा प्रासाद-विशेष, या विमान-विधान में दिक्सांमुख्य के निर्धारण अथवा प्राची-साधन में शङ्कु की स्थापन-प्रक्रिया अपनाई जाती है। इस प्रक्रिया से निवेश्य भूमि-भाग अर्थात् वास्तु-पद की दिशाओं का निर्णय किया जाता है। यह एक यान्त्रिक प्रक्रिया है। शङ्कु एक प्रकार की काष्ठ-यष्टिका है जो किसी वृक्ष-विशेष के काष्ठ से निर्मित होता है। यह लम्बाई में २४, १८ अथवा १२ अङ्गुल होता है और इस की चौड़ाई नीचे से क्रमशः ६, ५, ४, अङ्गुल होती है और यह चौड़ाई नीचे से ऊपर कम होती जाती है। एक सलिल-स्थल के केन्द्र पर शङ्कु की स्थापना की जाती है। पुनः एक मण्डल शङ्कु के नीचे भाग को केन्द्रित करके खींचा जाता है और उस मण्डल का 'अर्घव्यास' इसकी लम्बाई से दुगुना होता है। दो बिन्दु चिह्नित किये जाते हैं जहां पर शङ्कु की, मध्याह्न के पूर्व और उपरान्त की परछाईं मण्डल की परिधि को मिलाती है। पुनश्च जो रेखा इन दोनों बिन्दुओं को मिलाती है वह प्राची और प्रतीची रेखा मानी जाती है। इसके उपरान्त पूर्व व प्रतीची के बिन्दुओं से इन दोनों की दूरी को 'अर्घव्यास' मानकर एक दूसरा मण्डल किया जाता है। दो बिन्दु जो इनको काटते हैं वे इस मत्स्याकार रेखा के शीर्ष और पुच्छ के रूप में प्रकल्पित होते हैं और वे ही दोनों बिन्दु उत्तर और दक्षिण के बोधक होते हैं। इसी प्रकार विदिशाओं की भी उद्भावना की जाती है।

प्राचीन स्थापत्य में दिक्-सांमुख्य भवन के लिए अनिवार्य परम्परा है। यह देश सनातन से ही प्राची दिशा का पोषक रहा है क्योंकि प्राची में ही

भगवान् भास्कर उदित होते हैं। प्रातःकालीन सूर्य के रश्मि-जाल का उपभोग भारतीय विश्वास में बड़ा ही स्वास्थ्यकर माना जाता है। अतः भवन-विन्यास ऐसा होना चाहिए कि प्रातः होते ही सूर्य की रश्मियों का उद्दाम उपभोग भवन-सम्मुखीन अलिन्द-प्रकोष्ठ में अनायास सम्पन्न हो सके। यह व्यावहारिक निरूपण है। जिस प्रकार से हमने वास्तु-पद-विन्यास में दार्शनिक दृष्टि की ओर थोड़ा सा संकेत किया था उसी प्रकार यह सिद्धान्त भी दर्शन की आभा से प्रद्योतित है। भारतीय दर्शन में पृथ्वी की सतह सूर्योदय एवं सूर्यास्त से प्रकल्पित की जाती है अर्थात् क्षितिज पर जहाँ सूर्योदय होता है उसे पूर्व कहते हैं एवं क्षितिज पर जहाँ सूर्यास्त होता है उसे प्रतीची कहते हैं। इसी प्रकार दक्षिण एवं वाम पर दक्षिण और उत्तर की प्रकल्पना की जाती है। वैसे तो यह कहा जाता है कि पृथ्वी गोल है परन्तु भारतीय परम्परा में यह वर्ग है। ऋग्वेद १०. ५८. ३ में इसे चतुर्भृष्टि कहा गया है। इस सम्बन्ध में अन्य विवरण हमारे वास्तु-शास्त्र—भाग प्रथम पृष्ठ १८०-८५ में द्रष्टव्य हैं।

३. मान अथवा हस्त-लक्षण

अब वास्तु-शास्त्र के तीसरे मौलिक सिद्धान्त अर्थात् हस्त-लक्षण पर थोड़ा-सा विचार करना आवश्यक है। सभ्यता के आदि काल में मान का काम हस्त और अङ्गुलों से लिया जाता था और कालान्तर में भी काष्ठ-निर्मित गजों एवं फुटों की संज्ञा हस्त ही रही और उनके भागों को अङ्गुल के नाम से ही पुकारा जाता था। किसी भी वास्तु-विन्यास के लिए नाप की परम उपादेयता है। मान के सम्बन्ध में तो शास्त्र में बड़ा सूक्ष्म एवं विशद विचार है। अव्यक्त व्यक्त में मान के बिना परिणत नहीं किया जा सकता। निराकार ब्रह्म को साकार ईश्वर में परिणत करने का श्रेय माया को है। माया ही इस जगत् की मूलशक्ति है। बिना मान के कोई भी धाम सम्पूर्ण नहीं हो सकता है। मयाचार्य का कथन है—

'मानं धाम्नस्तु सम्पूर्णं जगत्सम्पूर्णता भवेत्'

समराङ्गण के लेखक का भी उद्घोष है—

'प्रमाणे स्थापिता देवाः पूजार्हाश्च भवन्ति ते'

हमारी परम्परा में तो किसी भी कला-कृति की रमणीयता का आधार वास्तव में शास्त्र-मान ही है। लिखा भी है—

'शास्त्रमानेन यो रम्यः स रम्यो नान्य एव हि'

बात यह है कि वस्तु से वास्तु बनता है। उसी प्रकार जब द्रव्य से कोई

कृति बनती है तो वह बिना मान के निष्पन्न नहीं होती। अतएव एक शब्द में वास्तु एवं मेय एक ही हैं और ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं। समराङ्गण-सूत्रधार के लेखक ने ठीक ही लिखा है—

'यच्च येन भवेद् द्रव्यं मेयं तदपि कथ्यते'

मानों की संज्ञाएँ और प्रकार नाना हैं। भवन-मान और प्रतिमा-मान भिन्न-भिन्न हैं। मान, प्रमाण, उन्मान, आदिमान, तालमान आदि नाना पारिभाषिक शब्द हैं। इनकी विस्तृत परिभाषा यहाँ अनावश्यक है। जिज्ञासु पाठक हमारे ग्रन्थ का परिशीलन करें—Hindu Canons of Iconography and Painting Vāstu-śāstra—Vol II.— जहाँ तक इस स्तम्भ की पोषक सामग्री का सम्बन्ध है वह हस्त-लक्षण नामक अध्याय में पठनीय है जिस से मान का सामान्य ज्ञान अवश्य हो सकेगा। वास्तु-शास्त्र के तीन मूलाधारों पर प्रवचन हो चुका है। अब शेष दो आयादि-षड्-वर्ग एवं पताकादि-षट्-छन्दस् पर भी थोड़ा-सा उपोद्घात आवश्यक है।

४. आयादि-निर्णय—

आयादि—षड्-वर्ग यथा-नाम—आय, व्यय, अंश, ऋक्ष, योनि तथा वार-तिथि के समूह की पारिभाषिक संज्ञा है। वैसे तो आयादि-षड्वर्ग की वास्तु-शास्त्रीय एवं अवास्तु-शास्त्रीय दो प्रकार से व्याख्या की जा सकती है। डा० आचार्य के वास्तु-कोष में इनको षडङ्ग-परिभाषा की संज्ञा से पुकारा गया है जो भवन के विन्यास के मानाङ्ग अथवा मानाधार हैं। उन्हें एक प्रकार से षडङ्ग-मान अथवा षडङ्ग-अवयव जैसे अधिष्ठान, पाद, स्तम्भ, प्रस्तर, करण, शिखिर, अथवा स्तूपी—ये भवन के, विशेषकर प्रासाद अथवा विमान के, षडङ्ग हैं। परन्तु इनकी व्याख्या जो वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में मिलती है वह कुछ विलक्षण है। ऋक्षा अथवा तारा, वार, तिथि, आय, व्यय, अंशादि ये सब ज्योतिष-शास्त्र के भी विषय हैं, जो लग्न-साधन में उपादेय माने जाते हैं। किसी भी भवन-विधान के लिए आयादि-विचार परमावश्यक है। आय अष्टाङ्ग माना जाता है जैसे—ध्वज, धूम, सिंह, श्वा, वृष, खर, कुञ्जर और ध्वाङ्क्ष। इसी प्रकार व्यय त्र्यङ्ग में परिकल्पित किया गया है—पिशाच, राक्षस तथा यक्ष। इन्द्र, यम, तथा राजा अंशत्रय की गणना में हैं। ताराओं के रेवती, स्वाति आदि सुरगण, राक्षसगण, मानवगण इस त्रिगण से प्रायः हम सभी परिचित हैं। तीनों गणों की ९-९ ताराएँ मिल कर २७ होती हैं। अब रही योनि—यह विशेष विचारणीय है। योनि वास्तव में भवन का प्राण है। मनुष्या-

लय-चन्द्रिका में लिखा है—

'योनिः प्राणा एव धाम्नां यदस्माद्
ग्राह्यस्तत्तद्योग्ययोनिप्रभेदाः'

योनि और आय का सम्बन्ध बड़ा घनिष्ठ है और ये तथाकथित पाराव आय वास्तव में आठ वास्तु-पुरुष हैं। हम पूर्व संकेत कर चुके हैं कि वास्तु-पुरुष-मण्डल तथा प्राची-साधना या शङ्कु-स्थापना दोनों ही भवन के दिक्-सांमुख्य की साधना करते हैं। इसी प्रकार से आयादि-निर्णय विशेषतया योनि-निर्णय भी भवन के दिक्-सांमुख्य अथवा ओरियेंटेशन का विधायक है।

योनि की अष्टधा का कारण आठ दिशाएँ हैं। ध्वज-पूर्व, धूम-दक्षिण-पूर्व, सिंह-दक्षिण। इसी प्रकार अन्य योनियों की भी परिगणना की जा सकती है। भवन, विमान अथवा प्रासाद की नाप को हमें आठ से भाग देना चाहिये, जो शेष होता है वही उसकी दिशा का संकेत करता है। यदि शेष एक है तो वह पहली अर्थात् ध्वज-योनि का संकेत करता है, जो पूर्व की आधायिका है। इसी प्रकार यदि शेष की संख्या दो है तो भवन का दिक्-सांमुख्य दक्षिण-पूर्व निष्पन्न होगा, क्योंकि दो का संकेत दूसरी योनि धूम से होगा। वास्तु-विदों का कथन है कि सम-संख्यक योनियाँ शुभप्रद हैं और विषम-संख्यक अशुभप्रद। इस प्रकार ध्वज, सिंह, वृषभ और गज शुभ हुईं और धूम्र, श्वा, खर, और ध्वाङ्क्ष अशुभ।

वास्तु-शास्त्र एक प्रकार से ज्योतिष एवं गणित शास्त्र का समन्वित-विज्ञान या उप-शास्त्र (Allied Science) है। अतएव वास्तु-शास्त्रियों ने आयादि की निम्न प्रकार से गणना-परिभाषाएँ बना रखी हैं—

मानसारीय		तन्त्र-समुच्चयीय	
(१)	$\frac{\text{ल} \times \text{८}}{\text{१२}}$ — शेष = आय	(१)	$\frac{\text{प} \times \text{३}}{\text{८}}$ — शेष = योनि
(२)	$\frac{\text{चौ} \times \text{६}}{\text{१०}}$ — ,, = व्यय	(२)	$\frac{\text{प} \times \text{३}}{\text{१४}}$ — शेष = व्यय अथवा $\frac{\text{प} \times \text{६}}{\text{१०}}$ — ,, = ,,
(३)	$\frac{\text{ल} \times \text{८}}{\text{२७}}$ — ,, = ऋक्षा	(३)	$\frac{\text{प} \times \text{८}}{\text{१२}}$ — ,, = आय

(४) $\frac{\text{चौ} \times ३}{८}$ — „ = योनि (४) $\frac{\text{प} \times ८}{२७}$ — „ = ऋक्षा

(५) $\frac{\text{प} \times ९}{७}$ — „ = वार (५) $\frac{\text{प} \times ८}{३०}$ — „ = तिथि

(६) $\frac{\text{प} \times ९}{३०}$ — „ = तिथि (६) $\frac{\text{प} \times ८}{७}$ — „ = वार

$\frac{\text{प} \times ८}{२७}$ —भजनफल=वयस

टि०—ल=लम्बाई; चौ=चौड़ाई; प=परिधि।

यह प्रथम ही प्रतिपादित किया जा चुका है कि आयादि-षड्-वर्ग का भवन की मान-व्यवस्था के साथ-साथ उसके दिक्-सांमुख्य के साथ भी उसका अनिवार्य सम्बन्ध है। वास्तु एवं शिल्प अथवा प्रस्तर (पाषाण-कला, प्रतिमा-कल्पन) दोनों में इनका प्रयोग आवश्यक है। मानसार-शिल्प-शास्त्र के अनुसार लम्बाई अथवा लम्बमान आय अथवा ऋक्षा के द्वारा परीक्षित किया जाता है। चौड़ाई को व्यय और योनि से तथा परिधि और ऊँचाई को वार और तिथि से परिनिष्ठित किया जाता है। बात यह है कि शास्त्रों में भवन अथवा प्रतिमा के निर्माणों में विभिन्न एवं नाना-विध मान-प्रकार प्रतिपादित हैं तो प्रश्न यह उठता है कि कौन-सा मान-प्रकार अधिकृत-मान माना जावेगा ?

अतएव आयादि-षड्-वर्ग के द्वारा जो मान सुनिश्चित हो वही मान अधिकृत-मान माना जावेगा।

५. पताकादि-षट्-छन्दस्—

'छन्द' शब्द से हम परिचित हैं। छन्द का सम्बन्ध पद्यमय रचना से है। अत: वास्तु-विधान में छन्द का क्या मर्म है—यह एक बड़ा ही मनोरञ्जक एवं सुन्दर विषय है। जिस प्रकार भाषा में छन्द की योजना से प्रबन्ध की गति एवं लय से एक अपूर्व रसास्वाद का आनन्द प्राप्त होता है; उसी प्रकार से भवन-निर्माण में छन्दोयोजना उसको काव्य में परिणत कर देती है और इस प्रकार वास्तु-कला एक यान्त्रिक कला न रह कर मनोरम-कला में पदार्पण कर जाती है। मान की इयत्ता, पूर्णता और प्रधानता पर हम कुछ संकेत पीछे कर ही चुके हैं। अत: जिस प्रकार मान-व्यवस्था से भवन अथवा मूर्ति का विन्यास परिनिष्ठित कला के रूप में निखर उठता है, उसी प्रकार छन्दोयोजना से भवन का बाह्यरूप निखर उठता है। एक पद्यमय रचना के श्रवण से ही हम उसके छन्द का ज्ञान कर लेते हैं। एक सुन्दर गीत सुन कर हम उसके छन्द, लय,

गति आदि का ज्ञान कर लेते हैं। उसी प्रकार यदि भवन के बाह्यरूप को देख कर हमें पता चल जाय कि यह देव-भवन है या राज-भवन है, यह विष्णवायतन है अथवा शिवायतन है, सूर्यायतन या चण्डिकायतन है या जैन-मन्दिर है, साधारण विद्यालय है या विश्वविद्यालय है, पुस्तक-शाला है कि नाट्य-शाला है, आयुध-शाला है या पशुशाला है, जन-भवन है या विशिष्ट-भवन है—यदि हमें यह ज्ञान हो जाय तो यही भवन का छन्द-निर्णय है। आजकल हम देखते हैं कि एक विश्वविद्यालय में तथा एक फैक्ट्री में कोई अन्तर नहीं दिखाई देता। इसका कारण यह है कि आधुनिक वास्तु-कला में छन्द का कोई महत्व नहीं। वास्तु-छन्द एक प्रकार से व्याकरण का "इत्थंभूतलक्षणे" सूत्र की व्याख्या है। यथा जटाओं को देखकर हम तापस की अभिज्ञा करते हैं, उसी प्रकार हमें भवन को देखकर उस की अभिज्ञा होनी चाहिए कि वह शिवालय है या विद्यालय है। वास्तु-शास्त्र में पताकादि ६ छन्द माने गये हैं—मेरु, खण्डमेरु, पताका, सूची, उद्दिष्ट तथा नष्ट। इनमें अन्तिम दो वास्तव में छन्द नहीं वल्कि छन्दाभास हैं। वे एक प्रकार से गुरु-लघु-प्रस्तार के विधायक हैं। इसका हम आगे भवन-योजना में विचार करेंगे। यहाँ पर पहले के चार छन्दों पर थोड़ा-सा प्रकाश डालना परमावश्यक है। मेरु छन्द पृथिवी के रूप को ग्रहण करता है और मेरु पर्वत का सादृश्य ग्रहण करता है तथा शराब की आकृति में बनता है। यथा नाम यह एक पर्वत-प्रतिकृति है। इस प्रकार उत्तुङ्ग विमान, प्रासाद या भवन जैसे जावा का बोरोबुदर (बहु-बुध) साक्षात् मेरु-छन्द है। खण्ड-मेरु यथा नाम अर्ध-पर्वत-प्रतिकृति है। यह एक प्रकार का अर्धवृत्त है और इस छन्द-प्रकार में बहुसंख्यक द्राविड़ विमानों की रचना हुई है। पताका छन्द यथा नाम लम्बी रचना है। फतेहपुर सीकरी का अन्तःकक्ष, अर्थात् दिवाने-खास के अन्तःकक्ष की रचना इसी छन्द में हुई। एक दण्ड में पताका बाँध कर उसे खोल दिया जाय तो वह छत्राकार धारण करती है। उसी प्रकार यह रचना विश्व-विश्रुत है। सूची-छन्द यथानाम सूची के समान निर्मित भवन होता है, जैसे राजस्थान के कीर्ति-स्तम्भ तथा ध्वज-स्तम्भ इसी छन्द के उदाहरण परिकल्प्य हैं।

वास्तु-शास्त्र का अष्टाङ्ग—

समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र में स्थापत्य को चतुर्धा तथा अष्टाङ्ग (दे० मौ० अ० ४४-४५ परिमा० अ० ८-९) कहा गया है। चतुर्धा स्थापत्य से स्थपति (वास्तु-कोविद) की योग्यता से तात्पर्य है—शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा तथा शील (देखिए हमारा भारतीय-वास्तु-शास्त्र, वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश—स्थपति

एवं स्थापत्य अ० ६ पृ० ६६-७४) तथा अष्टाङ्ग स्थापत्य से तात्पर्य—

१. वास्तु-पुरुष-विकल्पन,
२. पुर-निवेश—द्वार-गोपुर-रथ्या – मार्ग – प्राकार–अट्टालक–प्रतोली–स्थान-विभाग (जन-भवन, देवायतन, पुर-जन-विहार आदि-आदि)—निवेश,
३. प्रासाद (मन्दिर-निर्माण),
४. ध्वजोच्छ्रिति—इन्द्रध्वजोत्थान,
५. राजवेश्म तथा राजवेश्म से सम्बन्धित नाना अन्य राजोचित भवन—सभा, अश्व-शाला, गज-शाला आदि-आदि,
६. जन-भवन (जाति एवं वर्णों के अनुरूप बस्तियाँ एवं भवन—Folk-planning),
७. यज्ञ-वेदी, यजमान-शाला एवं कोटिहोम-विधि, तथा
८. राज-शिविर-विनिवेश एवं दुर्ग-रचना।

यह शास्त्रीय अष्टाङ्ग है परन्तु आधुनिक नयी दृष्टि से हमने भारतीय-वास्तु-शास्त्र के व्यापक क्षेत्र के अनुरूप निम्न अष्टाङ्ग उद्भावित किया है—

१. वास्तु-विद्या का उद्गम, उसके प्रवर्तक आचार्य एवं परम्पराओं के साथ-साथ प्रतिनिधि ग्रन्थ एवं वाङ्मय,
२. वास्तु-शास्त्र के मौलिक सिद्धान्त,
३. पुर-निवेशोपक्रम एवं पुर-निवेश के नानावयवीय प्रक्रियाएँ एवं प्रक्रम,
४. भवन-निवेश,
५. राज-निवेश,
६. प्रासाद-निवेश,
७. प्रतिमा-निवेश तथा
८. चित्र-निवेश।

इस अष्टाङ्ग में परवर्ती चतुष्टय इस अध्ययन के विषय नहीं हैं, वे अन्यत्र प्रतिपाद्य हैं। पूर्ववर्ती चतुष्टय में प्रथम एवं तृतीय स्तम्भों का पूर्ण प्रविवेचन हमारे भारतीय-वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश नामक प्रथम ग्रन्थ में द्रष्टव्य है। वास्तु-शास्त्र के मूलाधारों पर हम ऊपर थोड़ा बहुत प्रतिपादन कर ही चुके हैं। अब रहा भवन-निवेश, जो इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है, उसकी अवतारणा करनी है।

भवन-निवेश की प्रधान विषय-तालिका—

भवन-निवेश की विषय-तालिका निम्न प्रकार से प्रविभाजित की जा सकती है—

(क) प्रथम कृत्य जैसे—भूमि-चयन, भूमि-परीक्षा, शोधन, कर्षण एवं वास्तु-पद-विन्यास, मानादि, प्राची-साधन, आयादि-निर्णय आदि-आदि;
(ख) भवन-प्रकार अथवा भवन-विधा;
(ग) भवन-जन्म तथा भवन की प्रतिकृति—शालाएँ;
(घ) भवन-नियोजन अर्थात् 'भवन-प्लान' और 'बिल्डिंग बाईलाज़';
(ङ) भवन-द्रव्य एवं भवन-चय-विधि;
(च) भवन-अङ्ग;
(छ) भवन-भूषा अर्थात् योज्यायोज्य-व्यवस्था तथा भवन-सज्जा;
(ज) भवन-दोष—वेधादि, भङ्गादि।

इनमें भवन के प्राथमिक कृत्यों पर हमने पीछे वास्तु-शास्त्र के मूलाधारों के स्तम्भ में चर्चा कर ली है। अब भवन-प्रकार पर भी थोड़ा-सा संकेत करना अभीष्ट है। हम यह प्रतिपादित कर चुके हैं कि भारतीय भवन-विधा अनेक-विधा है। भवन मुख्य रूप से त्रि-विधा में परिकल्पित किया जा सकता है—जन-भवन, राज-भवन, देव-भवन। राज-भवन में ही नानावर्गीय सरकारी इमारतें 'पब्लिक-बिल्डिंगस्' तथा अन्य व्यावहारिक एवं उपकारी इमारतें आती हैं। ये सब देव-भवन और राज-भवन में प्रतिपाद्य हैं। यहाँ जन-भवन से साधारण-जनोचित भवन-विन्यास अर्थात् 'सिविल या सैक्युलर आर्किटैक्चर' से मन्तव्य है। समराङ्गण-वास्तु-शास्त्र इस रचना का सर्वप्रख्यात, सर्वश्रेष्ठ, सर्वाधिकृत एवं वरिष्ठ ग्रन्थरत्न है। पुराणों में विशेषकर मार्कण्डेय-पुराण में शाल-भवन का वर्णन है। परन्तु वहाँ एकमात्र कथा-प्रतिपादन है। शास्त्र में उसका पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक पूर्ण विवेचन है। इस स्तम्भ पर हम थोड़ा-सा पहले भी संकेत कर चुके हैं। अत्र हमें यहाँ शाल-भवन की योजना पर विशेष ध्यान देना है।

शाल-भवन-नियोजन—

शाल-भवन के मुख्य चार प्रकार हैं—एक-शाल, द्वि-शाल, त्रि-शाल तथा चतुश्शाल। इन्हीं चारों के द्वारा आगे के छे प्रकार जैसे—पञ्च-शाल, षट्-शाल, सप्त-शाल, अष्ट-शाल, नव-शाल तथा दश-शाल भवनों की संयोजना

होती है। इनके अपने-अपने अलग-अलग नाना भेद-प्रभेद भी होते हैं। उदाहरण के लिए एक-शाल-भवन-भेदों पर दृष्टिपात करें। पहले ध्रुवादि षोडश भेद होते हैं, पुनः इन्हीं में **अलिन्द-विन्यास-वैचित्र्य, साधारण-षड्दारु-कल्पना** तथा **विशेष-षड्दारु-कल्पना** (जैसे शाला के सम्मुख, शाला के मध्य, शाला के अन्त आदि) एवं अन्य परिष्कारों के द्वारा नाना भेदोपभेद निष्पन्न होते हैं।

इसी प्रकार द्वि-शाल के यद्यपि यमसूर्यादि छे प्रमुख प्रकार हैं परन्तु उनके अपने-अपने नाना उपभेद भी हैं। त्रि-शाल की संख्या बहत्तर है और चतुश्शालों की दो-सौ-छप्पन। ये सब ग्रन्थ के अनुवाद में तत्तदध्यायों में द्रष्टव्य हैं।

यहाँ पाठकों के साधारण ज्ञानार्जन के लिए विशेष प्रतिपाद्य अभीष्ट प्रश्न यह है कि शाल-भवन की 'प्लानिङ्ग' में मूलाधार क्या है? सनातन से हमारे देश में भवन का सर्वप्रमुख अङ्ग आङ्गन रहा है जो सूर्य के समान सभी चतुर्दिक् वातावरण को प्रभावित करता रहता है। अतः इस प्रधान अङ्ग को इकाई मानकर जो चारों ओर निवेश्य शालाएँ प्रकल्पित की जाती हैं उसी से एकशालादि-दशशालान्त भवन निष्पन्न होते हैं।

शाला आजकल की भाषा में एक लम्बा निवेश है जिसे बड़ा कमरा या हॉल कह सकते हैं। यदि एक ही ओर शाला का विन्यास हो तो वह एक-शाल भवन कहलाता है, दो ओर द्वि-शाल, तीन ओर त्रि-शाल तथा चारों ओर चतुश्शाल। अब आगे के पञ्चशालादि दश-शालान्त भवनों के विन्यास के लिए एक ही आङ्गन या 'कोर्ट' से काम नहीं चलेगा अतः इनके विन्यास में कम-से-कम तीन आङ्गनों या 'कोर्टों' की आवश्यकता होती है। शाल-भवनों के इन्हीं विशिष्ट प्रकारों पर, लेखक की दृष्टि में, राज-हर्म्यों का निवेश आधारित हुआ होगा। प्राचीन एवं मध्यकालीन भारतीय राज-भवनों की सर्व-प्रमुख विशेषता इन्हीं आङ्गनों या 'कोर्टों' की विधा है। रामायण आदि प्राचीन ग्रन्थों में तथा पूर्व-मध्यकालीन ग्रन्थों जैसे बाणभट्ट-रचित कादम्बरी एवं हर्षचरित, में भी जो राज-भवनों का वर्णन मिलता है उनमें यही प्रमुख विशेषता है। अतः कोई भी राज-भवन हो उसके विन्यास का आधार आङ्गन या 'कोर्ट' है जो ३ से ७ तक जाते हैं। उत्तर-मध्यकालीन मुग़ल 'पैलेसेज़' की भी यही गाथा है। उनकी भी निर्मिति कक्ष्याओं (कोर्टस्) पर ही आश्रित थी। दिवाने-आम तथा दिवाने-खास (बहिःकक्ष एवं अन्तःकक्ष) वास्तव में बाहरी और भीतरी आङ्गन या कक्ष्याएँ हैं। युवराज राम के भवन में तीन ही कक्ष्याएँ थीं, परन्तु सम्राट् दशरथ के महल में पाँच कक्ष्याएँ थीं। इसी प्रकार महाराज हर्ष का महल तीन कक्ष्याओं वाला था, परन्तु कादम्बरी के तारापीड के महल में सात

कक्ष्याएँ थीं। मुग़ल महलों में यद्यपि आपाततः दो ही (अन्तर् एवं बाह्य) कक्ष्याएँ प्रतीत होती हैं परन्तु वास्तव में उनकी अपनी-अपनी अन्य और उप-कक्ष्याएँ थीं, अन्यथा इतनी सज-धज, शान-शौक़त कैसे विनिविष्ट की जा सकती थी। अस्तु, ये सब विवरण राज-निवेश में प्रतिपाद्य हैं। यहाँ पर इनकी अवतारणा का मुख्य प्रयोजन यह है कि पाठकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट करें कि इन्हीं विशिष्ट शाल-भवनों से ही राज-भवन का विकास हुआ। जहाँ तक राज-वेश्म की रचना-विच्छित्तियों, अलंकृतियों जैसे नाना भूमियाँ, वितानाकृति, शिखरालङ्करण, लुमादि-चित्रण एवं मण्डपादि-सन्निवेश तथा सभा-भवनादि इन सब का प्रश्न है, वे सब प्रासाद-स्थापत्य के अग्रज हैं कि अनुगामी यह ऐतिहासिक दृष्टि से ही निर्धारित किया जा सकता है जो प्रासाद-निवेश में विवेच्य होगा।

शाल-भवन के इस प्रधान अवयव के अनन्तर अब अन्य प्रधान अङ्गों पर भी संकेत अभीष्ट है। शाल-भवन के तीन ही प्रधान अङ्ग हैं—आङ्गन, शाला तथा अलिन्द। अलिन्द से तात्पर्य बरामदे से है। प्रत्येक शाल-भवन में यह त्र्यङ्ग अनिवार्य हैं। उपाङ्गों की संख्या संख्यातीत है। ग्रन्थ के नगरादि-संज्ञा, भवन-द्रव्य-प्रमाण, द्वार-गुण-दोष, द्वार-भङ्गादि-फल, शान्तिक-विधि, तोरण-भङ्गादि-शान्तिक एवं गृहदोष-निरूपण नामक इन अध्यायों में भवन के अङ्गों एवं उपाङ्गों की लम्बी सूची मिलेगी जो इस देश में जन-वास्तु—'सिविल आर्किटेक्चर'—के जन्म एवं महाविकास पर बड़ा भारी प्रमाण प्रस्तुत करती है। इन अध्यायों के परिनिष्ठित अध्ययन के द्वारा भारतीय जन-भवन-निवेश के विशद विज्ञान एवं पारिभाषिकत्व का पता लगाया जा सकता है।

शाल-भवन-विनियोजना का मुख्याधार गुरु-लघु-प्रस्तार है। गुरु-लघु-प्रस्तार में गुरु शाला का बोधक है तथा लघु शालेतर अलिन्द का बोधक है। यह प्रस्तार दो या अनेक संख्यायों में प्रकल्प्य है। एकाध प्रस्तारों की अवतारणा यहाँ अभीष्ट होगी। निम्न तालिकाओं पर दृष्टिपात करें—

चार गुरुओं का प्रस्तार—

१. S S S S
२. I S S S
३. S I S S
४. I I S S
५. S S I S
६. I S I S
७. S I I S
८. I I I S
९. S S S I
१०. I S S I

११. ऽ । ऽ । १४. । ऽ । ।
१२. । । ऽ । १५. ऽ । । ।
१३. ऽ ऽ । । १६. । । । ।

परिणाम—

अलिन्द सं०	भवन सं०	प्रस्तार में संख्याङ्क
०	१	१
१	४	२, ३, ५, ९
२	६	४, ६, ७, १०, ११, १३
३	१	८, १२, १४, १५
४	१	१६

सार—चार गुरुओं के प्रस्तार से षोडश वेश्म निष्पन्न होते हैं जिनमें कहाँ अलिन्द और कहाँ शाला—यह ऊपर की तालिका से विभाव्य है। इस पारिभाषिक एवं गणितमय प्रस्तार पर श्री मानकद ने 'अपराजित-पृच्छा' की भूमिका में सविस्तर उल्लेख किया है। पाठक यह विस्तार वहीं पढ़ें।

शाल-भवन-संज्ञा—अस्तु, शाल-भवन के अध्यायों में जिन-जिन भेदों एवं उपभेदों का परिगणन है उनकी एक बहुत बड़ी संख्या है जिसको पढ़कर ये भेद पर्याय-मात्र प्रतीत होते हैं। उदाहरणार्थ द्विशाल-भवनों के भेदों को पढ़िये (दे०—अनुवाद)—इनका क्या मर्म है? शुभ एवं अशुभ उपादान ही वर्ज्यावर्ज्य, योज्यायोज्य, ग्राह्याग्राह्य व्यवस्था के परिचालक हैं। अतः अशुभों के लिये अशुभ संज्ञाएँ एवं शुभों के लिये शुभ संज्ञाएँ विहित हुईं।

'बिल्डिग बाईलाज़'—

भारतीय भवन-विनियोजना की तीसरी प्रक्रिया आधुनिक भाषा में 'बिल्डिग बाईलाज' के रूप में ली जा सकती है। भवन का निर्माण कब करना चाहिए, भवन का द्वार किस दिशा में रखना चाहिए, निवास-भवन में कितनी भूमिकाएँ होनी चाहिएँ एवं नीचे से ऊपर कितनी भूमियों पर किस प्रकार के द्वार रखने चाहिएँ, साधारण-जनावास-योग्य भवनों में कौन-सी भूषाएं, प्रतिमाएँ और विच्छित्तियाँ योज्य हैं कौन-सी अयोज्य, भवन का किसी अन्य द्रव्य से वेध होने पर या भवन के अथवा भवनाङ्ग के भङ्ग से क्या-क्या अशुभ आपतित होते हैं—ये सब प्राचीन वास्तु-विद्या के 'बिल्डिङ्ग बाईलाज' ही समझने चाहिएँ। इनकी विस्तृत व्याख्या तत्तद्-अध्यायों में ही द्रष्टव्य है।

एक-शालादि दश-शालान्त शाल-भवनों का नियोजन भी एक प्रमुख विषय है जिस पर हम पहले कुछ संकेत कर आये हैं; वह भी यहाँ पर अवतारणीय है। शाल-भवनों के दस वर्ग हैं; उनमें प्रथम चार मौलिक हैं और इन्हीं के पारस्परिक संयोजन से अन्य पञ्च-शालादि दश-शालान्त भवन-विन्यास होते हैं। निम्न तालिका द्रष्टव्य है—

पञ्च-शाल—१. द्विशाल तथा त्रिशाल संयोग।
२. चतुश्शाल और एकशाल संयोग।

षट्-शाल—१. द्विशाल, एकशाल तथा त्रिशाल संयोग।
२. त्रिशाल और त्रिशाल संयोग।
३. द्विशाल तथा चतुश्शाल संयोग।

सप्त-शाल—१. दो त्रिशाल तथा एकशाल संयोग।
२. एक त्रिशाल तथा चतुश्शाल संयोग।
३. एकशाल, द्विशाल तथा चतुश्शाल संयोग।

अष्ट-शाल—१. अन्तःचतुश्शाल तथा बाह्य चतुश्शाल संयोग।
२. दो त्रिशाल तथा एक द्विशाल संयोग।

नव-शाल—१. दो सम-चतुश्शाल तथा एक एक-शाल संयोग।
२. दो विषम चतुश्शाल तथा एक एक-शाल संयोग।
३. त्रिशाल, त्रिशाल, त्रिशाल संयोग।

दश-शाल—१. दो सम-चतुश्शाल तथा एक द्विशाल संयोग।
२. तीन समत्रिशाल तथा एक एक-शाल संयोग।
३. दो सम-त्रिशाल और एक चतुश्शाल संयोग।

भवनाङ्ग—विन्यास की दृष्टि से हम भवनाङ्गों पर ऊपर कुछ विचार कर ही चुके हैं जैसे शाला तथा अलिन्दादि। अब क्रम-प्राप्त भवन-निर्माण में जो भारतीय-कला के विशेष उपादेय हैं उन पर विचार करना परमावश्यक है। भवन-रचना में पीठ, द्वार, स्तम्भ, कुड्य एवं छाद्य विशेष विचारणीय हैं। भारतीय स्थापत्य के मुकुटमणि द्वार एवं स्तम्भ हैं। द्वार की स्थापना एक विशेष पद पर विहित है। द्वाराङ्गों में उदुम्बर अर्थात् 'लिंटल' तथा शाखाएँ अर्थात् 'डोर-फ्रेम्स' और कपाट (द्वार-पक्ष, कपाट-पुट, पक्ष, विधान, वरण, द्वार-संवरण) के साथ-साथ अर्गला, कलिका, कुञ्ची आदि पारिभाषिक अङ्ग एवं उपाङ्ग हैं। शाखाओं को देवी, नन्दिनी, सुन्दरी आदि मनोरम संज्ञाएँ दी गई हैं। विच्छित्ति-विशेष के कारण शाखाओं के अपने अलग प्रकार परिकल्पित किये गये हैं। जैसे रूप-शाखा, खल्व-शाखा आदि-आदि। रूप-शाखा से तात्पर्य किसी

देव-प्रतिमा अथवा मानव-प्रतिमा की चित्रण-विच्छित्ति से है। खल्व-शाखा किसी लता-विशेष की विच्छित्ति-विशेष का रूप है। आजकल तीन शाखाओं से काम चल जाता है, परन्तु प्राचीन स्थापत्य में द्वार में पांच शाखाएँ होती थीं। निम्न रेखा-चित्र से यह उद्भाव्य है—
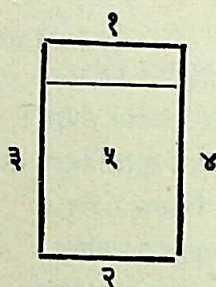
द्वार की कितनी ऊँचाई होनी चाहिए, कितना विस्तार होना चाहिए तथा उसके कितने पारिभाषिक भेद हैं, जैसे उत्सङ्ग, हीन-बाहु, पूर्ण-बाहु आदि तथा द्वारों के गुण क्या हैं और दोष क्या हैं ? इसी प्रकार द्वारों पर कौन-सी भूषा-व्यवस्था होनी चाहिए ? द्वार-वेध तथा द्वार-भङ्ग के साथ-साथ द्वाराङ्गों के वेध एवं भङ्ग से क्या-क्या अशुभ आपतित होते हैं ये सब विवरण तत्तद् अध्यायों में ग्रन्थ-कलेवर में द्रष्टव्य हैं (दे०—अध्याय शीर्षक 'गृह-द्रव्य-प्रमाण', 'द्वार-गुण-दोष', 'द्वार-भङ्ग-फल', 'गृह-दोष-निरूपण' तथा 'अप्रयोज्य-प्रयोज्य')। इसी प्रकार भवन-स्तम्भ, तल-न्यास एवं भूततिलकादि छाद्य आदि पर पूर्ण विवरण, ग्रन्थ-कलेवर में द्रष्टव्य है (अध्याय-शीर्षक—'नगरादि-संज्ञा' तथा 'गृह-द्रव्य-प्रमाण' आदि-आदि)।

भवन-द्रव्य—

अब क्रम-प्राप्त भवन-द्रव्य पर विचार आवश्यक है। द्रव्य शब्द समराङ्गण-सूत्रधार वास्तु-शास्त्र में पारिभाषिक शब्द है जिसका अर्थ भवनाङ्ग है जैसे द्वार एवं स्तम्भ आदि-आदि। परन्तु यहाँ पर द्रव्य का अर्थ व्यापक दृष्टि से भवन के निर्माण में नाना द्रव्यों से है। प्रासाद अथवा विमान की रचना में दारु, मृत्तिका, इष्टिका, पाषाण, सुधा, लोह, रजत, ताम्र, कांस्य, पित्तल, सुवर्ण एवं रत्न आदि सभी की परिगणना है। परन्तु साधारण जन-निवासों के लिए जब पाषाण वर्ज्य है (दे० शिलास्तम्भं शिलाकुड्यं नरावासे न योजयेत्) तब रजत आदि बहुमूल्य द्रव्यों की योजना का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः यहाँ पर द्रव्य से दारु का ही अभिप्राय है जो शाल-भवन का प्रमुख निर्माण-द्रव्य है।

भवन-निर्माण में अथवा प्राचीन काल की आर्य-परम्परा में दार्वाहरण एक अत्यन्त प्राचीन संस्था है। सूत्र-ग्रन्थों में इस संस्था पर बड़े प्रकृष्ट प्रवचन मिलते हैं जैसे—वन से किस लग्न में, किस दिशा से तथा किन-किन वृक्षों से निर्माणार्थ दारु-आहरण करना विहित है। इसी प्राचीन संस्था को समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र में वन-प्रवेश के नाम से संकीर्तित किया गया है। तदनुरूप वन-प्रवेश अध्याय में वन से भवन-निर्माण-निमित्त दारु-आहरण की बड़ी ही वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक पद्धति प्रतिपादित की गई है। वन-प्रस्थान के लिए कौन-सा नक्षत्र, राशि आदि विहित हैं और किस लग्न में वृक्षों को काटना-चीरना, फाड़ना और वन में प्रवेश करना उचित है—इस सम्बन्ध में पूर्ण प्रतिपादन तत्रैव द्रष्टव्य है। पुनः वन में भवन के निर्माण के लिए किस अवस्था का वृक्ष और कौन-से वृक्ष प्रशस्त माने गये हैं—इन सब की परीक्षा पर विचार किया गया है। किन-किन स्थानों पर उगे हुए वृक्षों को वर्ज्य बताया गया है और बाल एवं वृद्ध वृक्षों को भी क्यों वर्ज्य बताया गया है, शाल-वृक्ष की क्या अवस्था मानी गई है और किस अवस्था का वह वृक्ष गृह-कर्म में प्रयोज्य है—ये सब विवरण प्राचीन काल के पारिभाषिक विज्ञान पर ओजस्वी प्रकाश डालते हैं। इसी प्रकार वृक्ष-प्रमाण-विज्ञान (जो द्रुम-छाया पर आधारित है और द्रुम-च्छाया सत्त्व-च्छाया पर आधारित है), वृक्ष-नक्षत्र-विज्ञान, वृक्ष-च्छेदन से पूर्व किस प्रकार की शान्ति के लिए स्वस्ति-वाचन एवं बलिदान आदि की व्यवस्था है—इन सब पर बड़े सुन्दर विवरण प्राप्त होते हैं। वृक्ष-च्छेदन-विधि के विवरणों को पढ़ कर यद्यपि आपाततः कपोल-कल्पनाएं सी प्रतीत होती हैं परन्तु यदि इस विषय का पुष्ट अध्ययन किया जाय तो वह बड़ा ही पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक सिद्ध होगा। निम्न प्रवचन विशेषरूप से पठनीय है (दे०—'वन-प्रवेश' ३२ से ३७½ तक अनुवाद)। अन्त में वृक्ष-मण्डल पर बड़े ही सार-गर्भित एवं वैज्ञानिक विवरण प्राप्त होते हैं। मण्डल का वृक्ष की 'रिङ्ग' से तात्पर्य है जिनके नाना रङ्ग होते हैं जैसे मञ्जिष्ठाभ, कपिलाभ, पीताभ इत्यादि। किस रङ्ग में कौन-सा जन्तु गर्भित है—ये सब पूर्ण विवरण इस अध्याय में उपलब्ध होंगे जो वहीं पर पठनीय हैं। विस्तार-भय से यहाँ विशेष चर्चा अनावश्यक है।

भवन-रचना—चय-विधि—

चयविधि से तात्पर्य चुनाई से है। पूर्व सूरियों ने (दे०—डा० आचार्य के ग्रन्थ) चय का अर्थ पीठ के रूप में गलती से लिया है। चय अथवा चेय

चुनाई को कहते हैं। राजस्थान की बोली में आज भी चुनाई को चेजा कहते हैं जो चेय का अपभ्रंश है। बात यह है कि समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तुशास्त्र को छोड़कर अन्य प्राप्त अथवा प्रकाशित किसी भी वास्तु-शास्त्रीय या शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थ में चेय-विधि का प्रतिपादन नहीं प्राप्त होता है। अतएव इस शब्द का अर्थ विद्वानों को भी बोधगम्य नहीं रहा। समराङ्गण-सूत्रधार के इस अध्याय की सामग्री को पढ़कर आजकल के इञ्जिनियर और वास्तुकला-कोविद् दांतों के तले अंगुलियाँ दबायेंगे कि प्राचीन भारत में चुनाई इतनी प्रौढ़, पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक थी। गर्व की बात नहीं संसार के किसी भी वाङ्मय में वास्तु के 'मैनुएल' अथवा 'कोड' में कहीं भी चुनाई के २० गुण नहीं मिलेंगे। इस अध्याय में चुनाई के २० गुणों जैसे—सुविभक्त, सम, चारु, चतुरश्र, असंभ्रान्त, असंदिग्ध, अकुब्ज, अपीडित, सन्धि-सुश्लिष्ट, सुप्रतिष्ठ आदि का वर्णन है—वे कितने वैज्ञानिक थे यह किसी भी विद्वान् पाठक से अप्रशंस्य नहीं रह सकता। चुनाई का ढङ्ग क्या है, चुनाई कैसे करनी चाहिए, विशेषत: दीवारों की चुनाई कैसी करनी चाहिए और उनकी चुनाई की किस प्रकार परीक्षा करनी चाहिए—ये सब बड़े ही प्रौढ़ प्रवचन इस अध्याय में मिलेंगे। चुनाई की कुछ पारिभाषिक संज्ञाएँ भी हैं—जैसे तनुमध्य, कूर्मोन्नत आदि-आदि। अन्त में चुनाई के सम्बन्ध में पाठकों का ध्यान २१ से लेकर ३२ श्लोकों तक के अनुवाद के परिशीलन की ओर विशेष रूप से दिलाना है।

भवन-भूषा—

इस उपोद्घात में हमने भारतीय स्थापत्य के मौलिक स्वरूप पर कुछ शब्द कहे हैं जिससे वास्तु, शिल्प एवं चित्र के अन्योऽन्याश्रय सम्बन्ध के अतिरिक्त पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध का क्या आधार था—यह हम जान चुके हैं। हमारे देश की कला उपलक्षणात्मक एवं प्रतीकात्मक होने के कारण साधारण जनावासों के निर्माण भी इन प्रतीकों एवं उपलक्षणों से स्वतन्त्र नहीं रह सके। प्राचीन स्थापत्य के छन्दोविज्ञान के मूलाधार पर ही यह प्रतीकात्मकता अथवा उपलक्षणात्मकता विकसित हुई। मेरु छन्द पर विन्यस्त-भवन पर्वताकृति में परिणत होकर शिखरों का बिना सहारा लिए कैसे रह सकता है? अत: प्राचीन राजहर्म्य एवं मन्दिरों के निर्माण में शिखरों एवं मञ्जरियों की नाना विच्छित्तियां जैसे—वितान, लुमा, पद्म-कोष, वेणु-कोष, अन्तर-पत्री, पद्म-पत्री, मूल-मञ्जरी, उरो-मञ्जरी आदि अनेक विच्छित्तियाँ पल्लवित हुईं। इन सब का विस्तृत विवेचन प्रासाद-स्थापत्य में आवश्यक होगा। यहाँ पर भवन-भूषा में विशेषकर

भवनवासी भवनपति की आस्था के अनुकूल और उसके सामाजिक एवं वैयक्तिक आचार-विचार के अनुकूल जो भूषाएँ प्रकल्प्य हैं उनके **अप्रयोज्य-प्रयोज्य** अध्याय में विवरण दिये गये हैं। भूषाओं के पूर्व भूष्यों की परिगणना की गई है। राज-हर्म्य, वणिग्-वेश्म, सभा, देव-कुल, शयन, आसन, पात्र, भाजन एवं आभरण आदि सभी भूष्य हैं; परन्तु यहाँ पर भूष्य से सम्बन्ध भवन से है। अतः आवास-भवन में कौन-कौन सी प्रतिमाएँ और प्रकृति के चित्रण, क्रीडाएँ अथवा जलादि-स्थलादि, वन, पुष्प, पादप, पशु, पक्षी आदि-आदि के चित्रों से इन भवनों को विभूषित करना चाहिए अथवा नहीं करना चाहिए—यह भव तत्रैव द्रष्टव्य है।

भवन-भूषा में सर्व-प्रधान भूषा जो परम्परा, विश्वास एवं आस्था के अनुकूल है वह है कुल-देवता। परन्तु वह एक हाथ के प्रमाण से अधिक नहीं बनानी चाहिए। दूसरी कोटि में द्वारालङ्करण आते हैं जिनमें दो प्रतिहार वेत्र-दण्ड लिए हुए, खड्ग एवं कोष आदि परिच्छेद को धारण किये हुए, रूपयौवन-सम्पन्न, विचित्राम्बर-विभूषित तो होने ही चाहिएँ, साथ-साथ वौनी, टेढ़ी, धात्री विदूषकों और कञ्चुकियों से अनुगत चित्र्य हैं। द्वार के दोनों ओर सुन्दरी प्रति-हारियों का चित्रण भी अभीष्ट है। कुल-देवता के साथ-साथ भवन की भूषा में एक विशेष स्थान देवी अष्ट-मङ्गला का है। उसी प्रकार गजों के द्वारा स्नापित गज-लक्ष्मी भी परमोपादेय है। अन्य उपकरणों में सवत्सा धेनु, पत्रलता, खेलते हुए कुमार, हँस, कारण्ड, चक्रादि पक्षि-विशेष, एवं सुन्दरी ललनाएँ, सुन्दर उद्यान-भूमियाँ, वसन्तादि-ऋतु, दीर्घिकाएँ, पान-भूमियाँ, पञ्जरस्थ शुक, चकोर एवं सारिकाएँ भवन की भित्तियों पर प्रशस्त चित्रण के योग्य मानी गई हैं।

बहुत से चित्र जो इस अध्याय में वर्णित किये गये हैं वे आवास-भवनों में प्रयोज्य नहीं हैं। यह विवरण यहाँ पर अभीष्ट नहीं है। अतः यह वर्णन ग्रन्थ-कलेवर में द्रष्टव्य है।

भवन-सज्जा—भवन-सज्जा का अर्थ आजकल की भाषा में भवन के फ़र्नीचर से है। भवन के फ़र्नीचर में प्राचीन काल में प्रधान रूप से शय्या, आसन, पादुका, पञ्जर, नीड़, दोला, द्रोणी, दीप-दण्ड, व्यजन, दर्पण, मञ्जूषा तथा तुला विशेष रूप से व्यवहार्य थे। राज-भवनों में सिंहासन तथा विनोदादि यन्त्र जैसे धारा-गृह, दोला-यन्त्र, सेवक-यन्त्र, आदि-आदि भी भवन-फ़र्नीचर के अङ्ग थे। इस अध्ययन में चित्र एवं यन्त्रादि शयनासनादि शिल्प नामक ग्रन्थ में हम यन्त्र पर विशेष विस्तार से विचार करेंगे। यहाँ पर साधारण जनावासों

के योग्य जो प्रधान रूप से प्रधान सज्जा का उल्लेख है उस पर थोड़ा सा विचार अभीष्ट है। समराङ्गण-सूत्रधार में इस स्तम्भ पर केवल दो ही अध्याय हैं—शयनासन-लक्षण तथा यन्त्राध्याय। यन्त्राध्याय की सामग्री का पूर्व-निर्देश के अनुसार आगे विवेचन होगा। यहाँ पर शय्यासन की सामग्री पर दृष्टिपात आवश्यक है। भारतीय वास्तु-शास्त्र का बड़ा ही व्यापक क्षेत्र है जिसमें पुर, भवन, प्रासाद के साथ-साथ मूर्ति-कला, चित्र-कला, यन्त्र-घटना तथा काष्ठ-कला भी समान रूप से अपना स्थान रखते हैं। शयनासन-विधान सब से बड़ा वैज्ञानिक निवेश है। जहाँ तक हो सके शय्या एक-दारुजा होनी चाहिए। द्विदारु-घटिता शय्या भी क्षम्य है और यह परम्परा आज भी पूर्णरूप से प्रचलित है। शीशम और शाखू इन दो ही लकड़ियों का हम शय्याओं के निर्माण में प्रयोग करते हैं। शयनासन-विधान की दूसरी विशेषता प्रशस्त वृक्षों का संग्रह और उनकी लकड़ियों की बड़ी पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक व्यवस्था है। शय्या-निर्माणार्थ जो लकड़ी हो उसमें छिद्र नहीं होने चाहिएँ। निष्कुट, कोल-दृक्, क्रोड-नयन, वत्सनाभक, कालक एवं बंधक, इस छिद्र-षट्क के नाममात्र से ही प्राचीनों के पारिभाषिक ज्ञान पर कितना प्रकाश पड़ता है इसमें दो रायें नहीं हो सकतीं।

शयन-विधान की तीसरी विशेषता शय्या का प्रमाण है जो सभी के लिए एक सा प्रतिपादित नहीं किया गया। राजाओं व प्रजाओं की शय्या में केवल महार्घता एवं अनर्घता का ही अन्तर न था बल्कि प्रमाण का भी अन्तर था। उत्तम, मध्यम, कनिष्ठ त्रि-भेद से राजाओं की शय्या १०२, १०४ तथा १०० अङ्गुल लम्बी होती थी। युवराज की शय्या ९०, मन्त्री की ८४, सेनापति की ७८ और पुरोहित की ७२ अङ्गुल लम्बी होती थी। और लम्बाई का आधा विस्तार अर्थात् चौड़ाई होती थी। इसी प्रकार से विप्रों की ७०, क्षत्रियों की ६२, वैश्यों की ६६, और शूद्रों की ६४ अङ्गुल लम्बी शय्या होती थी।

प्राचीन शयनासन-विधान की चौथी विशेषता यह थी कि शय्याओं की कारीगरी चरमोत्कर्ष पर थी जिसमें चांदी, सोना, हाथी-दांत और पीतल की जड़ावत एक बड़ा ही प्रशस्त कौशल था। शयनासन-आदि फ़र्नीचरों की हमारे शास्त्र में, पारिभाषिक शब्दावलि भी विकसित हो चुकी थी। ये पारिभाषिक शब्द ग्रन्थ-कलेवर में द्रष्टव्य हैं। ऊपर हम ने शयनासन के साथ दीपदण्ड, व्यजन आदि अन्य नाना भवन-सज्जा के उपकरणों पर भी निर्देश किया है। विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र तथा मानसार इन दो ग्रन्थों में एतत्सम्बन्धी सामग्री का विपुल प्रसार पाया जाता है। मानसार में इस भवन-सज्जा को भूषण-लक्षण-विधान नामक अध्याय में बहिर्भूषण की पारिभाषिक संज्ञा में

वर्णित किया गया है। इन बहिर्भूषणों में दीप-दण्ड, व्यजन, दर्पण, त्रिविध मञ्जूषा—काष्ठ, पर्ण एवं वस्त्र, दोला (जिसको आजकल की भाषा में पालकी कह सकते हैं), तुला (तराजू), पञ्जर तथा नीड़ जो मृगनाभि, विडाल, शुक, चाटक, चकोर, मराल, पारावत, नीलकण्ठ, कुञ्जरीय, खञ्जरीट, कुक्कुट, कुलाल, नकुल, तित्तिर, गोधा एवं व्याघ्र आदि के लिए प्रयोग किये जाते थे। शिल्प-रत्न एवं विश्वकर्मा वास्तुशास्त्र में पोतिका, तैल-द्रोणी, आदि व्यवहार्य उपकरणों पर भी सुन्दर प्रकाश मिलते हैं जिनका यहाँ विस्तारभय से इङ्गित-मात्र ही अभीष्ट है।

भवन-दोष—

भारतीय भवन-निर्माण के स्थापत्य-दोष पर बड़े ही विशद, विस्तृत, व्यापक, वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक विवरण मिलते हैं। भवन-दोषों की नाना कोटियाँ हैं। बहुत से दोष तो भवनाङ्गों की सुचारु, सुव्यवस्थित एवं परि-निष्ठित योजना के अभाव में आपतित होते हैं। द्वार-गुण-दोष नामक अध्याय में यह सामग्री पठनीय है। भारतीय स्थापत्य में बहुत से ऐसे भी सिद्धान्त विकसित हो गये हैं जिनका सम्बन्ध हिन्दुओं के रहस्यमय (मिस्टिक) अथवा धार्मिक विचारों से है। इनका सम्बन्ध भवनाङ्गों के भङ्ग और वेध से है। द्वार-वेध, स्तम्भ-वेध, तुला-वेध, कोण-वेध, कपाल-वेध आदि नाना वेध-वर्ग हैं और द्वार-गुण-दोष तथा द्वार-भङ्गफल-शान्तिक-विधि तथा गृह-दोष आदि अध्यायों में भङ्गों और वेधों की कितनी विपुल सामग्री है, वह वहीं पर पठनीय है।

भवनाङ्गों के इन वेधाश्रित एवं भङ्गाश्रित नाना दोषों के अतिरिक्त द्रव्य-सम्बन्धी, चेय-सम्बन्धी तथा शालादि, अलिन्दादि निवेश-सम्बन्धी आदि-आदि अनेक और भी दोष हैं जिनको पारिभाषिक संज्ञाएँ भी हैं जैसे—१. गृह-संघट्ट (ऐसा भवन जिसमें एक दीवार में दो शालाएँ हों), २. वलित, चलित, भ्रान्त, तथा विसूत्र आदि (दे० समराङ्गण-सूत्रधार ४८. ११-१२), ३. स्रावक, विकोकिल, सच्छत्र, सकक्ष, सपरिक्रम, सावश्याय, हीनबाहु, प्रत्यक्षाय, भिन्नदेह, छिन्न-वास्तुक, संक्षिप्त, मृदङ्गाकृति, मृदुमध्य आदि। ये पारिभाषिक दोष हैं। इसी प्रकार भवन-निर्माण के सामान्य दोषों की निम्नलिखित तालिका भी द्रष्टव्य है—

१—उच्चच्छाद्य
२—छिद्र-गर्भ
३—भ्रमित
४—वमित-मुख

५–हीन-मध्य
६–नष्ट-सूत्र
७–शल्य-विद्ध
८–शिरो-गुरु
९–अष्टालिन्द
१०–विषमस्थ
११–तुलातल
१२–अन्योऽन्य-द्रव्य-विद्ध
१३–कुपद-प्रविभाजित
१४–हीन-भित्तिक
१५–हीन-उत्तमाङ्ग
१६–विनष्ट-सूत्र
१७–स्तम्भ-भित्तिक
१८–भिन्न-शाल
१९–त्यक्त-कण्ठ
२०–निष्कन्द
२१–मान-वर्जित
२२–विकृत

अस्तु, समराङ्गणीय भवन-निवेश का यह अध्ययन, आशा है, आधुनिक पाठकों के मन में भारतीय वास्तु-शास्त्र के प्रति आस्था अवश्यमेव उत्पन्न करेगा तथा यदि उनका प्रोत्साहन मिला तो सरकार भी अपनी Architectural Policy में भारत के इस वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक शास्त्र का राष्ट्रीय नियोजन में उपयोग करेगी

इति दिक् ।

द्वितीय खण्ड

अनुवाद

प्रथम पटल
औपोद्घातिक

द्वितीय पटल
सामान्य (पारिभाषिक)

तृतीय पटल
पुर-निवेश

चतुर्थ पटल
भवन-निवेश

प्रथम पटल

(औपोद्घातिक)

१. वास्तु-शास्त्र-प्रतिष्ठा

वास्तु-त्रयी—
वास्तु-आधार—पृथ्वी
वास्तु-संरक्षक—पृथु
वास्तु-आचार्य—विश्वकर्मा

२. वास्तु-कला-प्रवर्तन

आद्यस्थपति—विश्वकर्मा एवं उसके मानस-सुतों के द्वारा स्थपति-कोटियों (Architect-guilds) एवं शिल्पि-वृन्दों का आविर्भाव

३. वास्तु-शास्त्र-विषय

वास्तु-शास्त्र में वास्तुकला (Architecture), प्रतिमा-कला (Sculpture) तथा चित्रकला (Painting) तीनों का विज्ञान-क्षेत्र

४. वास्तु एवं सृष्टि

आयोजन (Planning) तथा सृष्टि (Creation)

५. भारतीय वास्तु-विज्ञान का विशाल दृष्टिकोण

समस्त पृथ्वी वास्तु का विषय—अतएव भूगोल का अनिवार्य ज्ञान अभिप्रेत।

६. भूतल पर प्रथम भवन की जन्मकथा

७. वर्णाश्रम-धर्म तथा वास्तु-विनियोग

सूत्राष्टकम्
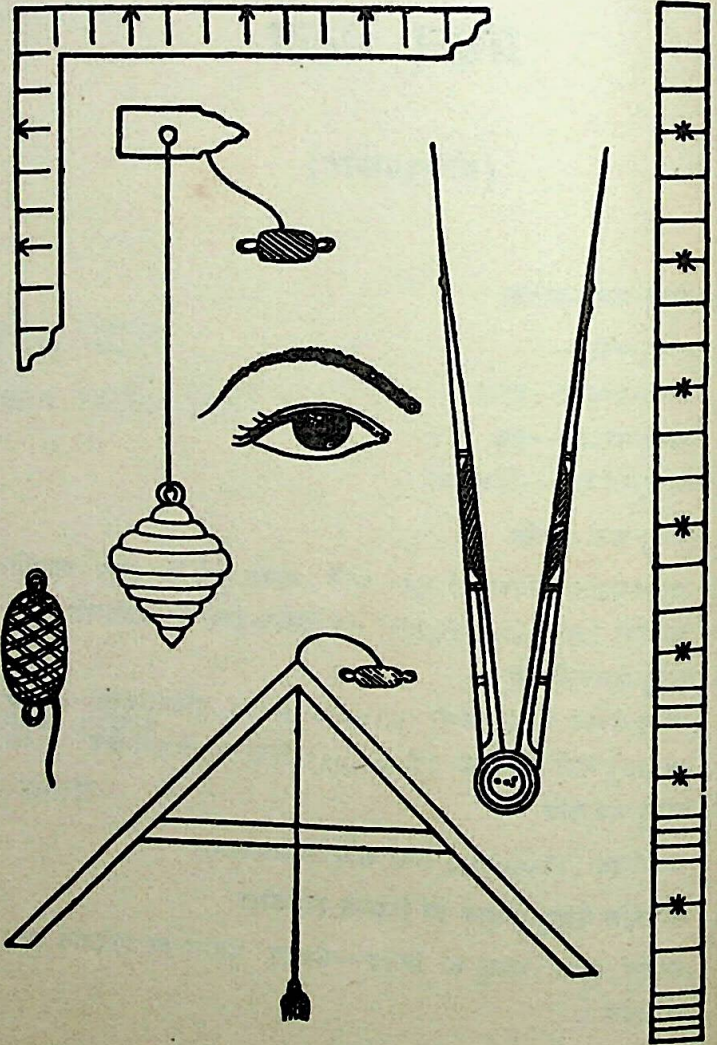
सूत्राष्टकं दृष्टिनृहस्तमौञ्जं कार्पासकं स्यादवलम्बसञ्ज्ञम् ।
काष्ठं च सृष्टयाख्यमतो विलेख्यमित्यष्टसूत्राणि वदन्ति तज्ज्ञाः ॥

महासमा (पृथ्वी) का आगमन

पूरे कारणों (समवायि, असमवायि तथा निमित्त) के विना भी जिन्होंने इस सम्पूर्ण विश्व का अविकल सृजन किया है, बालचन्द्र-कलिका से अङ्कित जूट-कोटि वाले वे[1] भुवनत्रय-सूत्रधार भगवान् (भूतनाथ शंकर) तुम लोगों की रक्षा करें ॥१॥

सुख, धन, ऋद्धि (समृद्धि), सन्तान आदि सभी नरों को प्रिय हैं। इनकी सिद्धि के लिए शुभोपादेयता अनिवार्य है। जो शुभोपादान नहीं हैं, वे इनका विघात करने वाले होते हैं अर्थात् अशुभों से सुखादि सिद्ध नहीं होते हैं। अतः उन सभी उपादेयों की आवश्यकता है, जो शुभ-लक्षण हैं ॥२-३॥

देश, पुर, निवास, सभा, वेश्म (भवन) तथा आसन आदि जो ऐसे ही उपादेय हैं, वे सभी श्रेयस्कर माने गये हैं। वास्तु-शास्त्र के विना इनका लक्षण (योग्यता) विनिर्णीत नहीं हो सकता, अतः लोकानुग्रह की भावना से इस शास्त्र (वास्तु-शास्त्र) का व्याख्यान किया जाता है ॥४-५॥

पुरानी बात है। महाराज पृथु के भय से विह्वल चकित-नयना पृथ्वी जगत् के जनक पद्मासन (ब्रह्मा) के पास दौड़ आई। प्रणति से विनत निखिल देवों के ईश्वर पितामह को प्रणाम कर गद्गद वाणी से भूत-धात्री पृथ्वी ने निवेदन किया—भगवन् ! महापराक्रमी एवं तेजस्वी इस पृथु के द्वारा सताई हुई मैं आपकी शरण में आई हूँ, कृपया मेरी रक्षा करें। पृथ्वी अपना दुखड़ा

---

१. शिल्प-ग्रन्थ की प्रस्तावना में लोकत्रय-शिल्पी ईश्वर के सृष्टि-रचना-वैचित्र्य के उपोद्घात के द्वारा इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने मंगल किया है। आस्तिक लेखकों के लिए सनातन काल से ग्रन्थारम्भ में मंगल एक अनिवार्य परम्परा रही है।

लोक में किसी कार्य (रचना) के लिए त्रिविध कारण अथवा साधन समवायि, असमवायि तथा निमित्त—यथा—घटकार्य में मृत्तिका (समवायि) चक्र (असमवायि) तथा कुलाल (निमित्त)—की कारणता की अपेक्षा होती है। यह कारण-कलाप कार्यमात्र के लिए साधारण है, परन्तु जगद्रूप-कार्य का ईश्वर ही उपादान तथा निमित्त है। यही रचना-वैचित्र्य है।

रो ही रही थी कि महाराज पृथु भी आ पहुँचे। पृथु ने अपनी घबराहट छोड़ पहले ब्रह्मा को प्रणाम किया, पुनः अपनी स्निग्ध-घोष एवं गम्भीर वाणी से हंसवाहन ब्रह्मा के यान-हंसों को मेघ-गर्जन की शंका में डालते हुए अपना निवेदन इस प्रकार प्रस्तुत किया—हे जगन्नाथ! आपके द्वारा ही तो मैं इस जगत् का अधिपति बनाया गया हूँ। और सभी भूतों (पृथ्वी आदि भूत एवं स्थावर, जंगम आदि) को आपने मेरे संरक्षण में सौंपा है। उन (भूतों) में, हे विश्वेश! बड़ी मुश्किल से जब यह वश में आई, तो मैं इसके व्यस्त (ऊबड़-खाबड़) पाषाण-समूहों (पर्वतों आदि) को ज्यों-ही अपने धनुष के द्वारा समीकरण में प्रयत्नशील हुआ, त्योंही यह गौ-रूप धारण कर भाग खड़ी हुई। इसके दोहन (खनिज आदि पदार्थ-अन्वेषण) की इच्छा से मैं बहुत काल से इसका अनुगमन कर रहा हूँ। जहाँ कहीं यह जाती है, वहाँ मुझे ही देखती है। जब इसको कहीं त्राण (शरण) नहीं दिखाई दिया, तो बिना दुहाए यह आपके पास आ खड़ी हुई है ॥६-१४॥

मुझे (आपके नियोग से) इस भू पर वर्णोचित एवं आश्रमोचित नाना-विध स्थान-विभागों का निवेश एवं निर्माण करना है और यह दुरवगाह्य एवं दुर्गम नाना पर्वत एवं पर्वत-कुलों से व्याप्त है, अतः इस पर स्थान-विभाग कैसे सम्पन्न होगा, इस शंका से मेरा मन आकुल हो रहा है ॥१५-१६½॥

महाराज पृथु से इस प्रकार विज्ञप्त भगवान् पद्म-भू ब्रह्मा ने भूमि को अभय-दान देकर महाराज को समझाते हुए उनसे कहा—हे राजन्! यह पृथ्वी तुम्हारे द्वारा विधिपूर्वक पालन किये जाने पर ही उपाय-निष्पन्न धान्यादि शस्यों द्वारा तुम्हारी भोग्या बनेगी और तुम्हारा जो स्थानादि-विनिवेशन कार्य अभीष्ट है, उसे त्रिदशाचार्य सर्व-सिद्धि-प्रवर्तक, प्रभास वसु के पुत्र, बृहस्पति के भानजे, सम्पूर्ण विश्व में महाप्राज्ञ ये विश्वकर्मा महाराज सम्पादन करेंगे ॥१६½-२०½॥

हे राजन्! उन्हों ने अर्थात् विश्वकर्मा ने ही देवराज इन्द्र की अमरावती का निर्माण किया था। राजाओं की अन्य मनोरम नगरियों की भी इन्होंने ही रचना की है। तुम्हारे द्वारा पर्वतों एवं वृक्षों से आकीर्ण इस साक्षात् मूर्ति (पृथ्वी) को क्षेत्रीकृत (समीकृत) देखकर विश्वकर्मा जी अवश्य ही पुर, ग्राम तथा नगरों के सुन्दर सुन्दर निवेशों का सम्पादन करेंगे। इसलिए हे पुत्र! (पृथु!) लोक-हित की कामना लेकर तुम यहाँ से जाओ और अपना कार्य करो ॥२०½-२२॥

हे पृथ्वी! तू भी भय छोड़ और पृथु की प्रियकरी बन और विश्वकर्मा जी महाराज! आपको जब जब महाराज स्मरण करें, तो उनकी हित-कामना से आप सब यह अखिल नियोग (भूतल पर ग्रामादि-विन्यास) करेंगे ॥२३-२४½॥

यह कह कर प्रजापति अपने स्थान को पधारे और हर्ष से पृथु और पृथ्वी भी अपने-अपने स्थान पर आ गये। विश्वकर्मा भी अपने स्थान हिमगिरि पर, जहाँ पर चारों ओर सिद्ध लोग अपनी रमणियों के साथ सदा खेलते रहते हैं और विहार करते हैं, वहाँ लौट आये ॥२४½-२५½॥

इस अध्याय में ग्रन्थकार ने पौराणिक शैली में न केवल वास्तु-शास्त्र का विषय, उसके प्रतिष्ठापक आचार्य एवं प्रवर्तक शिष्यों (शिल्पिकोटि-वृन्दों) पर ही प्रवचन किया है, वरन् वास्तु-शास्त्र की मूलमयी त्रयी—पृथ्वी, पृथु और विश्वकर्मा की कैसी सुन्दर अवतारणा की है

मानसार, मयमत आदि वास्तु-शास्त्रीय या शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तु-शास्त्र के विषय (Scope) में धरा, हर्म्य, यान तथा पर्यङ्क का एक शृङ्खलाबद्ध संकीर्तन है। यहाँ समराङ्गण की दिशा से इस शास्त्र का विषय इनसे और अधिक बढ़ जाता है—अर्थात् देश, पुर, निवास, सभा, वेश्म तथा आसन ।

विश्वकर्मा का पुत्र-संवाद

सिद्धों और देवों की वधुओं से भुक्त मणिमय मनोरम गुहा-गृहों वाले तथा चन्द्रमा की ज्योत्स्ना से मंडित हिम-शिखर पर विस्तीर्ण आसन पर बैठे हुए सर्वज्ञ विश्वकर्मा के पास (उनके द्वारा) संस्मृत चारों मानस-सुत उपस्थित हुए। जय, विजय, सिद्धार्थ तथा अपराजित (विश्वकर्मा के चारों मानस-सुतों) ने आकर विश्वकर्मा को बद्धाञ्जलि शिर से प्रणाम किया ॥१-३॥

विश्वकर्मा ने अपने पुत्रों को संबोधित कर कहा—बच्चो ! यह तुम्हें विदित ही है कि पुराकाल में ब्रह्मा ने इस विश्व की सृष्टि के पूर्व वास्तु की सृष्टि की[1]। तो धर्म, कर्म और श्रेष्ठता की प्राप्ति के लिए एवं लोक-रक्षण के लिए व्यवस्था करके लोकपालों की कल्पना की (अर्थात् बिना सुनियोजित समाज के देश में शुभ कार्य नहीं हो सकते, और समाज एवं देश का सुनियोजन राजा अथवा राज्य के संरक्षण के बिना नहीं हो सकता)। मैं भी विश्वनाथ कमल-भू ब्रह्मा जी के द्वारा लोकों के संनिवासार्थ आदिष्ट किया गया हूँ। मैंने अपनी बुद्धि से अभी तक (तीनों लोकों में) सुरों, असुरों एवं नागों के मनोहर नगर, उद्यान तथा सभा-स्थान आदि की स्थापना की। अब मैं भूतल पर जाकर वेन के पुत्र महाराज पृथु की प्रिय-चिकीर्षा से, हे पुत्रो ! वहाँ पर नगर, ग्राम, खेट आदि (वस्तियों) को अलग-अलग बनाऊँगा ॥४-८॥

---

१. ब्रह्मा ने पहले वास्तु-ब्रह्मा की रचना की—यह अर्थ असंगत है। वास्तु का अर्थ यहाँ पर प्लानिंग से है। 'वस्तु' से 'वास्तु' बना है। अनियोजित वस्तु जब सुनियोजित वस्तु में परिणत हो जाती है तो वह वास्तु अर्थात् कला के नाम से पुकारा जाता है।

ब्रह्मा ने केवल मानसी सृष्टि की। ब्रह्मा इससे अधिक कर ही क्या सकते थे। इच्छामात्र से सकल जगत् प्रादुर्भूत हो गया। परन्तु जगत् का वास्तविक रूप—स्थानादि-विनिवेशन तो एक कारीगर की चीज है—वह विश्वकर्मा को सौंपा गया। विश्व एक मूर्ताकार है तथा वास्तु मानसी सृष्टि। यही "वास्तु ब्रह्मा ससर्जादौ विश्वमप्यखिलं तथा" का मर्म है।

विश्वस्रष्टा ब्रह्मा के द्वारा आदिष्ट एवं अर्पित मेरे इस सम्पूर्ण कार्य में तुम लोग भी सहायता करोगे, इसीलिये आप लोगों को यहाँ मैंने स्मरण किया है। जिस प्रकार से भुवन-भास्कर कमलिनी-वल्लभ सूर्य की, अन्धकारापनयन में मरीचियाँ सहायता करती हैं, उसी प्रकार तुम लोग भी मेरी सहायता करो ॥९-१०॥

महाराज पृथु के निवासार्थ, चित्र-विचित्र नगरों, ग्रामों और खेटों से अति मनोहर, उनकी राजधानी का निर्माण मैं स्वयं करूँगा। और आप लोगों के लिए यह मेरा आदेश है कि एक-एक करके चारों दिशाओं में जाकर उन-उन आवश्यक जन-निवासों के अलग-अलग निवेश प्रस्तुत करो। साथ ही साथ मार्गों, समुद्रों, पर्वतों और सरिताओं के बीच-बीच अन्तरावकाश पर राजाओं के भय-शमनार्थ दुर्गों की स्थापना करो। इसके अतिरिक्त वर्णोचित, प्रकृत्युचित से तत्तदुचित संस्थान एवं चिह्नपुरःसर प्रतिग्राम, प्रतिनगर तथा प्रतिपत्तन में वर्णाश्रम-संस्थान-विभाग[1] (अर्थात् ब्राह्मणादि वर्णों के अनुकूल घर) सम्पादन करो ॥११-१४॥

इस प्रकार से उन अपने पुत्रों से सारवती एवं प्रकट वाणी से अपना नियोग बताकर और अपने सुयोग्य पुत्रों पर इस गौरवशाली महाभार के समर्पण से सन्तुष्ट-हृदय होकर प्रभास-पुत्र नीतिज्ञ (विश्वकर्मा जी) चुपचाप चले गये ॥१५॥

---

१. प्राचीन काल में ग्रामों एवं नगरों की वसति-योजना में वर्णाश्रम के अतिरिक्त व्यवसाय का भी ध्यान रखा जाता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इन वर्णों तथा यतियों आदि आश्रमियों के स्थान-विभाग की उचित व्यवस्था के नियम तो थे ही, साथ-ही-साथ फल बेचनेवाले, घी बेचनेवाले, स्वर्णकार, सुराकार, रथकार, राज-कर्मचारी, स्थपति आदि के घरों की कहाँ व्यवस्था हो—यह भी एक सुनियोजित व्यवस्था प्रायः सभी शिल्प-ग्रन्थों में प्रतिपादित है। आगे 'पुर-निवेश' में हम इसके सविस्तर वर्णन पढ़ेंगे।

अध्याय ३

प्रश्न—वास्तु-शास्त्र-विषय-वर्ग

इसके बाद उन चारों मानस-सुतों में जय नामक पुत्र अपने पिता विश्व-कर्मा के उस वाक्य (अर्थात् स्थानादि-निवेशन-नियोग) को सुनकर हाथ जोड़ कर स्निग्ध एवं गम्भीर वाणी से बोला— हे प्रभो ! आप जैसे ज्ञान-सागर यदि हम जैसे अज्ञानी लोगों को सहायता के लिए वरण कर रहे हैं, तो यह हमारे लिए वास्तव में सौभाग्य की बात है, और हमारी बड़ी इज्जत की बात है। इस-लिए इस समय हम लोगों के और प्रजाओं के हित में हे प्रभो ! आप ऐसे अप्र-मेय प्रभावशाली सब कुछ बता सकते हो (अर्थात् हमारे प्रश्नों का उत्तर दे सकते हो, अथवा इस विषय में हमारी जिज्ञासा का शमन कर सकते हो) ।।१-३।।

पुरानी बात है, जब समस्त जगत् एकार्णवी-अवस्था (अर्थात् सर्वत्र जल ही जल था) में विद्यमान था और पूर्ण प्रलय उपस्थित था, तब (पृथ्व्यादि) महाभूत, अमरपुरी और नक्षत्र-चक्र का उद्भव कैसे हुआ ? ।।४।।

इस पृथ्वी का आकार क्या है ? आधार क्या है ? प्रमाण क्या बताते हैं ? इसका विस्तार कितना है ? इसकी परिधि कितनी और इसका क्षेत्रफल कितना है ? कितनी ऊँचाई, चौड़ाई और लम्बाई से इस पृथ्वी पर कौन-कौन कुल-पर्वत हैं ? कितने वर्ष (देश) विख्यात हैं ? कितने द्वीप, नदियाँ और सागर हैं ? ।।५-६।।

भू के ऊपर (अर्थात् अन्तरिक्ष में) सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, ऋक्ष आदि की अपनी-अपनी अलग-अलग गतियाँ कैसी हैं ? और इनका पारस्परिक अन्तर कितना है ? अन्तरिक्ष में इस ज्योतिश्चक्र का आधार क्या है ? और कौन इस चक्र को घुमाता है ? इस विश्व में महाभूत किस प्रकार से नीचे और ऊपर अपनी स्थिति को धारण किये हुए हैं ? ।।७-८।।

युगधर्म की व्यवस्थाओं के द्वारा आदि में कौन-कौन लोकवृत्तियाँ अथवा लोकाचार थे, तदनन्तर कौन पहिला राजा हुआ ? कौन पहिला ग्रह था और कौन पहिला वर्णी था ? ।।९।।

पृथ्वी पर कितने देश, कितने प्रकार की भूमियाँ अलग-अलग निरूपित

हुईं ? और कहाँ किस प्रकार से जनपदाश्रय (जनपद-सम्बन्धी) सन्निवेश किया गया ? ॥१०॥

शब्द, स्पर्श, गन्ध, वर्ण और रस आदि के अभिव्यक्ति-चिह्नों से कौन-कौन-सी पुरोचित भूमियाँ प्रशस्त अथवा अप्रशस्त बताई गईं ? ॥११॥

किस विधान से राजधानी नगर का निवेश करना चाहिये और इसके सुन्दर निवेश से क्या फल, एवं उसके दुष्ट-निवेश से क्या कुपरिणाम होते हैं ? ॥१२॥

कितने प्रकार के दुर्ग होते हैं ? तथा दुर्ग-कर्म का क्रम क्या है ? राजधानी नगर का कौनसा संस्थान अनिन्दित है और कौनसा निन्दित ? पुनः कहाँ पर (अर्थात् राजधानी के निवेश में) प्रमाणपुरःसर कौनसी अनुक्रम-विधि बताई गई है और कैसा उसका प्राकार, गोपुर, अट्टालक, परिखा तथा वप्र आदि का कर्म विहित है ? और किस प्रकार से वहाँ प्रधान नगर-द्वार, प्रतोली और अट्टालक आदि के द्वारा एवं रथ्या, चत्वर एवं मार्गों के द्वारा नगर का विभाजन विहित है ? भूमि के प्रमाण और उसके संस्थान तथा क्षेत्रीय महा-मार्गों (दिक्पथ) के द्वारा उनके सीमा-विभाग से नगर, ग्राम और खेट के निवेश पृथक्-पृथक् कैसे बताये गये हैं ? ॥१३-१६॥

पुर के अभ्यन्तर पहले किन-किन द्रव्यों और उनके भिन्न-भिन्न अवयव-क्रमों से किस स्थान पर कैसे इन्द्र-ध्वज का निवेश करना चाहिये और निविष्ट उस इन्द्र-ध्वज का प्रतिवर्ष फिर किस प्रकार से राजाओं और प्रजाओं के हित के लिए महोत्सव करना चाहिए ? ॥१७-१८॥

(नगर-निवेश में) किन-किन गृहों में और किन-किन दिशाओं में तथा भीतर और बाहर के भिन्न-भिन्न भागों पर कौन-कौन से देवों की स्थापना करनी चाहिए ? ॥१९॥

उन देवों के यान (वाहन), परिवार, वर्ण, रूप, विभूषण, वस्त्र, वय, वेष, आयुध एवं ध्वज आदि किन-किन उपलक्षण-चिह्नों से देव-प्रतिमाओं का शिल्प-शास्त्र में विधान है ? ॥२०॥

देवों, राजाओं और द्विजातियों के—प्रमाण, मिति (मान) संस्थान, संख्यान, उच्छ्रय आदि उपलक्षणों से—अपने-अपने प्रासाद कैसे होने चाहिएँ ? नगर में प्राकार और परिखा से गुप्त गोपुर कहाँ होना चाहिए ? और कहाँ पर क्रीडा-गृह तथा जल-वेश्म[1] होने चाहिएँ, और कहाँ पर महानस (रसोई) होनी चाहिए ? ॥२१-२२॥

---

१. क्रीडा-गृह की विशेषता यह है कि वहाँ पर युग्म-मिथुन अवश्य हों।

राजवेश्म की निवेश-व्यवस्था में—मान, उन्मान, क्रिया, आयाम, द्रव्य, आकृति की रचना में किस-किस भाग में और कहाँ-कहाँ पर कोष्ठागार, आयुध-स्थान, भांडागार, व्यायाम-गृह, नृत्त-गृह, संगीत-गृह, स्नान-गृह, धारा-गृह, शय्या-गृह, आवास-गृह, प्रेक्षा-वेश्म, दर्पण-गृह, क्रीडा-वेश्म, दोला-गृह, अरिष्ट-गृह, अन्तःपुर, अशोक-वनिकाएँ, लता-मंडप-वेश्म, विटंक[1], भ्रम, निर्यूह[2], कक्षा-(प्रकोष्ठ), संयमन, (चतुःशाल) आदि, वापियाँ, दारु-गिरि, चित्र-विचित्र पुष्प-वीथियाँ, अनेक-विध उद्यान आदि-आदि ये स्थान कहाँ-कहाँ विनिवेश्य हैं ? ॥२३-२७॥

विशाल राज-हर्म्य के किस-किस भाग पर पुरोहित, सेनापति, ब्राह्मण, दैवज्ञ तथा मन्त्रियों के भवन होने चाहिएँ ? ॥२८॥

नगर की किन-किन दिशाओं में तथा उसके किन-किन भागों और पद-भागों पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, कृषिजीवी, तुलाजीवी, शिल्पजीवी, कला-जीवी, पण्योपजीवी तथा व्याधादिहिंसाश्रित पुरुषों के भवन निवेश्य हैं ? कितने प्रकार के कैसे-कैसे निवेश विहित हैं ? और उनमें प्रवेशों और जल-भ्रमों के द्वारा कौन निवेश प्रशस्त माने गये हैं ? प्रथम स्थान कितने प्रकार का और कौन-कौन प्रथम द्रव्य और इन सब का हेतु क्या है और कैसा अनुक्रम ? द्रव्यों के साथ कौन-कौन द्रव्य परस्पर योग रखते हैं ? और कौन-कौन से योग नहीं रखते हैं ? किन-किन से कौन मनुष्य कहाँ पर बसें ? ॥२९-३३॥

इष्टका-कर्म (ईंटों के बनाने की कारीगरी) कैसी विहित है ? और कितने प्रकार की भूमि बताई गई है (जिनसे इष्टकाएँ निर्मेय हैं) और उनका अग्नि, जल और पवन से किस प्रकार परिकर्म-क्रम (शोधन, परीक्षण आदि) विहित है ? ॥३४॥

चातुर्वर्ण्य (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र) भवन-निर्माण तथा इन्द्र-ध्वज की रचना एवं राजाओं के महल, देवमन्दिरों एवं देव-प्रतिमाओं के निर्माण में कौनसे प्रशस्त और कौनसे गर्हित वृक्ष बताये गये हैं ? उनके छेदन-जन्य स्राव से उत्थित तथा उनके शब्द तथा दिक्पात (अर्थात् किस दिशा में गिरे) तथा उनके गर्भ (मंडल) में रहनेवाले जीव-जन्तु आदि शकुनों अथवा निमित्तों से कर्ता (स्थपति) तथा कारक (भवनपति यजमान) के शुभ अशुभ कैसे माने जाते हैं ? तक्षणच्छेदों से उन परीक्षित वृक्षों का प्रमाण कैसे माना जाता है, उनको वन से लाकर पहिले उनकी स्थापना कैसे होती है ? और किस स्थान

१. २. ये भवनाङ्ग एवं भवन-भूषा में व्याख्यात हैं। वास्तु-कोष में विशेष द्रष्टव्य हैं।

पर कहाँ पर विहित है ? ॥३५-३७॥

सामान्य रूप से अखिल वर्णों एवं जातियों के अनुरूप कौन-कौनसी लक्षण-पुरस्सर भूमियाँ तथा उनकी कौन-कौनसी जातियाँ संकीर्तित हैं ? ॥३८॥

शल्योद्धार-विधि (भूमि-शोधन) कैसी होती है ? भूमि-कर्म कैसा होता है ? दिग्ग्रह (दिशा-ज्ञान), सूत्रण तथा अधिवासन कैसा होता है ? मूल-पाद अर्थात् केन्द्रीय स्तम्भ का प्रमाण क्या है ? शिलान्यास की विधि कैसी है ? और शाला तथा अलिन्द आदि विभाजनों से भवन का विभाग किस प्रकार से किया जाता है ? दीवालों के मान क्या हैं ? पीठों की ऊँचाइयाँ क्या हैं ? और किस प्रकार से वर्णानुरूप (ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के पृथक्-पृथक्) विकल्प हैं (अर्थात् घटाव और बढ़ाव किये जाते हैं) ? द्वार के स्तम्भों और आसनों (पट्टिकाओं) के साथ घर के सभी स्तम्भों में कैसे सभी प्रमाण बताये गये हैं ? इसी प्रकार कंठ-विनिर्गमों के साथ नागवीथी[1] और उपधानों[2] के प्रमाण कैसे बताये गए हैं ? अथच जयन्ती[3], संग्रह[4] तथा तुला[5] के कार्यों के और वास्तु के और फलकों के कैसे-कैसे प्रमाण परिकीर्तित हैं ? अपने मान से सब वर्णों के घरों के तलों की ऊँचाई कैसी होती है ? और गवाक्ष, कपोताली, वेदिका तथा जालक[6] की क्रियाएँ कितनी होती हैं और कौन-कौन-सी हैं ? ॥३९-४४॥

स्थूणां (खूंटा), निसृष्टिका, उत्सूका, मृगाली तथा उपतुला एवं शिरो-वंशों (प्राणिसहित) के कौन-कौन प्रमाण प्रकीर्तित किये गये हैं ? ॥४५॥

छाद्योदय (पाटने के ढंग) कितने हैं ? और गोल पाटन का क्रम क्या है ? तिकोनी खंडवृत्त लुपाओं (मेहराव) की क्रियाएँ कैसी होती हैं ? और इन मेहराबों की सीमा, अलिन्द और शिखर का आधार क्या है ? इसी प्रकार प्रासाद-शिखरों की कितनी विकल्पनाएँ हैं ? इसी प्रकार प्रासाद, भवन आदि में अन्य जो ज्ञातव्य हैं उनके द्रव्य, काष्ठ और कला सम्बन्धी कैसे प्रमाण विहित हैं ? ॥४६-४८॥

उत्तम, मध्यम और अधम चतुःशाल भवनों में शाला और अलिन्द के क्या प्रमाण हैं ? तथा मूषाओं (मूषाकार झरोखों) के द्वारा काष्ठ-कल्पना कैसी होती है ? ॥४९॥

१, २, ३, ४, ५. ये सब स्तम्भाङ्ग एवं स्तम्भ-चित्रण की पारिभाषिक संज्ञाएँ हैं—दे० वास्तु-कोष।

६. जालक गवाक्ष (झरोखा या खिड़की) का एक विशेष भूष्य-प्रकार।

इसी प्रकार एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल तथा चतुःशाल और इनके संयोग से पंचशालादि दशशालान्त किस प्रकार से और कितने भवन-भेद कल्पित होते हैं ।।५०।।

पदों के षोडश (१६ पद-वास्तु), चतुःषष्टि (६४ पद-वास्तु), एकाशीति (८१ पद-वास्तु) तथा शत (१०० पद-वास्तु) के कैसे संविभाग होते हैं ? और किस प्रकार से इन पदों पर वास्तु-देवों की स्थिति बताई गई है ? ।।५१।।

प्रथम नौ-पद-वास्तु, तथा अन्तिम सहस्र-पद-वास्तु, किस प्रकार से बताया गया है ? और किन किन अंग प्रत्यंग भागों पर कहाँ कहाँ पर वास्तु-देव इन वास्तु-पदों पर व्यवस्थित बताये गये हैं ? अथच वास्तु-पुरुष के वंश, शिर, चक्षु, कुक्षि, हृदय, मूर्धा एवं मर्मों पर किन-किन द्रव्यों के सन्निवेश से किसकी कैसी पीड़ा बताई गई है ? ।।५२-५४½।।

वास्तु के आरम्भ, गृह-प्रवेश तथा यात्राओं में एवं स्थापनाओं में दूत, स्वप्न आदि निमित्तों के द्वारा किस प्रकार से शुभ और अशुभ का ज्ञान होता है ? ।।५४½-५५½।।

राज-हर्म्य आदि में दारु-क्रियाओं (लकड़ी की कारीगरी), चित्रों और लेप्य-क्रियाओं के साथ-साथ योज्यायोज्य-व्यवस्था (अर्थात् कौन-कौन से चित्र योज्य हैं और कौन-कौन से अयोज्य हैं) कैसी विहित है ? ।।५५½-५६½।।

हस्त का लक्षण क्या है और मान की संज्ञाएँ कितनी होती हैं ? हव्य में अग्नि का चिह्न क्या है और निर्युक्त-लक्षण क्या है ? अथच वर्णानुक्रम से बलिकर्म कैसा विहित है ? और किस विधि से भवन में प्रवेश करना चाहिए ? इसी प्रकार पतित, स्फुटित, जीर्ण, प्लुष्ट (जले हुए), वज्र तथा अशनि से क्षत एवं निमग्न, भग्न, निर्भिन्न तथा प्रशीर्ण भवनों एवं अन्य मेयों में क्या फल बताया गया है ? और क्या प्रायश्चित्त की विधि बताई गई है ? इसी प्रकार लकड़ी में मधु के लगने से और बल्मीक से खोखली हो जाने पर क्या फल है और प्रायश्चित्त का कैसा विधान है ? ५६½—६०½।।

हे प्रभु ! इस प्रकार के अनेकविध भवन-सम्बन्धी विधान तथा भवनेतर सम्भार हम लोगों पर अपनी महाकरुणा से आर्द्रित-चित्त-वृत्ति आप क्रमशः समस्त प्रमेय का व्याख्यान करें। यह हम लोगों की प्रार्थना है ।।६१।।

महदादिसर्ग (सृष्टि-वर्णन)

अपने पुत्र जय के इन वचनों को सुनकर विश्वकर्मा महाराज गरजते हुए मेघ की ध्वनि के सदृश गम्भीर वाणी से बोले—शाबाश बेटे! तुमने अपनी अति विशुद्ध प्रज्ञा सें जो ये प्रश्न पूछे हैं वे वास्तव में वास्तु-विद्यारूपी कमलाकर के भास्कर सदृश हैं अर्थात् जिस प्रकार सूर्य के उदय होने से कमल खिल जाते हैं उसी प्रकार वास्तु-शास्त्र का विषय तुम्हारे प्रश्नों से अपने आप खिल गया है। इसलिए तुम इन प्रश्नों के समूहों को अपने हृदय में रखकर मुझसे इनका उत्तर सुनो जो पितामह ब्रह्मा ने हमको बताया है ॥१-३॥

यह विश्व पहले 'युगान्ताग्निप्लुष्टावस्था' में था अर्थात् भूतल पर महा ऊष्मा थी। आधुनिक भू-गर्भ शास्त्री भी यही कहते हैं कि 'Earth was a burning ball' पुनः संवर्तक आदि मेघों के द्वारा घोर वृष्टि किये जाने पर यह भूतल एकार्णवी-अवस्था में (अर्थात् जलमयी सृष्टि में—देखिये मनु० 'अप एव ससर्जादौ') परिणत हो गयाअर्थात् शनैः शनैः पृथ्वी बुझी (Earth cooled down)।

पुनः समस्त विश्व जब तमसाच्छन्न थां तो शेष-शय्या पर समस्त जगत् को अपने उदरगत करके भगवान् विष्णु सलिल में सो गये—(क्षीराब्धिशयन-यह सृष्टि का तीसरा उपक्रम है जिसको गर्भावस्था कह सकते हैं)। अब विष्णु की नाभि से कमल उत्पन्न हुआ और इस कमल से सर्वज्ञानाश्रय श्रीमान् चतुरानन सुरेश्वर (ब्रह्मा) का जन्म हुआ (यह सृष्टि का चौथा उपक्रम हुआ जब प्राणि-सृष्टि प्रारम्भ हुई) ॥४-६॥

उस महाप्रभु ब्रह्मा ने जब कदाचित् प्रजा-सृष्टि के प्रति अपना ध्यान दिया, तो इस विश्व के कारणरूप सर्वप्रथम 'महान्' की सृष्टि की। महत् से पुनः तीन प्रकार के अहंकार की सृष्टि हुई, जिसके सात्विक विकार से मन, राजस से इन्द्रियां और तामस से तंन्मात्राएँ उत्पन्न हुई। पुनः उन तन्मात्राओं से अपने-अपने गुणों से युक्त व्योमाकाशादिधरान्त क्रमशः पांच भूतों का आविर्भाव हुआ। अब इनका अधरोत्तर भाव (कौन नीचे कौन ऊपर) ठीक तरह से बताया जाता है। पहिले पृथ्वी उसके नीचे जल आदि और जल से नीचे अग्नि

और उसके नीचे वायु और वायु के नीचे अवकाश देनेवाला आकाश। यह आकाश जिसमें भूतादि स्थित हैं, वह महत् से परिवारित हैं और महत् व्यक्त में प्रवेश करता है पुनः व्यक्त अव्यक्त में प्रवेश करता है। इस प्रकार से यह 'व्यक्त' ही ग्राह्य और ग्राहक भाव से भूतों का उत्पादक कहा गया है। वास्तव में आधार और आधार्य भाव दोनों यथार्थ हैं क्योंकि इन्हीं में स्थिति और लय निहित हैं ॥७-१३½॥

इस प्रकार से इन सगुण महाभूतों की सृष्टि करके तदनन्तर महाप्रभु ब्रह्मा ने भौतिक सर्ग के प्रति अपना पूरा ध्यान दिया। और सुरों, असुरों, गन्धर्वों, यक्षों, राक्षसों, पन्नगों, नागों, मुनियों और अप्सराओं को 'मन' से उत्पन्न किया। पुनः इस महाप्रभु ने अपनी दोनों आँखों से गगन में भ्रमण करने-योग्य सूर्य एवं चन्द्रमा को उत्पन्न किया। इसके गात्रों से नक्षत्र-चक्र उत्पन्न हुआ। पुनः पाँचों इन्द्रियों से ताराग्रह-पंचक की सृष्टि की गई। इन ग्रहों का 'ग्रहत्व' इन्द्रिय-ग्रहण से बताया गया है। पुनः सुरेन्द्र के चाप-चिह्नों से चिह्नित, विद्युन्मंडल से शोभित और भयंकर अशनि-धारी मेघों की उत्पत्ति 'केशों' से हुई। उसकी इच्छामात्र से सम्पूर्ण विश्व को आपूरित करता हुआ तीनों लोकों को पवित्र करने वाले तिरछे चलने वाले प्रचण्ड समीरण का आविर्भाव हुआ। तदनन्तर इस प्रचण्ड समीरण से उड़ाया हुआ और ऊपर सूर्य की किरणों से तपाया हुआ और वायु से सुखाया हुआ यह जल (विश्व की एकार्णवी अवस्था का जल) घनता को प्राप्त हो गया। उसके ऊपर और समुद्र के नीचे कुण्डलित-शरीर भगवान् अनन्त शेषनाग, विष्णु की शय्या बनकर इस अखिल पृथ्वी को धारण करते हैं। जिन-जिन प्रदेशों में सूर्य की किरणों से जल नहीं तपा और न पवनों से सूखा, वहाँ-वहाँ वह जल सागर के रूप में परिणत हो गया। प्रचण्ड समीरणों के द्वारा विक्षिप्त महाम्भोधि-वीचिसंघात (बड़ी-बड़ी जलतरंगों के समूह) जहाँ-जहाँ ऐक्य को प्राप्त हुए वहाँ-वहाँ वे पर्वतों में परिणत हो गये। इन पर्वतों के द्वारा यह पृथ्वी चर्म के समान निश्चलत्व के लिए वितत हो गई। जहाँ पर पर्वत थे, उन उन स्थानों पर मानों कीलों के समान, पर्वतों से यह पृथ्वी आचित हो गई। पर्वतों के निष्यंदों (झरनों) से वृद्धिगत भिन्न-भिन्न प्रदेशों को भिन्न-भिन्न भागों में बाँटने वाली नदियाँ उत्पन्न हुईं। पुनः सागर की कान्ता के समान निम्नानुसारिणी ये नदियाँ मेदिनी के अन्त से जलधि-पर्यन्त सब ओर बहने लगीं ॥१३½-२५॥

जहाँ-जहाँ पानी था, वहाँ-वहाँ चित्ररूपी द्वीप बन गये। इस प्रकार से नदी, समुद्र और द्वीपों वाली यह पृथ्वी भूतों को धारण करती हुई सब पर्वतों के

द्वारा विभक्त होकर सम्पूर्ण रूप से व्यक्त हुई ॥२६-२७½॥

पुनः जगत्कर्ता ब्रह्मा ने दुष्कृत-कर्मा मनुजों के अपने-अपने कर्मफल के भोगने के लिए पृथ्वी के नीचे रौरव आदि नरकों का स्थान बनाया ॥२७½-२८½॥

अथ च उस महाप्रभु ब्रह्मा ने जरायुज, अंडज, उद्भिज्ज, स्वेदज इन चार विभागों से इस चराचर भूत-ग्राम की चार प्रकार से सृष्टि की। इनमें जरायुज दो प्रकार के हैं—मनुष्य तथा पशु। पुनः इनके सात ग्राम्य तथा सात आरण्य भेद बताये गये हैं। सात ग्रामवासी हैं—मनुष्य, गौ, अश्व, छाग, मेष, वेगसर तथा खर। और अरण्य-गोचर जीव हैं—सिंह, गज, उष्ट्र, महिष, शरभ, गवय तथा कपि ॥२८½-३२½॥

इन ग्राम्यों में धर्माधर्मविवेकित्व-गुण के कारण पुरुष सर्वश्रेष्ठ है। अथ च अरण्यचारियों में अपने शौर्य तथा बल आदि से सिंह सर्वश्रेष्ठ है। ॥३२½-३३½॥

अंडज चार प्रकार के हैं—सुपर्ण, भुजंग, कीट और पिपीलिकाएँ।

स्वेदज—क्लेद (पसीना) तथा केश से उत्पन्न कृमियूकादि जन्तु।

उद्भिज्ज—पाँच प्रकार के हैं, जो स्थावर हैं—वृक्ष, वल्ली, गुल्म, वंश और तृण-जातियाँ। इन उद्भिज्जों के तीन विशेष गुण हैं—छन्नान्तःकरणत्व (अर्थात् इनका अन्तःकरण संवेदना-शक्ति से तिरोहित रहता है), स्वस्थान-त्यागिता (अर्थात् जहाँ पर उत्पन्न होते हैं वहीं खड़े रहते हैं) तथा छिन्न-प्ररोहिता (अर्थात् काटने पर फिर उग आते हैं) ॥३३½-३७½॥

चतुर्विंशति-पर्विका यह भूत-संज्ञा की गायत्री है। इस पुण्य-गायत्री को जो जानता है वह स्वर्ग का भागी होता है ॥३७½-३८½॥

भुवन, भू, जल, अग्नि, आकाश जिसमें प्रमुख हैं, ऐसे इस भव (संसार) की व्याख्या मैंने तुमको बताई। अब, हे पुत्र ! पृथ्वी के परिमाण आदि पर जो मैं प्रवचन दे रहा हूँ, उसको सुनो ॥३८½-३९½॥

भुवन-कोश

(भूगोल-वर्णन)

अब इसके बाद, हे पुत्र ! सम्पूर्ण इस पृथ्वी के विष्कम्भ, परिधि, वाहुल्य का क्रम वर्णन करता हूँ ।।१।।

इसका (भूमि का) विष्कम्भ दस करोड़ उन्नीस लाख योजन बताया गया है। इसकी परिधि बत्तीस करोड़ साठ लाख अस्सी हज़ार (योजन) मानी जाती है, अर्थात् विष्कम्भ से ३$\frac{1}{5}$ गुनी परिधि होती है। दो लाख बीस हजार योजन इसका वाहुल्य (क्षेत्रफल) माना गया है। चारों जल आदि (जल, अग्नि, वायु आदि) का भूतादि (आकाश) तथा महत्—इन सब के उत्तरोत्तर पृथिवी से सौ गुना—अर्थात् पृथिवी से जल सौ गुना, जल से अग्नि सौ गुना, अग्नि से वायु सौ गुना, वायु से आकाश सौ गुना माना गया है। जलादिकों में स्थित यह पृथिवी चक्र के समान वृत्तशालिनी (गोल) है। जिस प्रकार से एक पात्र पर दूसरे पात्र शोभा देते हैं वैसे ही अन्य लोक भी इसी क्रम से स्थित हैं। इन पृथ्वी आदि के प्रमाण, हे वत्स ! तुमको मैंने बता दिये ।।२-७।।

अब इसके बाद द्वीपादिकों के पाथोधि-निवेश (किस द्वीप में कौन-कौन से समुद्र, पर्वत आदि हैं) का वर्णन किया जाता है ।।८।।

जम्बूद्वीप

सातों द्वीपों तथा सातों समुद्रों के मध्य में सौ हज़ार योजन के विस्तार में गोलाकार जम्बूद्वीप है। इस द्वीप में हिमाद्रि, हेमकूट, निषध, नील, श्वेत, शृङ्गी ये ६ कुल-पर्वत अर्थात् कुलाचल महापर्वत पर्वत-श्रेणियाँ हैं। तुषाराच्छादित-मेखल हिमालय के उत्तर से लगाकर पूर्व और पश्चिम तक फैले हुए समुद्र पर्यन्त इन पर्वतों का विस्तार है। नील और निषध नामक दो पर्वतों के बीच जम्बूद्वीप की नाभि में विराजमान पुण्यजनाकीर्ण (पुण्यजन-यक्षों से सेवित) गोलाकार श्रीमान् मेरु नाम का महापर्वत है। मेरु के उत्तर-दक्षिण की ओर फैले हुए प्राग्भाग पर माल्यवान् नाम का पर्वत है। सिद्धों की नारियों से सेवित नील और निषध तक फैला हुआ सुमेरु के पश्चिम में गन्धर्वकुलसंकुल

माल्यवान् पर्वत के समान विस्तृत गन्धमादन नाम का पर्वत है। इन दोनों पर्वतों के अन्तरावकाश पर हिमवान् और शृङ्गवान् नामक पर्वत हैं और दोनों की ऊँचाई ढाई-ढाई हज़ार योजन है। इन दोनों के अन्तरावकाश पर फैले हुए श्वेत और हेमकूट पर्वत हैं जिनकी ऊँचाई पाँच-पाँच सौ योजन है। निषधाचल, नीलाद्रि, माल्यवान् तथा गन्धमादन इन चारों की ऊँचाई एक-एक हज़ार योजन है। ये आठों पर्वतराज दो हज़ार योजन के विस्तार में फैले हुए हैं, तथा इनके नीचे का फैलाव उनकी ऊँचाई के आधे में माना गया है, और ये सब मेरु से जुड़े हुए हैं। इस पर्वतराज मेरु की ऊँचाई तो चौरासी हज़ार योजन है, नीचे का फैलाव सोलह हज़ार योजन तथा ऊपर का विस्तार बत्तीस हज़ार योजन है ॥९-१९½॥

सुमेरु और निषध के बीच में जम्बू-वृक्ष खड़ा है जिसके योग से इस द्वीप की 'जम्बू-द्वीप' संज्ञा हुई—ऐसा श्रुति कहती है अथवा सुना जाता है। (अर्थात् यह पेड़ देखा नहीं गया है) ॥१९½-२०½॥

जम्बूद्वीप के पर्वत

हिमवान् पर्वत—तुषार-शिलाओं से आच्छादित शिखरों से मंडित है। और यहाँ पर बड़े-बड़े पिशाच, यक्ष, राक्षस निवास करते हैं ॥२०½-२१½॥

हेमकूट पर्वत— यह पर्वत अपने स्वर्णिम शिखरों के कारण प्रसिद्ध है। यहाँ पर सर्वत्र सदैव चारण तथा गुह्यक (देवयोनि-विशेष) विचरण करते हैं ॥२१½-२२½॥

निषधाचल—तरुण सूर्य के प्रभा-मंडल के सदृश दीप्त है। इस पर्वत पर सुखपूर्वक शेष, वासुकि तथा तक्षक निवास करते हैं ॥२२½-२३½॥

मेरु पर्वत—स्वर्ण-कमल की कर्णिका के आकार का है, तथा इसकी कन्दराएं मणिमयी मानी गई है। इस पर्वत पर तैंतीसों देव अपनी अप्सराओं के साथ निवास करते हैं ॥२३½-२४½॥

नील महीधर—यह पर्वत अपने वैडूर्यमय शिखरों के लिए प्रसिद्ध है। यहाँ पर तपःपरायण ब्रह्मर्षि रहते हैं ॥२४½-२५½॥

श्वेत पर्वत—के अभ्रंलिह स्वर्णिम शिखरों की कीर्ति है। वहाँ पर अपने बाहुबल पर गर्व करने वाले देव-द्रोहियों का निवास है ॥२५½-२६½॥

शृङ्गवान् पर्वत—की विशेषता महानीलमयी बर्हिपिच्छ-छाया है अर्थात् यहाँ पर मयूरों का विशेष आधिक्य है। इसके शिखर ऊँचे-ऊँचे उठे हुए हैं। यह पितरों का आलय माना जाता है ॥२६½-२७½॥

जम्बूद्वीप के वर्ष (देश)

भारतवर्ष—हिमालय के दक्षिण से खारी समुद्र तक फैला हुआ धनुपाकार भारत नाम का इस द्वीप में पहला वर्ष विख्यात है ॥२७½-२८½॥

किम्पुरुष वर्ष—हिमालय और हेमकूट के मध्य में किम्पुरुष नाम का दूसरा वर्ष बताया गया है ॥२८½-२९½॥

हरिवर्ष—हेमकूट और निपधाचल के अन्तरावकाश पर तीसरा वर्ष हरिवर्ष स्थित है ॥२९½-३०½॥

इलावर्ष—निपधाचल, नीलाद्रि, माल्यवान्, गन्धमादन इन चारों पर्वतों के बीच चौथा वर्ष इलावर्ष है ॥३०½-३१½॥

रम्यकवर्ष—नीलाचल के उत्तर तथा श्वेताचल के दक्षिण में अत्यर्थ रम्य रम्यक-संज्ञक पाँचवाँ वर्ष है ॥३१½-३२½॥

हैरण्यक वर्ष—श्वेताचल तथा शृङ्गाचल इन दो पर्वतों के बीच में स्वर्णिम रश्मिजाल के सदृश मनोज्ञ छठा वर्ष हैरण्यक है ॥३२½-३३½॥

कुरुवर्ष—इसी शृङ्गाचल के उत्तर में तथा खारी समुद्र के दक्षिण में उत्तरी वर्ष कुरुवर्ष के नाम से पुकारा जाता है ॥३३½-३४½॥

भद्राश्व वर्ष—नीलाचल तथा निषधाचल के बीच में तथा माल्यवान् के प्राग्भाग पर पूर्वी समुद्र तक फैला हुआ आठवाँ वर्ष भद्राश्ववर्ष के नाम से विश्रुत है ॥३४½-३५½॥

केतुमाल—गन्धमादन पर्वत के पश्चिम तथा पश्चिम-समुद्र के पूर्व नवाँ वर्ष केतुमाल के नाम से पुकारा गया है ॥३५½-३६½॥

हे वत्स ! मैंने तुम्हारे लिए इन नव वर्षों का प्रवचन किया। अब इनका प्रमाण समझो ॥३६½-३७½॥

चारों दिशाओं को मिलाकर ३४ हज़ार योजन के प्रमाण से चौकोर इलावृत्त या इलावर्ष का प्रमाण समझना चाहिए ॥३७½-३८½॥

इस इलावृत्त के उत्तर और दक्षिण से लेकर पूर्व और पश्चिम तक जाने वाले दोनों समान वर्षों का प्रमाण ३१ हज़ार योजन समझना चाहिये। शेष जो उनसे अपेक्षाकृत छः छोटे वर्ष हैं तथा कुछ पूर्व तथा पश्चिम को छूते हैं। उनका प्रत्येक का विस्तार नौ हज़ार योजन समझना चाहिए ॥३८½-४०½॥

किम्पुरुष नामक वर्ष में नारी और नर प्लक्षभोजी[1] होते हैं। ये लोग अयुत (१० हज़ार) वर्ष जीते हैं और इनका रंग विशुद्ध स्वर्ण के समान

---

१. प्लक्ष को भाषा में पाकड़ कहते हैं।

चमकीला होता है। हरिवर्ष में इक्षुरस का पान करने वाले नर-नारी रहते हैं और उनका रंग चाँदी के समान गौर होता है। उनकी आयु अयुत सहित एक हज़ार (११ हज़ार) वर्ष होती है। इलावृत्त (इलावर्ष) में पद्मराग मणि की कान्ति वाले नर-नारी जम्बू फल के रस से अपना आहार सम्पादन करते हैं और वे सपादायुत (१२½ हज़ार वर्ष) जीवी होते हैं। मेरु तट से छन्न होने के कारण इस वर्ष में सूर्य, चन्द्र और तारों की किरणें नहीं पाई जातीं। यहाँ के नर-नारी अपने अंग की कान्तियों से ही प्रकाशित होकर रहते हैं ॥४०½-४४½॥

भद्राश्व नामक वर्ष के नर तथा नारियां कैरव (कोकावली) के उदर की कान्ति के समान कान्ति वाले होते हैं तथा नीले आम्रफल के भोजी होते हैं। उनकी अवस्था १० हज़ार वर्ष की बताई गयी है ॥४४½-४५½॥

केतुमाल नामक वर्ष में लोग खिले हुए नील कमल के समान कान्ति वाले होते हैं। वे पनसभोजी[1] होते हैं। उनकी आयु भी १० हज़ार वर्ष की है ॥४५½-४६½॥

मनोरम रम्यक वर्ष में लोग धवल वर्ण के होते हैं और न्यग्रोध (बरगद) के फल को खाते हैं। इस वष में प्राणियों की आयु हरिवर्ष के समान बताई गई है ॥४६½-४७½॥

हिरण्यक नामक वर्ष में स्त्री-पुरुष श्याम-कान्ति होते हैं। वे लकुचाशी (लुकाट खानेवाले) होते हैं और सभी १० हज़ार वर्ष तक जीते हैं ॥४७½-४८½॥

कुरु नामक वर्ष में नर-नारी मनचाही चीजें देने वाले वृक्षों के सहारे जीते हैं। उनका रंग गौर होता है। उनकी आयु १२½ हज़ार वर्ष होती है ॥४८½-४९½॥

इन सभी वर्षों में पुण्यकर्मा लोग ही रहते हैं। शोक, व्याधि, जरा, आतंक, शंका से लोग यहाँ पर मुक्त रहकर सदा ही सुखी रहते हैं ॥४९½-५०½॥

ये सभी वर्ष कुसुमों के स्तबकों से लदे हुए वनों से कीर्ण रहते हैं। उद्भिज्जादि (वृक्ष, लता, गुल्म, तृण आदि) से, नदियों से और उन ऊँचे-ऊँचे वृक्षों से ये सब शोभित रहते हैं। उठती हुई लहरों की मालाओं से शोभित खारी समुद्र से यह जम्बूद्वीप बाहर से परिक्षिप्त रहता है। हे वत्स! इस प्रकार से इस सम्पूर्ण जम्बूद्वीप का मैंने बखान किया ॥५०½-५२½॥

इस लवणाकर (खारी समुद्र) में १२ पहाड़ अलग-अलग से स्थित हैं। चारों दिशाओं पर तीन-तीन पहाड़ हैं। लवणाकर की ऊँची-ऊंची लहरों से

---

१. पनस-खजूर (dates)

इनकी बड़ी-बड़ी शिलाएँ कटती रहती हैं। दिशानुरूप इन बारहों पर्वतों की स्थिति निम्न है—

दक्षिण—मैनाक, बलाहक तथा चक्र।

पश्चिम—नारद, वराह तथा सोमक।

उत्तर—द्रोण, कंक तथा चन्द्र।

पूर्व—धूम्रक, दुन्दुभि तथा आर्द्रक।

ये लम्बाई में एक हज़ार योजन और ऊँचाई में उसके आधे (५०० योजन) हैं और उसके आधे समुद्र में मग्न हैं। ये सब धराधर इस प्रकार से विस्तृत हैं। अभ्रंलिह शिखरों वाले इन सभी पर्वतों पर देवगण विचरण करते हैं। ये सब औषधियों से प्रकाशित रहते हैं तथा सुन्दर चित्र-विचित्र पादपों एवं लताओं से दीप्त रहते हैं ॥५२½-५७½॥

अन्य द्वीपों का वर्णन

शाक द्वीप, कुश द्वीप, क्रौंच द्वीप, शाल्मली द्वीप, गोमेध द्वीप, तथा पुष्कर द्वीप ये छः द्वीप क्रमशः बाहर स्थित हैं। इन शाकादि द्वीपों को क्रमशः दुग्ध समुद्र, घृत समुद्र, दधि समुद्र, मद्य समुद्र, इक्षुरस समुद्र तथा मीठे जल वाले समुद्र घेरे हुए स्थित हैं। अपने द्वीप के समान इन समुद्रों का प्रमाण है अर्थात् जितना द्वीप उतना समुद्र। ये छहों द्वीप क्रमशः जम्बूद्वीप के प्रमाण से दुगने प्रमाण वाले हैं और उनके समुद्र क्रमशः दुगुने होते हैं ॥५७½-६०॥

शाक द्वीप में सात पर्वत हैं—उदय, जलधर, नारक, रैवत, श्याम, राजत और आम्बिकेयक। इनका विष्कम्भ चार हज़ार योजन का होता है, और उससे आधी (२,००० योजन) ऊँचाई और उसका आधा भूप्रदेश। इन पर देवर्षि निवास करते हैं। इन सभी द्वीपों के समान गोल पर्वतों के बाहर क्रमशः सात वर्ष हैं, जिनके नाम हैं—जलद, कुमार, सुकुमार, मणीचक, कुसुमोत्तर, मोदाकि तथा महाद्रुमवन ॥६१-६४॥

कुश द्वीप में विद्रुम, हेम, द्युतिमान्, पुष्पवान्, कुशेशय, हरिक्ष्माभृत तथा मन्दर ये सात कुलाचल बताये गये हैं। इन सब में प्रत्येक का विष्कम्भ ८ हज़ार, उसके आधे से ऊँचाई (४,०००) और उसी प्रकार आधे से नीचे की मग्नता है। इस द्वीप के वर्षों के नाम हैं—उद्भिद, वेणुवत्, सराल, लम्बन, श्रीमत्, प्रभाकृत, कपिल तथा पन्नग ॥६५-६७॥

क्रौञ्च द्वीप में क्रौञ्च, अन्धकार, देव, गोविन्द, वामन, द्विविद तथा पुंडरीक ये सात कुलाचल हैं। इनका विष्कम्भ दस हज़ार योजन, विष्कम्भ की

आधी ऊँचाई पाँच हज़ार योजन और उसकी आधी अधोगति ढाई हज़ार योजन है। इन कुलाचलों के बाहर इस द्वीप के सात वर्ष हैं—कुसलवर्ष, अष्टवर्ष, परापत-वर्ष, मनोनुगवर्ष, मुनिवर्ष, अन्धकारवर्ष और दुन्दुभिवर्ष ॥६८-७०॥

शाल्मली द्वीप में तीन पर्वत हैं—रक्त, पीत तथा सित। इनका वैपुल्य (विष्कम्भ) ३२ हज़ार योजन कहा जाता है और वैपुल्य के आधे में ऊँचाई और उसके आधे से भूमि-मग्नता। इस द्वीप के दो ही वर्ष हैं—शान्तमय तथा वीतभय ॥७१-७२॥

गोमेद द्वीप में सुर और कुमुद नाम के दो पर्वत हैं। इन दोनों का विस्तार ६४ हज़ार योजन है। विस्तार के आधे से ऊँचाई और उसके आधे से अधोगति। इसके मध्य में एक ही वर्ष कहा गया है, जिसका नाम 'धातकी-खण्ड' है ॥७३-७४॥

पुष्कर द्वीप में मानसोत्तर नाम का एक ही पर्वत है, जिसके बाहर एक ही वर्ष महावीत के नाम से स्मरण किया गया है। यह पर्वतराज १२८ हज़ार योजन के विस्तार से विस्तृत है और देवों, ऋषियों और सिद्धों से सेवित है। विस्तार के आधे से उसकी ऊँचाई और उसके आधे से अधोगति। इसी पर्वत पर देवेन्द्रों की नगरियों को मैंने, हे वत्स! बताया है। वे (चारों) नगरियाँ निम्न प्रकार से उल्लेख्य हैं—

पूर्व में इन्द्र की—वस्वोकसारा; दक्षिण में यम की—संयमनी; पश्चिम वरुण की—सुखा और उत्तर में कुबेर की—विभा।

धर्म-रक्षा के लिए तथा लोक-व्यवस्था के लिए इन चारों नगरियों में चार अलग-अलग लोकपाल (इन्द्र, यम, वरुण तथा कुबेर) स्थित हैं ॥७५-७९॥

लोकालोकाचल

मीठे समुद्र से बाहर और उस समुद्र के विस्तार से भी दुगुना लोकालोकाचल का विस्तार बखाना गया है। इसकी ऊँचाई एक नियुत (१,००,०००) योजन है और उसकी आधी अधोगति है। प्रत्येक दिशा में इस पर्वत का विस्तार पाँच कोश तथा नवलक्ष योजन है। उसी प्रकार आधे नियुत का मेरु-मध्य से उसका अन्तरावकाश है। चंडांशु की किरणों से आधा कलेवर आभासित रहता है और आधा शरीर भूमि से ढका रहता है। पुनः उसके परतः पृथ्वी के आवरणभूत नीचे स्थित रहते हैं, और बाहर से भूमि के ऊपर भी स्थित रहते हैं। हे वत्स! इस प्रकार से मैंने तुम्हारे सामने पृथ्वी का अखिल सन्निवेश बताया है ॥८०-८४॥

सौर-मण्डल

अब मैं तुम्हें इसके वाद सूर्यादि की स्थिति और गति वताता हूँ ॥८५$\frac{१}{२}$॥

सूर्य, चन्द्र, धिष्ण्य (नक्षत्र), ज्ञ (बुध), सित (शुक्र), मंगल, शनैश्चर तथा वृहस्पति, सप्तर्षि और ध्रुव क्रमशः भूमि के ऊपर स्थित हैं। पहले चार (सूर्य, चन्द्र, धिष्ण्य, तथा ज्ञ) और तब दो शुक्र तथा मंगल भूमि के ऊपर सूर्यनन्दन शनैश्चर तक से लगाकर सौ-सौ हज़ार के छः अन्तर होते हैं। जो अन्य ग्रहान्तर बचे, वे भी क्रमशः चारों (शनि, वृहस्पति, सप्तर्षि और ध्रुव) ही दो-दो लाख योजन के प्रमाण से बताये गये हैं। भूमि और ध्रुव इन दोनों के मध्य में त्रैलोक्य का समुत्सेध १४ लाख योजन कीर्तित किया गया है। ध्रुव से ऊपर क्रमशः—महर्लोक १ करोड़, जनलोक २ करोड़, तपोलोक ४ करोड़ और सत्यलोक ८ करोड़ के अन्तर में स्थित हैं। और जो अंडकर्पर के नीचे और सत्यलोक के ऊपर स्थित है, उसका १ करोड़ पचास लाख योजन का अन्तरावकाश समझना चाहिए ॥८५$\frac{१}{२}$-९१$\frac{१}{२}$॥

इसके बाद इस विश्व का पद्मजन्म (ब्रह्मा) के द्वारा जो आवरण-योग बताया गया है, वह भी मैं बताता हूँ। जिस प्रकार से नीचे तथा तिरछे उसी प्रकार से ऊपर भी क्रमशः—वह[1] में अब्द (मेघ), प्रवह में सूर्य, उद्वह में चन्द्र, संवह में नक्षत्र, आवह में ग्रह, परिवह में सप्तर्षि, परावह में ध्रुव स्थित हैं। इन सबके चारों ओर ये सातों वायु इनको घुमाया करते हैं। परन्तु इनके मध्य में सुमेरु पर्वत पर स्थित मेधीभूत ध्रुव स्थित रहता है अर्थात् नहीं घूमता है। इसी ध्रुव से बँधा हुआ समस्त यह ज्योतिश्चक्र घूमा करता है ॥९१$\frac{१}{२}$-९५$\frac{१}{२}$॥

रथियों में श्रेष्ठ सात घोड़ों के एक चक्र के रथ से ज्योतिष्पति सूर्य निरन्तर घूमता रहता है। वह केतुमाल-वर्ष पर उठता हुआ (उदय होता हुआ) कुरु-वर्ष में अस्त. होता है। दिन के मध्य में भद्राश्व में अस्तंगत होता हुआ भारतवर्ष में सूर्य एक निमेष में २४६$\frac{८}{२७}$ योजन, एक काष्ठा में ३,६९४$\frac{४}{९}$ योजन, एक कला में १,१०,८३३$\frac{१}{३}$ योजन तथा एक मुहूर्त में ३३,२५,००० योजन की गति से चलता है। इस प्रकार से रात और दिन में नौ करोड़ सतानवे लाख पचास हज़ार योजन की सूर्य की गति है। पुष्कर द्वीप के मध्य से इस गति से चलते हुए सूर्य भगवान् आकाश में पुनः उदयाचल से अस्ताचल पर आश्रय

---

१. वह, प्रवह आदि वायु-भेदात्मक आवरण समझने चाहिये।

लेते हैं। इस प्रकार सूर्य की ठीक प्रकार से यह गति निरूपित की ॥९५½-१०३॥

अब चन्द्र, ग्रहों तथा नक्षत्रों की गति एवं उनका भोग, सूर्य की गति एवं भोग से विभाव्य है ॥१०४½॥

हे अनघ ! तुम्हारे लिए अहोरात्र (दिन और रात) का हमने प्रमाण बताया और अब पक्षों (शुक्ल एवं कृष्ण, मास के दो पक्षों), बारह मासों, छः ऋतुओं एवं पूरे वर्ष के प्रमाण व्यवहार में कल्प्य हैं ॥१०४½-१०५½॥

इस प्रकार द्वीपों, पर्वतों एवं समुद्रों का भू-वलय-वर्ती इस सन्निवेश का पूर्ण रूप से हमने बखान किया। दिन-नायक सूर्य की गति का भी कीर्तन किया, तथा विश्व-मान भी बता दिया।

अब इस वास्तु-शास्त्र में युग-धर्म भी कीर्तनीय है, वह भी तुम्हें समझना चाहियें ॥१०६॥

अध्याय ६

सहदेवाधिकार

(भवन-जन्म-कथा)

अब जैसाकि प्रथम ही प्रतिपादित किया गया है, इस प्राणि-सृष्टि के अनन्तर यह पूर्णजनाकुला प्रजा देवों के साथ ही साथ रहती थी ॥१॥

देवों के समान पहले कृतयुग में शोक, व्याधि, जरा, आतंक आदि से रहित मनुष्य स्थिर यौवन वाले अर्थात् सदा जवान होते थे। वे पर्वतों के निकुंजों में, सरिताओं में, सरोवरों में और चित्र-विचित्र वनों में देवों के साथ खेला करते थे। वे एक बार यों ही हँसी में अमरों के साथ उड़कर स्वर्ग में पहुँच कर पूर्ण स्वातन्त्र्य से सुरों के समान घूमने लगे। चित्र-विचित्र वस्त्र पहने हुए और नाना प्रकार के आभूषणों से सुशोभित सब देवता दिखाई देते थे और उन लोगों के, महलों के समान, कल्पद्रुम वृक्ष थे। चित्र-विचित्र आभूषण पहने हुए सुन्दर स्त्रियों के साथ उन विमानाकार कल्पद्रमों में वे लोग रहते और क्रीड़ा करते थे। क्षुधा, पिपासा और दुःखों से रहित वे सब दस हजार वर्ष की अवस्था वाले हो गए। उनके शरीर रत्नों के समान झलकते हुए दिखलाई पड़ते थे। उन्होंने कभी भूरस (ईख का रस) का पान कर लिया, तब से वे बहुत अधिक कामी हो गये और स्वेच्छापूर्वक आहार-विहार करने लगे। कभी स्वीकार, कभी विग्रह और कभी पार्थक्य से वे बड़े उच्छृङ्खल स्वातन्त्र्य का अनुभव करने लगे। यहाँ पर न तो सूर्य ही उग्रता से तपता था और न आँधी ही चलती थी। यहाँ की रात्रियों को पूर्ण चन्द्र सदैव शोभित करता रहता था और इसीलिए ये रातें सदैव कुहरे आदि से रहित रहती थीं तथा सदैव सुन्दर रहती थीं। भिन्न एवं स्निग्ध अंजन के समान काले, बिजली के सहित और ढोल के समान शब्द करने वाले कबरी गाय के केश के सदृश कान्ति वाले मेघों की छटा थी। मस्त कोकिल-वधू से काटे हुए आम के बौर एवं फल वाले तथा सदैव पुष्प एवं फल का भोग उपस्थित करने वाले वहाँ वनालय थे। यहाँ पर जहाँ तक वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि) का सम्बन्ध था वहाँ पर ब्राह्मण ही एक वर्ण था। चारों वेदों में वेद भी एक ही था। ऋतुओं में कामदेव का सखा बसन्त ही एक ऋतु था। वहाँ सब लोग

रूप, शास्त्र, सुख,ऐश्वर्य से सुशोभित थे। सभी लोगों में समानता थी, अतएव उनमें न कोई उत्तम था न मध्यम और न अधम। यहाँ पर खेट, नगर, पुर, क्षेत्र, खल आदि की कोई व्यवस्था न थी और न यहाँ पर दंशों से, मशकों से अथवा राक्षसों से कोई भय था। ग्रह-नक्षत्रों की भी यहाँ कोई परवाह नहीं करता था। इसके अतिरिक्त कल्पद्रुम से प्राप्त भोग एवं ऐश्वर्य वालों का कोई मालिक भी नहीं था अर्थात् राजा और प्रजा की कोई बात नहीं थी। पूर्ण स्वराज्य एवं साम्यवाद था ॥२-१५½॥

इस तरह से उस सुदूर प्राचीन काल में इस भारतवर्ष में देवों की श्री धारण किये हुए उन लोगों को रहते-रहते बहुत समय बीत गया। यद्यपि वे देवों के साथ रहते थे तथापि देवों के प्रभाव से अपरिचित रहे। सह-परिचय से अनादर एवं अवज्ञा भी आ ही जाती है। अब इस तरह साथ-साथ रहने के प्रतिफल विधिवशात् उन लोगों की देवों के प्रति आदर-भावना कम होने लगी, और सब कुछ जानते हुए भी अब वे पूज्य देव उन लोगों के द्वारा अपूजित हुए ॥१५½-१७॥

अब देवों ने उस कल्पतरु को लेकर स्वर्ग में डाल दिया। इस पर उन मर्त्यों की स्वर्ग जाने की शक्ति और दिव्य भाव नष्ट हो गये ॥१८॥

अब वह परम सरस भूरस भूमि में आकर बेकार हो गया। अब कल्पद्रुमों को तथा देवों के साथ उन उन क्रीडाओं को स्मरण करके खूब विलाप करने लगे और अपने अनर्थ को याद करने लगे ॥१९-२०½॥

तब उन लोगों के इस प्रकार विलाप करने पर प्राणों की रक्षा के लिए बहुतायत से पर्पटक नामक वृक्ष उत्पन्न हुआ और वे उसी भूरस (पर्पटक पाकड़) से अपनी प्राण-रक्षा करने लगे और अपना वास कल्पद्रुमों के अभाव में अन्य वृक्षों में करने लगे ॥२०½-२२½॥

अब उसके बाद दुर्भाग्य से और समय के फेर से उनके देखते ही देखते पृथ्वी पर से पर्पटक भी विलीन हो गया। पर्पटक के नष्ट होने पर बिना जुताई वाले अर्थात् बिना हलादि-कर्षण-संभार के अपने-आप पैदा होने वाले, पृथ्वी पर सांवाधान (शालि तंडुल) उत्पन्न हुए। इस प्रकार सुस्वादु व्यंजन से— उस शाल्योदन (सांवा के भात) से उन्होंने अत्यन्त तृप्ति प्राप्त की ॥२२½-२५½॥

कहीं यह सांवाधान भी नष्ट न हो जाय इसलिए पेड़ों के नीचे सांवा-धान के बड़े-बड़े ढेर लगाये और उसके खेत बनाये ॥२५½-२६½॥

अब मात्सर्य एवं ईर्ष्या से पुरस्सर उन लोगों में लोभ ने आकर पैर जमाये और फिर धीरे-धीरे कामदेव ने आकर अपने पैर जमाये। द्वन्द्व-प्राप्ति

अर्थात् स्त्री एवं पुरुष दोनों के सहवास से उन उत्तम गति को धारण करने वालों का धैर्य भंग हो जाने से स्त्रियों में शीघ्र ही रति पैदा हो गई ।।२६½-२८½।।

उसके बाद दारक्षेत्र-निमित्तक और विभिन्न क्लेशों की जड़ (द्वन्द्व-प्राप्ति) से उन लोगों के अलग-अलग जोड़े हो गये ।।२८½-२९½।।

अब इसके उपरान्त अपनी मर्यादा का उल्लंघन करने वाले, आत्मा के प्रभाव का ह्रास करने वाले उन उच्छृङ्खल दुर्भागियों का वह (सांवाधान) भी सूख गया अर्थात् उसमें भूसी पैदा हो गयी और राजस प्रकृति के प्रकोप के कारण उनकी वह पुण्यश्लोकता भी चली गई। तुष-धान्य (भूसी वाले धान्य) के सेवन से उनमें मल-प्रवृत्ति अर्थात् पाखाना की हाजत होने लगी ।।२९½-३१½।।

अब उस तुष-धान्य के भी विलीन हो जाने पर और संचित धान्य के समाप्त हो जाने पर उनकी बड़ी दुर्गति हुई। चीर और वल्कल वस्त्र धारण करने वाले तथा कन्द, मूल, फल पर निर्वाह करने वाले उन लोगों के, समय के फेर से, एक ही वसन्त ऋतु के स्थान पर छः ऋतुएँ हो गईं। अब उनका शरीर दोष, रोग एवं शोक से व्याप्त होने लगा और उनका मन भी काम, क्रोध ईर्ष्या व दैन्य और घृणा आदि से दूषित होने लगा। गर्मी, बरसात, जाड़ा आदि से प्रादुर्भूत महान् आधिदैविक दुःख उपस्थित हुआ। उसके साथ-साथ हिंसक पशुओं के द्वारा प्रादुर्भूत आधिभौतिक दुःख भी उपस्थित हुआ ।।३१½-३४।।

इस प्रकार इन तीनों (आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक) दुःखों से पीड़ित वे अपने मैथुनादि की अभिगुप्ति (छिपाने) के लिए तथा शीतल नीहार, जाड़े, पानी, वर्षा और आंधी आदि से बचने के लिए वृक्षावास से ऊब कर पत्थरों से वृक्षों को काट-काट कर झोंपड़ियों (कुट्टिम-गृहों) को बनाने लगे। कल्पद्रुम के आकार वाले महलों का स्मरण करके एक, दो, तीन, चार, सात तथा दश शाला वाले उसी प्रकार के घरों का निर्माण किया और उनकी प्राकार (परकोटे) तथा परिखाएँ घास आदि से ढककर घर वालों की तरह सुख से रहने लगे ।।३५-३८।।

इस प्रकार शीत, वात, जल एवं ताप से बचाने वाले उन घरों में वे रहने लगे और हर्ष एवं संफुल्ल मन दुःखों से छुटकारा पाकर बहुत काल तक इसी तरह रहते रहे ।।३९।।

वर्णाश्रम-प्रविभाग एवं वास्तु-विनियोग

इसके बाद अमर वृन्द के साथ पितामह ब्रह्मा जी राजा पृथु को लेकर मनुष्यों के दुःखों का उन्मूलन करने के लिए आये ।।१।।

ब्रह्मा उन लोगों को सम्मुख करके बोले—यह राजा पृथु देवों के राजा इन्द्र के समान तुम्हारा राजा होगा । ये दुष्टों के लिए दंड का विधान करने वाले हैं और इनका प्रभाव लोकपालों (इन्द्रादि) के समान है ।।२।।

अपने प्रताप से शत्रुओं को दबाने वाले, सिंह के समान पराक्रमी तुम्हारे लोगों के आधिपत्य के लिए मैंने पृथु का राज्याभिषेक किया है ।।३।।

यह (राजा) सब सज्जन पुरुषों की रक्षा करने वाले हैं। दुष्टों का उन्मूलन करेंगे और वृत्ति (जीविका) के भय को हरने वाले हैं। इस प्रकार यह तुम्हारे राजा होंगे ।।४।।

मेरी आज्ञा से आप लोग इनके शासन में रहें, और यह राजा तुम लोगों के लिए चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों की धर्म से व्यवस्था करेगा ।।५।।

यह कहकर ब्रह्मा जी चले गए। अब पृथु राजा को पाकर वे लोग राजा पृथु से बोले—हे राजन् ! हम लोग बहुत दुःखित हैं । हम लोगों को इस दुःख से बचाइये ।।६।।

हे पृथ्वीपति ! कल्पद्रुम और देवों ने हमें त्याग दिया है। द्वन्द्व के क्लेशों से हमारा चित्त उद्विग्न है । व्यसनों के महासागर में हम लोग डूबे हुए हैं, अतः हम लोगों की आप रक्षा करें ।।७।।

यह सुनने के बाद राजा पृथु ने उन लोगों को समझाया कि तुम लोग डरो नहीं, सुख से रहो । मैं तुम लोगों के दुःखों को दूर करूंगा और सुखों के साधन उपस्थित करूंगा ।।८।।

तदनन्तर राजा पृथु ने चार वर्णों और चार आश्रमों का विभाग किया । उनमें से जो वेद पढ़ते थे, अच्छे आचार वाले थे, संयमी विद्वान् एवं

सुचरित्र थे, वे ब्राह्मण बनाये गये और उनके लिए यज्ञ करना और कराना, अध्ययन और अध्यापन तथा दान, आदान (स्वीकार) यह छः धर्म निश्चित हुए। इनमें से प्रथम तीन धर्म—अर्थात् यजन, अध्ययन एवं दान तीनों वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यों में समान थे ॥९-११½॥

जो लोग बड़े वीर थे, बड़े उत्साही थे, शरण्य थे, अर्थात् शरणागत-पालक थे, रक्षा की व्यवस्था करने के योग्य थे और जिनके शरीर मज़बूत और लम्बे-चौड़े थे वे क्षत्रिय कहलाये। पूर्वोक्त तीनों धर्मों के अतिरिक्त विक्रम, लोक-संरक्षा-विभाग एवं अध्यवसाय ये भी शुभ फल देने वाले इनके धर्म नियत हुए ॥११½-१३½॥

स्वभाव से ही जिन लोगों में नैपुण्य पाया जाता था और धनार्जन के प्रति जिनका सहज अनुराग देखा जाता था और जो श्रद्धालु, कुशल, उदार एवं दयालु थे उनको वैश्य बनाया। चिकित्सा, खेती, वाणिज्य, स्थापत्य, पशु-पोषण यह वैश्य के धर्म कहे गये और उसी प्रकार उनका कर्म भी तैजस हुआ ॥१३½-१५½॥

अब वे लोग जिनका न बहुत आदर होता था और जो न अधिक पवित्र रहते थे और न अधिक धर्म-रत ही थे, ऐसे क्रूर स्वभाव वाले शूद्र कहलाये। उनकी आजीविका कारीगरी पर निर्भर थी, इसलिए कारीगरी, पशु-पोषण और तीनों वर्णों की सेवा करना उनका धर्म नियत हुआ ॥१५½-१७½॥

ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ्य एवं सन्यास ये चार आश्रम उस राजा ने अलग-अलग विभाजित किये ॥१७½-१८½॥

गुरु की सेवा करना, भिक्षा से उदर-पूर्ति करना, व्रतों का पालन करना, हवनादि एवं स्वाध्याय और अभिषेक यह ब्रह्मचारी का धर्म निश्चित हुआ ॥१८½-१९½॥

अग्नि, अतिथि-देवों की पूजा, अपनी वृत्ति से जीविका-निर्वाह, संयम और असमान गोत्रों में विवाह, ऋतुगामिता, दूसरे की स्त्रियों में परांगमुखता, दूसरों के प्रति दयाशीलता, बुरे कार्यों से सदैव अलग रहना यह गृहस्थों का धर्म बताया गया ॥१९½-२१½॥

देवता एवं अतिथि का पूजन तथा सत्कार, ब्रह्मचर्य, वन में निवास, वल्कल एवं मृगचर्म तथा जटा और चीर को धारण करना, भूमि पर सोना, निराहार व्रतों एवं नियमों से शरीर को सुखाना, अकृष्ट-पच्य (अर्थात् बिना

जोती-बोई चीज़ों) कन्द-मूलादि से आहार करना यह बनवासी वाणप्रस्थों का धर्म कहलाया ॥२१½-२३½॥

वैराग्य, इन्द्रियों पर विजय, चिन्ता-त्याग, शान्ति, दारिद्रय एवं अनारम्भ (व्यर्थ के कार्य) यह सन्यासियों का धर्म निश्चित हुआ ॥२३½-२४½॥

क्षमा, गुरु में अधीनता, पवित्रता, स्वाध्याय में नियम-पालन, व्यवहारों में सत्यता यह शिष्य-धर्म प्रतिपादित किया गया ॥२४½-२५½॥

वाणी, मन और शरीर से शुद्ध रहना, पति की सेवा करना, क्षमा, पति से पूजित व्यक्तियों का आदर करना और सदैव शुद्ध रहना, ऐसा स्त्रियों का धर्म प्रतिपादित किया गया ॥२५½-२६½॥

इस प्रकार वर्णों एवं आश्रमों का ठीक-ठीक विभाग करके पुनः वर्णों और वर्णों से उत्पन्न अन्य वर्णों का विभाग करके भिन्न-भिन्न धर्मों की राजा पृथु ने स्थापना की। और इनके कर्म की वृत्तियों को भी अलग-अलग प्रतिपादित करके बतलाया कि तुम लोग जो अपने धर्म में स्थिर रहोगे तो दोनों लोकों में सुख पाओगे। इसके विपरीत जो लोग इस मर्यादा का उल्लंघन करके विपरीताचरण करेंगे, उनका मैं यम के समान क्रुद्ध होकर नियन्त्रण करूंगा। इसके अतिरिक्त अपनी-अपनी आजीविका का उपार्जन करने के लिए और अपने जीवन-यापन करने के लिए अपने-अपने कर्मों में तुम लोगों के लगे रहने पर मैं तुम लोगों के लिए खेटक, ग्राम, पुर, और वेश्म (घर) की रचना करूंगा। उन लोगों से यह कहकर तदनन्तर अपने धनुष की कोटि से विशाल पराक्रमी राजा पृथु ने विषमा पृथ्वी का साधन किया। उससे दुःखित होकर वह गो हो गई ॥२६½-३१॥

और फिर राजा पृथु ने ब्रह्मा के आदेश से संसार के कल्याण के लिए ठीक तरह से सस्यों का दोहन किया। पर्वतों एवं सरिताओं के अन्तरावकाशों तथा बराबर स्थानों पर उसने पुर, नगर आदि के निर्माण के लिए विभाग किये ॥३२-३३½॥

इस प्रकार राजा पृथु के द्वारा सीराग्रकृष्टा (सीर=हल के अग्रभाग से जोती हुई) यह पृथ्वी वर्षागम पर धान्यादि के वपन से ससस्या (सधान्य) बनी ॥३३½-३४½॥

हे वत्स! इस प्रकार मैंने तुमसे प्रथम राजा के आविर्भाव का वृत्तान्त बताया। साथ ही साथ आश्रम-भेद (ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ्य तथा सन्यास

इन चारों आश्रमों का भेद) एवं वर्ण ब्राह्मणादि चातुर्वर्ण्य का भेद बताया और उनके अलग-अलग धर्मों का व्याख्यान किया। कृषि-व्यतिकर (काश्तकारी) भी बता दी। अब पूर्णरूप से[1] देश-विभाग एवं भूमि-विभाग को सुनो ॥३४½-३५½॥

---

१. देश-विभाग एवं भूमि-विभाग आगामी अध्याय के बाद द्रष्टव्य होंगे। देखो समराङ्गण-सूत्रधार के अध्यायों का पुनर्गठन।

विशेष

वैसे तो अन्य शिल्प-ग्रन्थों, जैसे मानसार, मयमत, शिल्प-रत्न आदि, में वास्तु का अर्थ तथा वास्तु-कला का क्षेत्र—भवन, प्रासाद, राजहर्म्य, प्रतिमा तथा पुर तक ही सीमित है परन्तु इस ग्रन्थ के इन औपोद्घातिक अध्यायों में वास्तु-कला का क्षेत्र पुर से आगे बढ़कर जनपद एवं देश अथवा सम्पूर्ण मही तक फैल गया है। महासमा पृथ्वी तथा पृथु की अवतारणा सम्पूर्ण पृथ्वी के निवेशोपक्रम, वसति-योग्यता, वास-स्थान जनपद-निवेश एवं सृष्टि-विभाग तथा भूगोलादि वर्णन विश्व-योजना की ओर संकेत करते हैं। इस प्रकार भारतीय वास्तु-कला का विषय साधारण अथवा विशिष्ट भवनों एवं उन भवनों एवं प्रासादों के निवेश-स्थान, ग्रामों, खेटकों, पत्तनों, पुट-भेदनों, एवं पुरों तक ही सीमित न रहकर पुर-समूह जनपद एवं जनपद-समूह राष्ट्र या देश तथा राष्ट्र-समूह भूमण्डल तक विस्तृत हो गया है तो तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से ठीक ही है।

अन्तर्देशीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय योजना आगे बढ़ती हुई महासमा-योजना की महा-योजना की ओर तो संकेत करती ही है साथ ही साथ हम यह भी जानते हैं कि महासमा अर्थात् पृथ्वी, भूलोक इस बृहद् विश्व का एक अति लघु भाग है। सौर-मण्डल में पृथ्वी के परिमाण से हम परिचित हैं। भू-वासियों का जीवन दूसरे ग्रहों से अनिवार्य रूप से प्रभावित है। अतः अन्तर्देशीय अन्योन्याश्रय की भांति अन्तर्ग्रहीय अन्योन्याश्रय भी बोद्धव्य है। अतः इन औपोद्घातिक अध्यायों का मर्म स्पष्ट है और वे भारतीय वास्तु-शास्त्र के व्यापक दृष्टिकोण को किस प्रकार से पोषित करते हैं, यह भी स्पष्ट है।

द्वितीय पटल

सामान्य (पारिभाषिक)

१. वास्तु-कर्ता एवं वास्तु-कर्म
(स्थपति एवं स्थापत्य)

२. वास्तु-परीक्षा
(भूमि-परीक्षा एवं देश-चयन)

३. वास्तु-मान
(हस्त-लक्षण)

४. वास्तु-आरम्भ
(अ) आयादि-विचार
(ब) इन्द्रध्वज-स्थापन

५. वास्तुपद-विन्यास

६. वास्तु-पद-देवता-बलि

७. वास्तु-संस्थान

८. शिला-न्यास

९. कीलक-सूत्र-पात

वास्तु-पुरुष
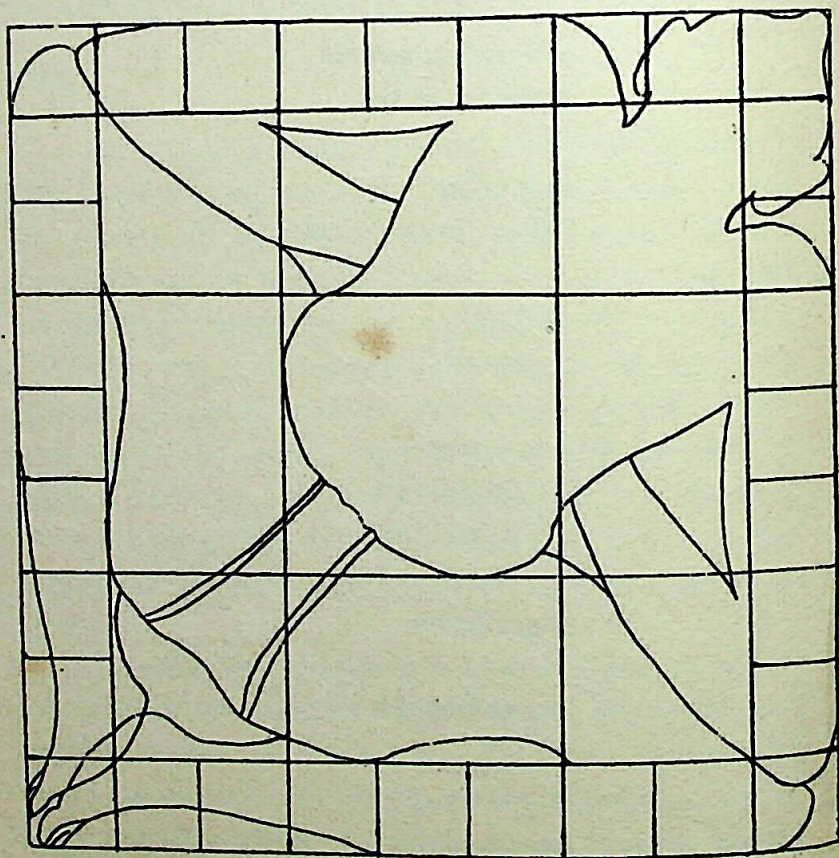
स्थपति-लक्षण

(चतुर्धा स्थापत्य)

अब क्रमप्राप्त स्थापत्य का मैं वर्णन करता हूँ जिसके जानने से स्थपतियों के गुण-दोषों का ज्ञान होता है। यह स्थापत्य चार प्रकार का होता है शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा तथा क्रियान्वितशील अर्थात् आचरण। इस प्रकार लक्ष्य (उदाहरण) तथा लक्षण अर्थात् शास्त्र में निष्ठा रखने वाला नर ही स्थपति होता है ॥१-२॥

उस शास्त्रज्ञ स्थपति को सामुद्र (सामुद्रिक शास्त्र), गणित, ज्योतिष, छन्दस्, शिरा-ज्ञान, शिल्प तथा यन्त्र-कर्म-विधि वास्तु-शास्त्र के इन अङ्गों को जानना चाहिए और उस बुद्धिमान् स्थपति को शास्त्र के अनुसार लक्षणों को समझकर कार्य करना चाहिए ॥३-४॥

प्रसिद्ध शास्त्र-सिद्धान्तों से अपने वास्तु-ज्ञान का उसे प्रसाधन करना चाहिए, वास्तु-पद-विन्यास में सुनिश्चित शिरावंशों सहित मर्मवेधों के द्वारा वास्तु के अंग-प्रत्यंग को शास्त्रानुसार जानना चाहिए ॥५-६½॥

जो व्यक्ति शास्त्र को न जानकर कार्य-संचालक स्थपति का ढोंग बाँधता है, उस राजहिंसक कुस्थपति को राजा स्वयं, मृत्यु के समान, उसे मारे क्योंकि ऐसा स्थपति मिथ्या-ज्ञान के कारण अहंकारी है; और जिसने शास्त्र में परिश्रम भी नहीं किया है वह संसार में लोगों की अकारण मृत्यु के समान विचरण करता है और जो स्थपति केवल शास्त्र को जानता है और कर्म में अपरिनिष्ठित अर्थात् अदक्ष है, वह क्रियाकाल में युद्ध को देखकर डरपोक के समान मोह को प्राप्त होता है। इसके विपरीत जो केवल कर्म को ही जानता है और शास्त्र के अर्थ को नहीं जानता, वह दूसरे के द्वारा मार्ग-विवश अन्धे के समान ले जाया जाता है ॥६½-१०½॥

वास्तव में वही स्थपति कर्मविद् एवं कर्मदक्ष होता है जो निम्नलिखित वास्तु, शिल्प एवं चित्र के कर्मों को ठीक तरह से जानता है—

(क) वास्तु-विधान का पूरा ज्ञान तथा उसके रेखा-चित्रों आदि में वास्तु-विधि अर्थात् विनिवेश्याविनिवेश्य स्थानों के मान (प्रमाण), उन्मान (विशिष्ट मान) के साथ-साथ वास्तु-क्षेत्र से सम्बन्धित अखिल कर्मों के कौशल की अनिवार्य योग्यता।

(ख) चौदह लुमा-लेख—लुमा, वितान (डोम) की सहचरी है वह शिल्प-कला में आती है। प्रासाद-वास्तु में वितान-रचना एवं लुमा-विन्यास प्राचीन

भारतीय स्थपतियों का विशद वास्तु-वैदग्ध्य माना जाता था। इसी प्रकार चतुर्विध गण्डिकाच्छेद का विज्ञान भी परम निष्णात स्थपतियों की कला है। लुमा प्रस्तर-कला (प्लास्टर) में आती है तथा गण्डिका का सम्बन्ध पाषाण-कला से है। दोनों ही पुष्पाकृतियों में निर्मेय एवं छेद्य हैं। लुमा-रचना एवं गण्डिकाच्छेद के समान सप्तविध वृत्तच्छेद भी शिल्पकला के पुष्ट परिपाक में परिकल्पित है। गोल-गोल पुष्पों की कारीगरी कतिपय मध्यकालीन राजभवनों में आज भी दर्शनीय है। प्राचीन वास्तु-कला इतनी अलंकृत थी कि उसमें शिल्प एवं चित्र दोनों ही अनिवार्य सहचर थे। इस प्रकार सन्धिकर्म, सन्धान-कर्म आदि रेखाकर्म आदि के सुश्लिष्ट विशुद्ध वास्तु-कृत्य को जानने वाला ही सच्चा कारीगर समझा जाता था ॥१०½-१२॥

शास्त्र तथा कर्म दोनों में समर्थ अर्थात् दक्ष होता हुआ भी बिना नवनवोन्मेषशालिनी प्रज्ञा के स्थपति मदहीन हाथी के समान है। जो स्थपति प्रत्युत्पन्नमति कार्यवाहक होता है, वह अपने प्रज्ञा-ज्ञान से कर्म-काल में मोह को प्राप्त नहीं होता है। अप्रज्ञेय, दुरालोक, गूढ़ार्थ, बहुविस्तर इस वास्तु-सागर का संतरण प्रज्ञारूपी जहाज पर चढ़कर प्रज्ञावान् स्थपति ही सम्पादित कर सकता है ॥१३-१५॥

ज्ञानी, वाग्मी और कर्मनिष्ठ एवं कर्म-कुशल होने पर भी स्थपति श्रेष्ठ नहीं कहा जाता, यदि वह शील (आचार) अर्थात् ईमानदारी से रहित है। रोष से, द्वेष से, लोभ से, मोह से और राग से अपनी दुःशीलता के कारण वह अचिन्त्य हो जाता है। शीलयुक्त स्थपति लोक में पूजित होता है, शीलवान् स्थपति सज्जनों के द्वारा भी समर्थित होता है तथा शीलवान् स्थपति ही सब कर्मों के योग्य है। ऐसे शीलशाली स्थपति का दर्शन प्रिय-दर्शन कहा गया है। इस-लिए शील की प्राप्ति एवं निष्ठा में स्थपति को पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये। शील से ही कर्मों की सिद्धि होती है और वे ही कर्म कल्याणदायक होते हैं जो शीलवान् स्थपतियों के द्वारा सिद्ध होते हैं ॥१६-१९॥

स्थपति के द्वारा निम्नलिखित आठ कर्मों का ज्ञान-सम्पादन परमावश्यक है—आलेख्य (चित्रकारी), लेख्यजात अर्थात् लेप-कर्म, दारुकर्म, काष्ठ-कला (पच्चीकारी), चय (चुनाई), पत्थर, पारा और धातु (सोना आदि) की कारीगरी और शिल्प-कर्म इन गुणों से युक्त स्थपति ही पूजित होता है। इन आठ अंगों से युक्त चार प्रकार के स्थापत्य (शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा तथा शील) को जो विशुद्ध बुद्धि वाला स्थपति जानता है, वह शिल्पियों के समाज में पूजित होता है, उत्कृष्ट प्रतिष्ठा प्राप्त करता है और चिरायु होता है ॥२०-२२॥

अष्टाङ्ग-लक्षण

(अष्टाङ्ग-स्थापत्य)

वास्तु-तत्व की सिद्धि के लिए चार प्रकार का स्थापत्य (शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा, तथा शील) बताया गया है। उसी का अब आठ अङ्गों से युक्त अर्थात् अष्टाङ्ग स्थापत्य का वर्णन किया जाता है। उन अंगों में पहला अंग वास्तु-पुरुष की विकल्पना बतायी गई है। पुरनिवेश, द्वार-कर्म, रथ्या-विभाग, प्राकार-निवेश, अट्टालक-निवेश, प्रतोली-विनिवेश और विभाग-स्थान (अन्य नगर-विभाग) दूसरा अंग समझना चाहिए और तीसरा अंग प्रासाद-निर्माण और चौथा अंग ध्वजोच्छ्रिति (इन्द्र-ध्वज की ऊँचाई) है। पाँचवाँ अंग राजा का वेश्म तथा स्थानान्तर-विभक्ति अर्थात् राजधानी नगर में राजोचित अन्य भवनों का निवेश कहाँ-कहाँ करना चाहिए। चारों वर्णों के अनुरूप तथा पेशेवरों के लिए घर कैसे और कहाँ बनाने चाहियें अर्थात् भवन-निवेश यह छठा अंग है और सातवाँ अंग यजमान की शाला का मान, यज्ञ-वेदी-प्रमाण और कोटि-होम-विधि बताया गया है। आठवाँ अंग है—राज-शिविर-निवेश (छावनी) और दुर्ग-कर्म। जो स्थपति इन आठों अंगों को जानता है वह श्रेष्ठ कहलाता है और वह यश और मान को प्राप्त करता है, तथा राजाओं के द्वारा पूजित होता है ॥१-७॥*

---

* यह भाषानुवाद है। निम्न तालिका मे अष्टाङ्ग-स्थापत्य का सरलीकरण अपेक्षित है—

अष्टाङ्ग-स्थापत्य

१. वास्तु-पुरुष विकल्पना से तात्पर्य साइट-प्लानिंग है अर्थात् यह नगर-निवेश, भवन-निवेश या प्रासाद-निवेश की प्रथम इकाई है। वास्तु-पद-विन्यास आजकल की भाषा में साइट-प्लानिंग या भवन का रेखाचित्र कहा जा सकता है। भारतीय स्थापत्य में यह अत्यन्त प्राचीन परम्परा है और यह वास्तु-कला का मौलिक सिद्धान्त है जिसके द्वारा भवन के दिङ्सामुख्य आदि पर पूर्ण प्रकाश पड़ता है। इसकी सविस्तर चर्चा आगे के अध्याय में की जावेगी।

२. पुर-विनिवेश तथा द्वार-कर्म—प्राचीन काल के नगर-निवेश अर्थात्

टाउन-प्लानिंग में सबसे पहले रक्षा, यातायात एवं स्थानादि-विभाग के लिए चारों दिशाओं एवं चारों उपदिशाओं में महाद्वारों एवं पक्षद्वारों का विधान परमावश्यक था। गोपुर-द्वार, प्रतोली, (पौरि) आदि आज भी प्राचीन स्मारकों में प्राप्त होते हैं।

द्वार-कर्म नगर के चारों ओर प्राकार-वलय पर आश्रित था अतः प्राकार-रचना, परिखा-खनन, वप्र-निर्माण, अट्टालक-विनिवेश आदि नगर-निवेश के प्रमुख अंग हैं। साथ ही साथ नगर की साइट-प्लानिंग नगर के मार्गों (राजमार्ग, रथमार्ग, यानमार्ग, घण्टामार्ग आदि नानावर्गीय प्रधान मार्गों) तथा प्रतोली (गली) आदि उपमार्गों पर आश्रित थी।

३. प्रासाद-निर्माण से तात्पर्य देव-मन्दिर-निर्माण है। समराङ्गण-सूत्रधार—वास्तु-शास्त्र में प्रासाद शब्द पारिभाषिक है जो केवल देव-मन्दिरों के लिए प्रयोज्य है। राज-प्रासादों के लिए राजवेश्म का प्रयोग किया गया है। मन्दिर-निर्माण भारतीय वास्तुकला की मूर्धन्य विभूति है। इस ग्रन्थ के दूसरे भाग में प्रासाद शब्द एवं उससे सम्बन्धित नाना अन्य विषयों जैसे उत्पत्ति, प्रतिकृति, आकार, संस्तव, अंग, प्रत्यङ्ग, भूषा, शिखर, रचना, शैली, देववृन्द, मण्डप, गोपुर, प्राकार आदि पर प्रकाश डाला जायेगा।

४. ध्वजोच्छ्रिति अर्थात् शक्रध्वजोत्थान (देखिए आगे का अध्याय)—यहाँ पर इतना ही सूच्य है कि प्राचीन स्थपतियों की परम्परा में इन्द्र उनका इष्टदेव माना जाता था अतः वे लोग इन्द्र-महोत्सव करते थे। इस महोत्सव में वे एक विमानाकार रथ बनाकर जुलूस निकालते थे।

५. नृपति-वेश्म अर्थात् राजवेश्म। राज-वेश्म की रचना भी प्रासाद (देव-मन्दिर) की रचना के समान भारतीय स्थापत्य का प्रमुख अंग है। राज-निवेश एक नगर-निवेश के समान निवेश था जिसमें राजोचित नाना हर्म्यों, भवनों, सौधों के साथ ५, ६, ७ कक्षाएँ, मण्डप, क्रीडास्थान, पड़ाव, दूतावास, अन्य राजाओं के उपयुक्त स्थानों के साथ-साथ बाजार, सड़कें और चित्र-शालाएँ आदि भी निवेश्य होती थीं।

६. चातुर्वर्ण्य-विभाग से तात्पर्य ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के अतिरिक्त अन्य व्यवसाय-जीवियों के घर कहाँ-कहाँ निवेश्य हैं—यह भी एक प्रमुख विषय था। इसे आजकल की भाषा में Folk-planning कह सकते हैं। इस अंग का समुद्घाटन ही इस भाग का विषय है। अतः प्राचीन काल में Civil Architecture (Secular or Domestic Architecture) विकसित नहीं था—यह आक्षेप निराधार सिद्ध होगा। जन-भवनों को शाल-भवनों के

जो व्यक्ति अशास्त्रज्ञ (मूर्ख), अकर्मज्ञ (क्रिया-कौशल-विहीन) स्थपति से काम करवाता है उसका वास्तु सिद्ध नहीं होता और सिद्ध होने पर भी वह सुखावह नहीं होता ॥८॥

इसलिए राजा का वही स्थपति हो सकता है जो कर्म और शास्त्र दोनों को जानता है तथा जो स्थापत्य के इन आठ अंगों को समझता है ॥९॥

वास्तुशास्त्र के जो आठ अंग हैं उनमें ५ अंगों का इसी भाग में प्रतिपादन होगा। प्रासादिक अंग का सविस्तर वर्णन आगे करेंगे ॥१०॥

अब उस सातवें अंग का वर्णन करता हूँ जिसका यज्ञों में प्रयोग किया जाता है। पहले पुर-निवेश सम्पन्न कर लें फिर वहाँ पर देव-मन्दिरों के निर्माण करने के बाद दक्षिण-पूर्व दिशा में यज्ञ के लिए अपेक्षित पृथ्वी का माप कर लेना चाहिए। वहाँ पर चारों ओर चौकोर एक स्थान का निवेश करना चाहिए। अठारह हस्त के विस्तार के प्रमाण से उसका आयाम बनाना चाहिए। पूर्वद्वार का निर्माण आदित्य के मद में विद्वानों को करना चाहिए उसके पश्चिम भाग में यजमान की कुटी बनानी चाहिए। उसका विस्तार १६ (सोलह) हाथ के आयाम का कहा गया है और उसकी पूर्वाभिमुखता प्रशस्त मानी गई है। यजमान की कुटी के द्वार पर जो देवता कीर्तित की गई है, उससे प्रारम्भ कर पूर्व से प्राग्वंश का प्रकल्पन करे। उसकी स्थापना वेदी के मध्य भाग में करनी चाहिए। अब प्रकल्पन के उपरान्त वेदि-रचना में प्रक्रम-निवेश आवश्यक है। पूर्व-पश्चिम से ३६ प्रक्रम विद्वानों के द्वारा बताये गये हैं। कुटी-भाग में ३१, बीच में १८, शिरस्थान में २४ प्रक्रम प्रकल्पित किये जाते हैं। पुरुष का शिर उस प्राग्वंश में तो प्रतिष्ठित ही किया गया है, इसलिए सब यज्ञों में पूर्वोत्तर-विनिवेश प्रशस्त समझना चाहिए ॥११-१८॥

दूसरी वेदी ऐसी बनावे, जिसमें शकट जाती है। जो उत्तर वेदी बनाये वह उत्तर की तरफ़ हो। द्विहस्त आयाम-विस्तार वाला यहाँ पर यज्ञार्थ-होम-स्थान स्थापित करे। यजमान का संस्थान प्राग्दक्षिण में कहा गया है। सदैव कटिपर्यन्त अथवा नाभिमात्र उसे बनाना चाहिए, उससे अधिक बनाने पर रूप में विन्यास किया जाता था। इनके निर्माण में सहज-प्राप्य वन्य-सामग्री (विशेषतः दारुमय) का उपयोग किया जाता था अतः वह अचिरान्नाशोन्मुख होने के कारण स्मारकों में बहुत कम पाई जाती है। किसी भी प्राचीन नगर-निवेश में जहाँ-तहाँ कोई मकान नहीं बना सकता था। सब के अपने-अपने पद संरक्षित थे। यही वर्णानुरूप तथा व्यवसायानुरूप निवेश-व्यवस्था है।

अस्तु! अन्य अंगों का विशदीकरण अपेक्षित नहीं।

दुर्भिक्ष अथवा अनावृष्टि होती है। यह यज्ञ-क्रिया कही गई है, अब कोटि-होम कहेंगे ॥१९-२२½॥

पुर के अभ्यन्तर भाग में तथा अग्नि के पद में (पुर में) सदैव कोटि-होम करना चाहिए, तथा नित्य अथवा नैमित्तिक लक्ष-होम करना चाहिए ॥२२½-२३॥

अब भूमिवश कदाचित् यदि स्थान न प्राप्त हो, तो सब तरह ब्रह्मा के स्थान से होम के स्थान का निवेशन करे। ईशान दिशा का अवलम्बन करके वेदज्ञ ब्राह्मणों के द्वारा यह कार्य करवाना चाहिए। ऐसे ब्राह्मण पुरश्चरण के तत्वज्ञानी तथा षट्कर्म-निरत होने चाहिएँ। ऐसे नित्य शान्ति-परायण ब्राह्मणों के द्वारा राजा विजयी होता है। न तो वहाँ पर उपसर्ग उत्पन्न होते हैं और न लक्ष्मी उस पुर को छोड़ती है। अनावृष्टि का भय नहीं रहता। सदा सुभिक्ष रहता है। सब अंगों से यह याज्ञिक अंग प्रशस्त कहा गया है। स्थपति को तत्वज्ञ ब्राह्मणों के साथ यह सब समझ लेना चाहिये। यज्ञ-भूमि को ८१ पद (एकाशीति-पदवास्तु) से ही नापना चाहिए ॥२४-२८॥

अब आठवें अंग शिविर का निवेश कहता हूँ। जब राजा अपने स्थान से यात्राभिमुख हो तब तत्ववेत्ता स्थपति को शिविर के निवेश की परीक्षा करनी चाहिए और राजा को अर्थशास्त्र के जानने वाले विद्वान् अथवा स्वयं स्थपति के द्वारा उसका प्रकल्पन करवाना चाहिए ॥२९-३०॥

शिविर चौकोर होवे और कहीं पर वृत्त (गोल), वृत्तायत अथवा चतुर-आयत अथवा कहीं पर विषम भी हो सकता है। भूमि-भाग-वश दोनों तरफ़ महारथ्याओं से उसे युक्त करना चाहिए। शिविर के यत्नपूर्वक चार दरवाजे बनाने चाहिएँ ॥३१-३२॥

पुर-रथ्या-प्रमाण से सेना की रथ्या (सेना के जाने की सड़क) आधी होती है। शिविर स्थापना की आकृति के सम्बन्ध में यह प्रतिपादित किया गया है कि राजा के निवास का स्थान मित्र-पद पर अथवा पृथ्वीधर पर करना चाहिए, अथवा अर्यमा के पद पर या वैवस्वत के पद पर कहा गया है। मन्त्रियों का निवेश राजवेश्म के पश्चिम भाग में, पुरोहित का उत्तर में, बलाध्यक्ष अर्थात् सेनापति का पूर्व में, तथा अन्तःपुर और भांडागार दक्षिण में हो ॥३३-३५॥

राजा के गृह-प्रवेश करने पर दक्षिण की ओर घोड़ों का न्यास करना चाहिए और बाएँ हाथ हाथियों का न्यास करना चाहिए। इस प्रकार सैन्य का निवेश बताया गया है ॥३६॥

उस राज-वेश्म के बाहर परिखा बनानी चाहिए। उसका प्रमाण तीन, चार अथवा पाँच हाथों का कहा गया है। शिविर का विभाजन विद्वानों के द्वारा ६४ पद-वास्तु से कहा गया है। इस प्रकार के शिविर का निवेश बताया गया। अब दुर्ग-कर्म बताया जाता है ॥३७-३८॥

विजयार्थी राजा के लिए ६ प्रकार के दुर्ग कहे गए हैं—जल-दुर्ग, पंक-दुर्ग, बन-दुर्ग, ईरिण-दुर्ग, पर्वतीय तथा महा-दुर्ग। इस प्रकार छः दुर्गों की प्रकल्पना राजाओं को करानी चाहिए। सब दुर्गों में पर्वतीय दुर्ग प्रशस्त कहा गया है ॥३९-४०॥

दुर्ग का स्थान-विभाग १६ पद-वास्तु से बताया गया है। मध्य में ब्रह्मा का असंबाध स्थान कहा गया है। ब्रह्म-स्थान से लेकर राज-हर्म्य को ५ हाथ के प्रमाण से बनाना चाहिए। उप-रथ्याएँ तीन हाथ और बाकी सड़कें दो हाथ की कही गई हैं। समीप ही चारों ओर सब दुर्ग-रथ्याओं का विभाग कहा गया है। रथ्या के प्रमाण से ही द्वार बनाना चाहिए। परन्तु वह बहुत ऊँचा न हो, जिससे कि शत्रु की सेना उसमें प्रवेश कर सके। उसे सदैव सुरक्षित होना चाहिए ॥४१-४४½॥

दुर्ग-नायक के घर का स्थान ब्रह्म-स्थान के चारों ओर होवे, वैवस्वत, अर्यमन्, मैत्र अथवा पृथ्वीधर वास्तु-पदों के इन किसी देव-पदों पर दुर्गेश्वर का स्थान विनिवेश्य है। जैसा पुर में पहले कहा गया है उसी प्रकार दुर्ग में भी स्थान कहा गया है ॥४४½-४५॥

दुर्ग में वीरों की स्थापना परमावश्यक है। ये वीर शुभ, निर्दोष, राजा के प्रिय, धनुर्वेद-विधि को जानने वाले, अस्त्र चलाने वाले और शास्त्र-पारंगत होने चाहियें। इनके अतिरिक्त बहुत-सी सुन्दरी वीरांगनाओं को भी दुर्ग में स्थापित करवाना चाहिए। अन्तःपुर बनवाना चाहिए। कोशागार का निर्माण भी कराना चाहिए और कुमारों को यहां पर निवास कराना चाहिए ॥४६-४७॥

इस प्रकार से दुर्ग-विधान का संक्षेप हमने बता दिया। वास्तु-शास्त्र का यह अष्टाङ्ग-सार हमने संक्षेप से स्पष्ट बता दिया, जिसके जानने से शिल्पी वास्तु-विद्या-समुद्र को बिना प्रयास पार कर लेता है ॥४८॥

भूमि-परीक्षा

देश-भेद—अब संक्षेप से तुम्हारे लिए देश और देश की भूमियां एवं उनकी संख्या और उनके विभाग कहता हूँ। इसलिए तुम सावधान होकर सुनो ॥१॥

जांगल, अनूप, साधारण इन तीन भेदों से देश-भेद कहलाता है। अब त्रिविधात्मक इस देश का यथावत् लक्षण बतलाता हूँ ॥२॥

जांगल—जिस देश में पानी दूर हो, जो ईरिण-प्राय हो अर्थात् जहाँ पर रेत बहुतायत से पाई जाती हो, जहाँ छोटे-छोटे कांटेदार पेड़ हों, जहाँ पर वायु खुश्क, गर्म और तेज़ चलती हो, इसके अतिरिक्त जिसकी मिट्टी काली हो उसे जांगल देश कहते हैं ॥३॥

अनूप—इसके विपरीत जिस देश में पानी नज़दीक हो, जो देश स्निग्ध हो, निम्न हो, शीतल हो और जहाँ पर मछलियां, मांस, नदियां, सुन्दर-सुन्दर चिकने-चिकने ऊँचे-ऊँचे पेड़ बहुत संख्या में पाये जाते हों, वह अनूप देश कहलाता है ॥४॥

साधारण—जिस देश में ऊपर कहे गए दोनों देशों के लक्षण मिलते हों और जो न अधिक ठंडा हो और न अधिक गर्म, उसको देश-विशारदों ने साधारण देश माना है ॥५॥

जांगल आदि तीनों देशों में अपने-अपने लक्षणों से युक्त सोलह भूमियां निम्न प्रविभाग से जाननी चाहिएँ। वे हैं—१. बालिश-स्वामिनी, २. भोग्या, ३. सीता-गोचर-रक्षिणी, ४. अपाश्रयवती, ५. कान्ता, ६. खनिमती, ७. आत्म-धारिणी, ८. वणिक्-प्रसाधिता, ९. द्रव्य-वती, १०. अमित्र-घातिनी, ११. आश्रेणी-पुरुषा, १२. शक्य-सामन्ता, १३. देव-मातृका, १४. धान्य-शालिनी, १५. हस्तिवनोपेता और १६. सुरक्षा। इस प्रकार से ये सोलह भूमि की संज्ञाएँ बताई गई हैं। अब इनके अलग-अलग लक्षण कहता हूँ ॥६-९॥

जो भूमि बालिश राजा के द्वारा भी शासित की जा सकती है और जहां पर भद्र पुरुष रहते हैं उसको बालिश-स्वामिनी भूमि कहते हैं ॥१०॥

जहां पर सुन्दर कान्ति वाले पुरुष भाग अर्थात् अपनी पैदावार का

भाग भोगादिक कर अधिकतया देतें हैं उसको भोग्या भूमि कहते हैं ॥११॥

जिस पृथ्वी पर पर्वत के मध्य में अथवा बाहर नदियां और नद पाये जाते हैं और जिसकी सीमा और क्षेत्रादि विभक्त हैं उसको सीता-गोचर-रक्षिणी पृथिवी कहते हैं ॥१२॥

जिस भूमि की सरिताओं, उसके पर्वतों और वनों में मनुष्य बड़े भय से प्रवेश करता है और जो मनुष्यों के आश्रय के उपयुक्त न हो उसे अपाश्रयवती कहते हैं ॥१३॥

जहां पर पर्वत, सरिताओं और कुञ्जों से भूमि रमणीक प्रतीत होती हो, जहां पर मनुष्य रहने के लिए लालायित रहते हों, उसको कान्ता भूमि कहते हैं ॥१४॥

जिस पृथ्वी पर सोना, चांदी आदि धातुएँ सदैव पैदा होती हों, और जहां नमक खूब पाया जाता हो, उसे खनिमती पृथ्वी कहते हैं ॥१५॥

जो भूमि दंड-कोष तथा आसन अर्थात् राजा के दर्बार में आसन आदि से (अर्थात् जहाँ के लोग दंड के भय से धन और नौकरी के लोभादि से भी वश्य न हों) वशीकृत न किये जा सकें और जहाँ पर आदमियों का निवास न्यून मात्रा में पाया जाता है, उस भूमि को आत्म-धारिणी कहते हैं ॥१६॥

जहाँ पर बाज़ार में बेचने-खरीदने योग्य वस्तुएँ निरन्तर प्रसिद्ध हों और वैश्यों से जो प्रसाधित एवं अलंकृत हो उसको वणिक्-प्रसाधिता भूमि कहते हैं ॥१७॥

जो भूमि शाक, अश्वकर्ण (वृक्ष-विशेष), खदिर (खैर), श्रीपर्णी (वृक्ष-विशेष), स्यन्दन (वृक्ष-विशेष), आसन, बांस, वेत्र, शर आदि वृक्षों से युक्त हो उसको द्रव्यवती भूमि कहते हैं ॥१८॥

जहां पर जनपद (देश) ठीक प्रकार से विभक्त हैं और विक्रम को छोड़े हुए हैं, अर्थात् परस्पर लड़ाई-झगड़ा नहीं करते और जहां पर मित्र लोग परस्पर मेल रखते हैं उसको अमित्र-घातिनी पृथ्वी कहते हैं ॥१९॥

जिस भूमि पर किले में बन्द क्षुद्र कैदी न हों और जो विनीत पुरुषों के द्वारा परिपूरितं हो, उस पृथ्वी को आश्रेणी-पुरुषा कहते हैं ॥२०॥

जहां पर सामन्त अर्थात् मांडलिक राजा मन्त्र एवं उत्साहादि से पराङ्मुख रहते हैं उस प्रकार की भूमि को शक्य-सामन्ता कहते हैं ॥२१॥

जहां पर मेघादि की प्रतीक्षा न कर नदी आदि के जलों से लोग अपनी खेती करके निर्वाह करते हैं, उस भूमि को देव-मातृका कहते हैं ॥२२॥

जहां पर बोये गए बीज बिना प्रयास के ही अधिक पैदा होते हैं तथा जहां पर जुते हुए खेत कभी बाढ़ आदि से नष्ट नहीं होते हैं, उस कृष्टानुपहृत-क्षेत्र-भूमि को धान्या भूमि कहते हैं ।।२३।।

जिस भूमि के पर्यन्त पर्वतों में हाथियों के वन पाये जाते हैं और जो राजा की सैन्य-वर्धनक्षम हो उसको हस्तिवनोपेता पृथ्वी कहते हैं ।।२४।।

जो भूमि नित्य विषम होने के कारण शत्रुओं के द्वारा काबू में न की जा सके और जो विषम पहाड़ों और नदियों के द्वारा रक्षित हो उसको सुरक्षा भूमि कहते हैं ।।२५।।

इस प्रकार से भूमि के क्रमशः सोलह प्रकार मैंने बताये । अब जनपदादि की भूमियों के सम्मिश्रित लक्षणों वाली अन्य भूमियों के विषय में कहता हूँ ।।२६।।

जनपदों, खेटों (खेड़ों), ग्रामों, नगरों के बसाने योग्य जो प्रशस्त भूमियाँ वास्तु-शास्त्र में बतायी गयी हैं उनका वर्णन करता हूँ। जो भूमियाँ धातुओं के स्पन्दन से शोभित कुंजों, गुल्मों, वृक्षों, लताओं आदि से ढके हुए और बड़ी-बड़ी शिलाओं वाले पर्वतों से चारों तरफ़ से घिरी हों; तीर्थों के अवतार नहाने योग्य सुन्दर मीठे जल वाली नदियां जहां अधिक पायी जाती हों, और जिन नदियों के किनारे चित्र-विचित्र पेड़ों से शोभित हों; जिन भूमियों के वनों में कोकिलाओं के मधुर आलाप हो रहे हों, जहां पर मधुमत्त भौंरे गुंजार कर रहे हों और चित्र-विचित्र फल-पुष्पों से जो सुशोभित हों, जिस देश में पानी का आधिक्य हो, भरे पूरे तालाब, देवखात, आदि जलागार हों, जिनमें कमलों पर भौंरों की श्रेणी गुंजार करती हुई शोभा दे रही हो; जो बराबर सुगन्धयुक्त, सुन्दर, शीतल एवं अभंगुर तथा अक्षत सीमा वाले धान्य को उत्पादन करने वाले क्षेत्रों से ढकी हुई हों; ऐसे गोचरों अर्थात् चरागाहों से शोभित हों, जिनकी क्षेत्र-सीमाएँ विभक्त हैं और जहां बहुतायत से घास और ईंधन पाये जाते हैं, और बिना कांटे वाले वृक्ष और सुडौल पत्थर एवं वल्मीक भी हों; छोटे-छोटे सुन्दर श्यामल-शस्य-समुद्रों के अन्तरावकाश में प्राप्त मीठे और शीतल जल वाली वसुंधराएँ जहां प्रशस्त मानी गई हों; जो भूमियाँ दुष्टों के द्वारा सताई नहीं जा सकतीं और जहां पर अनेक घर बनाये गये हैं; जहां पर भय और व्याकुलता का नाम नहीं है और जहां पर मन खूब रमता है—ऐसी उपरोक्त गुणवाली भूमि पर यथास्थान जनपद, खेटक, ग्राम, पुरादि का विनिवेश करना चाहिये ।।२७-३५।।

अब दुर्ग-निवेशोचित भूमियों का वर्णन करता हूं। दुर्ग के लायक चार प्रकार की प्रशस्त भूमियां कही गई हैं—पर्वत, वन, जल, तथा प्राकार। इनमें से गिरि-दुर्गावनि अर्थात् पहाड़ में किले के लायक भूमि वह होती है जो दुरारोहता के कारण भीतर से छेनी से काट-काटकर समतल बनाई जाती है। जहां तक मूल-दुर्गावनि अर्थात् जंगल में बनाने लायक किले के उपयुक्त पृथ्वी का प्रश्न है, वह इस प्रकार के जंगल में होनी चाहिये जहां का रास्ता बड़ा ही गूढ़ हो और जहाँ पर काँटे वाले पेड़ हों और जलाशय पाये जाते हों। अब जल-दुर्ग के उपयुक्त पृथ्वी के विषय में यह कहना है कि स्वादु जल वाले द्वीपों में जहाँ पर अगाध जल भरा हो, जल के बाहर रमणीक प्रान्त-भूमियाँ दिखाई पड़ती हों—वैसी भूमि जलदुर्ग के लिये प्रशस्त होती है। शेष प्राकार-परिखोपेत दुर्ग स्पष्ट है ॥३६-३६॥

अब पुर-निर्माण के उपयुक्त सुन्दर भूमियों का वर्णन किया जाता है। स्निग्ध, सारवाली, शुद्ध, दक्षिण में जलाशयों से युक्त, बहुत पानी वाली, घने वृक्षों से ढकी हुई और पूर्व की ओर जिनका प्लव हो, दूब, ओषधियां, मूंज, कुरुन्द, कुश और बल्कल घिरे आदिकों की बहुतायत हो; स्वादु और स्वच्छ पानी के जहाँ जलाशय हों; वास्तु, यज्ञों, देवमन्दिरों, बगीचों, आदि की सामग्री जहाँ पाई जाती हो अथवा शिल्प, यज्ञ, देवमन्दिर, आराम, उद्यान आदि से जो सम्भृत हों, तड़ाग और वापियों के स्थान से सुशोभित हों, जहाँ पर वाहन सुख-पूर्वक चल सकते हों और मिथुनों के लिये जहाँ पर रतिप्रद स्थान पाये जाते हों ऐसी भूमियों पर नगर, पुर, ग्राम आदि का निवेश अभीष्ट है। ॥४०-४३॥

ब्राह्मणादि अखिल वर्णों के लिए जो मही प्रशस्त मानी गई है अब उसका वर्णन करते हैं। जो कुंकुम, अगरु, कपूर, इलायची, चन्दन आदि वृक्षों से मिश्रित रूप में अथवा अलग-अलग सुगन्धित हों; जो कमल (कल्हार), रक्त-कमल, मालती, चम्पक, नील-कमल आदि स्थल अथवा जल में पैदा होने वाले पुष्पों से सुगन्धित हों, जो गो-मूत्र, गोमय, (गोबर), दूध, दही, शहद, आज्य, (यज्ञ-सामग्री) आदि पदार्थों की गन्ध धारण करने वाली हों; जो मदिरा, माध्वीक (एक प्रकार की अंगूरी सुरा), गजमद, एवं आसवों के समान गन्ध वाली हों तथा शालि-धान्य के पीसने से जो गन्ध निकलती है उस गन्ध के समान अथवा धान के सुगन्धों से सुगन्धित जो भूमियाँ हैं, उन पर ब्राह्मणादि सभी वर्णों के लिए ग्रामादि-निवेश इष्ट होता है ॥४४-४७॥

वर्णानुरूप—सफेद, लाल, पीली, काली पृथ्वी क्रम से विप्रादि वर्णों के लिये अथवा सभी के लिये हितकारक कही गई है ॥४८॥

स्वादानुरूप—मीठी, कसैली, तीखी, कड़वी, क्रमशः ब्राह्मण जातियों के लिए भूमि प्रशस्त मानी गई है। अर्थात् मधुरा ब्राह्मणों के लिए, कषाया क्षत्रियों के लिये, नितिक्ता वैश्यों के लिये एवं, कटुका शूद्रों के लिये विहित है। अथवा मीठी ही सब वर्णों के लिये प्रशस्त मानी गई है ॥४६॥

स्पर्शानुकूल—जो पृथ्वी ग्रीष्म के आगमन पर ठंडी मालूम पड़े और जाड़ा आने पर गर्म मालूम पड़े और वर्षा में गर्म और ठंडी दोनों मालूम पड़े, उसको (आचार्यों ने) प्रशस्त भूमि कहा है ॥५०॥

शब्दानुरूप—जो पृथ्वी मृदंग, वल्लकी (वीणा, सितार), वेणु, दुन्दुभि की ध्वनि के समान ध्वनि देती है और जिनकी हाथी, घोड़े, समुद्र की ध्वनि के समान ध्वनि होती है वे शुभ भूमियाँ कही गई हैं ॥५१॥

अब उन अप्रशस्त अर्थात् अधम भूमियों का लक्षण बताते हैं जो पुर आदि के सन्निवेश के लिए परित्याज्य हैं। जो भूमि भस्म, अंगार, कपाल एवं हड्डियों, तुष, बाल, विष, पत्थर, चूहों के बिल, बांबियों एवं पत्थरों आदि से भरी हुई हों वे त्याज्य हैं। रूक्ष (सूखी), नीची उपजाऊ, नीची, फटी-फटी, ऊसर उल्टी जल बहाने वाली, कम वर्षा वाली, ऊंची-नीची, कड़वे कांटे-दार, निस्सार, सूखे, बिना फल वाले पेड़ों से युक्त तथा हिंसक पक्षियों से आकीर्ण (व्याप्त), कीड़े मकोड़े वाली ऐसी भूमियाँ गर्हित बताई गयी हैं। ऐसी भूमियों पर सुकृत (पुण्य), भोज्यान्न, भक्ष्यान्न, पेयादि उसी क्षण तूर्य आदि बाजों की आवाज़ के साथ नष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार की भूमियों को **अधम-भूमि** कहा जाता है ॥५२-५६॥

जिस भूमि पर सरिताएं पूर्व की ओर बहती हों, उस भूमि को भी पुर आदि के लिए त्याग देना चाहिए, क्योंकि वहां पर अक्सर वे समय पाकर फिर लौट आती हैं ॥५७॥

पक्षियों की चर्बी, खून, मज्जा, पुरीष, मूत्र, मल, कोश के समान गन्ध वाली और तेल एवं शव के समान गन्ध वाली पृथ्वी को त्याग देना चाहिए ॥५८॥

इसके अतिरिक्त जो पृथ्वी सदैव धूम्र-वर्ण अथवा मिश्र-वर्ण या विवर्ण अथवा रूक्ष-वर्ण हो वह भी ठीक नहीं है और न वह कल्याण देने वाली होती है ॥५९॥

जो पृथ्वी कड़वी, कसैली अथवा नमकीन अथवा स्वेदल (पसीने वाली) होती है, उसको लोक-कल्याण को नष्ट करने वाली समझ कर पुरादि-सन्निवेश में त्याग देना चाहिए ॥६०॥

जो पृथ्वी सदैव रूखे, तीखे, स्पर्श वाली और सदैव गर्म अथवा ठंडी हो इस प्रकार की अकल्याण, स्पर्श से रहित पृथ्वी को त्याग देना चाहिए ॥६१॥

स्यार, ऊंट, कुत्ता, एवं गदहा की आवाज़ के सदृश आवाज़ वाली और जो निर्झर के स्वर के समाम ध्वनि वाली अथवा जो स्वयं टूटे वर्तन के समान ध्वनि वाली हो, वह पृथ्वी भी कल्याण-कारिणी नहीं कही गई है ॥६२॥

इस प्रकार से गन्ध आदि के ज्ञान से भूमि के शुभ अथवा अशुभ का कथन किया गया है ॥६३-६३½॥

अब हल-कर्षण के द्वारा भूमि से निकली हुई चीज़ों से शुभाशुभ परीक्षा करनी चाहिये। हल से जोतने पर यदि लकड़ी निकले, तो अग्नि से उत्पन्न भय समझना चाहिए। यदि ईंट निकले तो धनागम समझना चाहिए। यदि कंकड़ निकले, तो कल्याण। हड्डियां निकलें तो कुल का नाश, सर्प निकले तो चौरभय समझना चाहिए। इस प्रकार से जो भूमि अनूषर हो अर्थात् उपजाऊ हो, बहुतृणा हो और जो स्निग्ध हो तथा जिसका झुकाव उत्तर-पूर्व अथवा चारों ओर हो, जिसका उदर दर्पण के समान हो, वह भूमि प्रशस्त मानी गई है ॥६३½-६६½॥

मृत्तिका-परीक्षा—अब भूमि-चयन के नाना प्रकार बताने के उपरान्त भूमि-परीक्षा के प्रकारों का निर्देश किया जाता है। शुभ दिन पर उपवास रख कर, स्नान कर, पवित्र होकर, सफेद माला एवं वस्त्र पहन कर ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करवा कर और वास्तु-देवों की पूजा कर उस भूमि के मध्य भाग में एक हाथ के प्रमाण में गड्ढा खोदना चाहिए और फिर इस मिट्टी को निकाल कर इसी मिट्टी से उसी गड्ढे को भर देना चाहिए यदि वह मिट्टी गड्ढे के भरने से अधिक रह जाए तो भूमि को उत्तम समझना चाहिए और यदि बराबर हो तो मध्यम समझना चाहिए और गड्ढे से कम हो तो वह अधम-भूमि कहलाती है और मनुष्यों के लिए प्रशस्त नहीं कही गई है ॥६६½-६९½॥

भूमि की मृत्तिका-परीक्षा की दूसरी प्रक्रिया बताते है—

गड्ढे को खोदने पर उस मिट्टी के अन्दर यदि मणि, शंख, प्रवाल आदि दिखलायी पड़ें, तो उस पृथ्वी को अत्यन्त प्रशस्त समझना चाहिए। वह भी पृथ्वी प्रशस्त कही जाती है जिसके खोदने पर मिट्टी में अणुमात्र भी भूसी, बाल, कंकड़, अंगार, भस्म, हड्डियां नहीं दिखलाई पड़तीं ॥६९½-७१½॥

मृत्तिका-परीक्षा की तीसरी प्रक्रिया बताते हैं। खुदे हुए गड्ढे को पानी से भर कर सौ पग चलने चाहिएँ और लौट आने पर यदि उसमें उतना ही पानी रहे तो उस ज़मीन को सार्वकामिकी अर्थात् सब इच्छाओं को पूर्ण

करने वाली कहना चाहिए। यदि पानी कम हो जाए तो उसे मध्यम श्रेणी की भूमि कहते हैं और भी उससे कम हो जाए तो अधम होती है ॥७१½-७२॥

मृत्तिका-परीक्षा की चौथी प्रक्रिया सुनो। गड्ढे में ब्राह्मणादि वर्णानुरूप क्रमशः सफेद, लाल, पीली, काली मालायें यदि रक्खी जाएं और जिस वर्ण की माला न मुर्झाए उस वर्ण के लिए वह मिट्टी प्रशस्त मानी जाए ॥७३॥

मृत्तिका-परीक्षा की पांचवीं प्रक्रिया है—गड्ढे की उत्तरादि दिशाओं में दीपों को जलाकर रखना चाहिए। जिस दिशा का दीपक चिर समय तक जलता रहे, उस दिशा के वर्ण के लिए वह भूमि सुखप्रद मानी गई है ॥७४॥

इस प्रकार से पूर्ण लक्षणों से पुरोचित भूमियों का वर्णन किया गया। इसी प्रकार से खर्वट, ग्राम तथा खेट की भूमियां भी समझनी चाहिएं और ब्राह्मणादि वर्णों के भवनों के लिए, राजाओं के शिवरों के लिए, तथा देवों के प्रसादों के लिए तथा यज्ञवाटों के लिए भी येही शुभद या अशुभद मानी गई हैं ॥७५-७६॥

इस प्रकार से नगरोचित नगरादि-निर्माण के लिए शुभ लक्षणों से युक्त इन शुभ भूमियों का मैंने प्रवचन किया। अब इनके बाद नाना प्रकार से परिकल्प्यमान हस्त (गज) के त्रिविध मान का वर्णन करता हूँ ॥७७॥

हस्त-लक्षण

मान-योजना

हस्त—अब उस तीन प्रकार के (अर्थात् ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ) हस्त (गज) का निश्चित एवं शास्त्रोक्त तथा ठीक-ठीक लक्षण कहते हैं—यह हस्त (गज) सम्पूर्ण वास्तु-कृत्यों एवं कलाओं का हेतु तथा अखिल वास्तु-कर्मों का आधार माना गया है। मान, उन्मान एवं विभागादि के निर्णय का यही एक मात्र निबन्धन है। वास्तु-पद-अथवा क्षेत्र की परिधि उसके उदय एवं विस्तार तथा दैर्घ्य का यही साधक होता है। इस गज के पूर्वोक्त ज्येष्ठ, मध्यम एवं अधम तीन भेद होते हैं जिनको जानकर (शिल्पी) मोह नहीं करता अर्थात् वास्तु-निर्माण में उसे संशय नहीं रहता ॥१-३॥

आठ रेणु का एक बालाग्र; आठ वालाग्र की एक लिक्षा और आठ लिक्षाओं की एक यूका होती है और आठ यूकाओं का एक यवमध्य कहलाता है। आठ, सात और छः यव-मध्यों से क्रमशः ज्येष्ठ, मध्यम, एवं कनिष्ठ अंगुल होते हैं। चौबीस अंगुलों का एक हस्त (हाथ) बनता है ॥४-५॥

समझदार को वह हाथ आठ पर्वों से (इञ्चों से) युक्त बनाना चाहिए और हस्त का आधा भाग चार पर्वों वाला होता है। शेष भाग अंगुलों से विभक्त होता है। उसके आगे तीन पर्व की रेखाएं पुष्पों से विभूषित होनी चाहिएं। शेष (पाँच अंगुल-रेखाओं) में पुष्प नहीं बनाने चाहिएं। इस हाथ के आधे में मध्य से पाँचवें अंगुल को दो भागों में बाँटना चाहिए। आठवें अंगुल को तीन भागों में और १२वें अंगुल को चार भागों में बांटना चाहिए। हस्त के अंगुलों को अपने ही अंगुलों के प्रमाण से बनाना चाहिए। हाथ (अर्थात् गज) की मोटाई एक, डेढ़, या दो इंच (अंगुल) के परिमाण में विहित है। इस प्रकार से अंगुलों के भेद से हस्त का भेद बताया गया ॥६-१०½॥

अब उसके निर्माण की लकड़ियों का और उसके देवताओं का वर्णन करते हैं। खदिर, अंजन, वंश आदि की लकड़ी सुन्दर, चिकनी और पक्की हो तो उससे हस्त का निर्माण कल्याणकारी बताया गया है। गांठवाली, छोटी, निर्दग्ध

पुरानी, फटी हुई, कमज़ोर, कोटरादि से आक्रान्त लकड़ी हस्त के लिए इष्ट नहीं है ॥१०½-१२॥

तीनों प्रकार के ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ, इस हस्त की पर्व-रेखाओं में मध्य से लेकर क्रमशः नौ देवताओं को अर्थात् मध्य में ब्रह्मा, पुनः बाएँ पर्व में वह्नि, दक्षिण पर्व में यम, पुनः बाएँ में विश्व-कर्मा, दक्षिण में वरुण, फिर वाम में वायु, दक्षिण में धनद, और वाम में रुद्र, तथा दक्षिण में विष्णु इस प्रकार से क्रमिक गणना में रुद्र, वायु, विश्वकर्मा, वह्नि, विधाता, काल, वरुण, कुबेर तथा विष्णु ये नौ पर्व देवता हैं ॥१३-१४॥

वास्तु द्रव्य—विभागों में तथा विशेषकर यानों में जब मान प्रारम्भ करे तो वहां देवताओं की कल्पना आवश्यक है; परन्तु देवता-पीड़न वर्ज्य है। उनका द्रव्यों से वेध, अथवा द्रव्य-मध्य-निवेश अनुचित है। इस प्रकार से पीड़ित देव-स्थान में प्रत्येक का यथोक्त फल आदिष्ट है। शिरःपीड़ा, अग्नि से जलना, मृत्यु, स्थपति का वध, अतिसार, वायु-व्याधियां, अर्थ-हानि, राज-भय, मकान बनाने वाले तथा मकान बनवाने वाले दोनों की बड़ी कुल-पीड़ा, ये उपरोक्त दोष क्रमशः ब्रह्मा आदि के निपीड़न से आपतित होते हैं ॥१५-१८॥

अब हस्त-धारण-विधि बताते हैं। ब्रह्मा और अग्नि के मध्य में यदि हस्त को धारण किया जाए तो कर्म में सफलता और पुत्र-लाभ होगा। ब्रह्मा तथा यम के मध्य में यदि हस्तसूत्र स्थापित किया जाए, तो कर्म ठीक भी होता है और स्थपति (राज) का भी अक्षय ऐश्वर्य बढ़ता है। विश्वकर्मा और अग्नि के मध्य में यदि हस्त-सूत्र की स्थापना की जाए तो गृहपति एवं स्थपति दोनों ही दीर्घ आयु वाले होते हैं और शीघ्र नहीं मरते। यम और वरुण इनके मध्य में यदि मध्यम हस्तसूत्र की स्थापना करें और उसके स्थापन में मध्य और अन्त भाग ठीक तरह से उतरें तो पुर की वृद्धि कही गई है। वायु और विश्वकर्मा इन दोनों के बीच में यदि हस्त धारण हो तो सब कर्मों के अन्त शुभ होते हैं और वे सब कामनाओं के पूर्ण करने वाले होते हैं। कुबेर और वरुण के मध्य में यदि मध्यम हस्त सूत्र की स्थापना की जाये, तो लोक में न तो अनावृष्टि का भय रहता है, न देश-भंग का ही भय रहता है। रुद्र और पवन के मध्य में यदि सुन्दर हस्त की स्थापना की जाय, तो उस लक्ष्मीवान् आदमी की कार्यसिद्धि होती है, इसमें जरा भी संशय नहीं होता। विष्णु और कुबेर के मध्य में यदि हस्त धारण किया जाय, तो ऐसा करने पर अनेक प्रकार के भोग आदमी को मिलते हैं ॥१९-२७½॥

ज्येष्ठादि इन हस्तों की अब संज्ञाएँ बताते हैं। वास्तव में मेय वही है

जिससे कोई कृति बनती है। यवाष्टक-निष्पन्न आठ अंगुलों से बनाया हुआ अच्छी तरह से फैला हुआ वह ज्येष्ठ हस्त विद्वानों के द्वारा प्राशय नाम से कहा जाता है। और जो हस्त सात यव-क्लृप्त अंगुलों से बनाया गया हो वह हस्त-विशारद पंडितों के द्वारा 'साधारण' इस नाम से मध्यम हस्त कहा गया है। जिसकी मात्रा कम हो उसको शय नामक हस्त कहते हैं और इस कारण वह छः अंगुल वाला हस्त मात्राशय कहलाता है ॥२७½-३१½॥

अब हस्त-प्रयोग पर प्रकाश डाला जाता है। खेट, ग्राम और पुर आदि में प्रासाद, घर, परिखा, द्वार, गली, सभा आदि में विभाग, आयाम, और विस्तार तथा इनके निकलने के मार्ग, इनकी सीमा, इनके क्षेत्र इनके अवकाश, वन, उपवन के भाग, देशान्तर-विभाग और मार्ग के योजन, क्रोश, गव्यूति आदि प्रमाण भी और खात-क्रकच-राशियां भी (खात, आरा आदि) प्राशय-नामक हस्त से नापने चाहिएँ ॥३१-३४॥

तलों की ऊंचाइयाँ, मूल स्तम्भ, भूमि के नीचे जलोद्देश तथा दोला, जल-वेश्म एवं शस्त्र आदि तथा पात-मान का निर्णय, पर्वतों में काटकर बनाए गए घरों और सुरंगादिकों तथा वाटी मार्ग के मान साधारण संज्ञा वाले हस्त से नापने चाहिएँ ॥३५-३६½॥

कूपों और वापियों के, हाथी, घोड़ों और मनुष्यों के प्रमाण, गर्री, चर्खी, (गन्ना पेरने वाला यन्त्र) तथा हल—ये सब मात्राशय नामक हस्त से नापने चाहिएँ ॥३६½-३९॥

इस तरह से तीन भेद वाले हस्त का लक्षण कहा गया है। अब सामान्य मानों (परिमाणों) का संज्ञा-भेद कहते हैं। एक अंगुल को मात्रा कहते हैं, दो अंगुलों को कला कहते हैं, तीन अंगुलों को पर्व कहते हैं, चार अंगुलों को मुष्टि कहते हैं, पांच अंगुलों का तल कहलाता है। कर-पाद छः अंगुलों का होता है। सात अंगुलों की दिष्टि कहलाती है। आठ अंगुलों की तूणि कहलाती है। नव से प्रादेश और दस अंगुलों का शयताल कहलाता है। ग्यारह अंगुलों का गोकर्ण होता है। बारह अंगुलों की वितस्ति और चौदह अंगुलों का पाद कहलाता है तथा २१ अंगुलों की रत्नि होती है। इसी प्रकार २४ की अरत्नि कहलाती है। ४२ अंगुलों का किष्कु, ८२ अंगुलों का व्याम (पुरुष), ९६ अंगुलों का चाप (नाड़ी-युग) तथा १०६ अंगुलों का दंड कहलाता है। तीन धनुष का नल्व, एक हजार धनु का १ क्रोश, २ क्रोशों की एक गव्यूति, और चार गव्यूतियों का एक योजन मानवेदी मानते हैं ॥४०-४७½॥

अब संख्या-स्थानों का संकीर्तन करते हैं—एक (१), दश (१०), शत (१००), सहस्र (१०००), अयुत (१००००), नियुत (१०००००), प्रयुत (१००००००), अर्बुद (१०००००००), अन्यर्बुद (१००००००००), वृन्द (१०००००००००), खर्ब (१००००००००००), निखर्ब (१०००००००००००), शंकु (१००००००००००००), पद्म (१०००००००००००००), अम्बुराशि (१००००००००००००००), मध्य (१०००००००००००००००), अन्त्य (१००००००००००००००००), पर (१०००००००००००००००००), अपर (१००००००००००००००००००), तथा परार्ध (१०००००००००००००००-०००००) ये संख्याएं उत्तरोत्तर दश (दहाई) की वृद्धि से समझनी चाहिएं। इस तरह ये बीस संख्याओं के स्थान कहे गये ॥४७½-४९½॥

अब काल-संख्या के प्रमाण बताते हैं। आंख के निमेष को निमेष कहते हैं। १५ निमेष की काष्ठा होती है, ३० काष्ठा की कला कहलाती है, ३० कलाओं का एक मुहूर्त, ३० मुहूर्तों का एक अहर्निश, १५ अहोरात्रों का पक्ष कहलाता है, दो पक्षों का मास और दो मासों की ऋतु होती है, तीन ऋतुओं का अयन कहलाता है और दो अयनों का वर्ष कहलाता है। इस प्रकार कालज्ञ विद्वानों के द्वारा काल की दस संख्याएं बताई गई हैं ॥४९½-५३½॥

इस प्रकार से हमने अखिल हस्तमान का प्रतिपादन किया। ठीक तरह से काल की संख्या भी बताई। अब अन्तःपुर, जनपद, देवमन्दिर आदि से नगर-विभाग का वर्णन करते हैं। [परन्तु पुर-निवेश के सविस्तर प्रतिपादन के पूर्व पहले प्राथमिक अन्य वास्तु-कृत्यों पर भी प्रकाश डालना उचित होगा, अतः आयादि-निर्णय आदि प्राथमिक वास्तु-कृत्यों पर पहले प्रवचन हो जाना चाहिये। दे० समराङ्गन-सूत्रधार का पुनर्गठन—अनुवादक]

आयादि निर्णय

(वास्तु एवं ज्योतिष)

शुभाशुभ मास—अब सूत्रपात-विधि का क्रम कहूँगा अर्थात् भवनारम्भ के लिये शुभाशुभ विवेचन एवं तदनुकूल वार, तिथि का निर्णय आवश्यक है। शुभ मास के शुक्ल पक्ष में शुभ दिन में इस सूत्रपात विधि का विधान बताया गया है। चैत्र में भवनारम्भ से स्वामी शोकाकुल होता है, वैशाख में वह धन से युक्त होता है, ज्येष्ठ में गृहस्वामी विपत्ति को प्राप्त होता है, आषाढ़ में पशु नष्ट हो जाते हैं, श्रावण में धन-वृद्धि होती है और भाद्रपद में घर रहने को नहीं मिलता। आश्विन मास में लड़ाई और कार्तिक में नौकर नष्ट होते हैं, मार्गशीर्ष में धन-प्राप्ति; पौष में अभिलषित सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं। माघ में अग्निभय, और फाल्गुन में अनुत्तम श्री प्राप्त होती है ॥१-४॥

शुभाशुभ तिथियाँ—द्वितीया, पंचमी, सप्तमी, नवमी, एकादशी, त्रयोदशी—ये शुभ तिथियाँ कही गई हैं ॥५॥

भवनारम्भ की सूत्र-पात-विधि में गृहस्वामी के चन्द्र एवं नक्षत्रों के बल की अनुकूलता प्रशस्त कही गई है। इसी प्रकार प्रासाद-कर्म में सूत्रपात की यही क्रिया बताई गई है। पुर-निवेश में और भवन के प्रारम्भ में, नींव डालने में, द्वार, स्तम्भ की ऊँचाई आदि में भी यही क्रिया विहित है ॥६-७॥

पश्चिम-मुख घर, शुक्ल-पक्ष, शुभ-लग्न और कन्या, तुला और वृश्चिक में सूर्य स्थित होने से शुभ होता है। यदि ऐसा न करें तो वह घर शून्य होता है और उसमें स्वामी की वृद्धि नहीं होती। कुम्भ, मृग और धनु में सूर्य की स्थिति होने पर दक्षिण-मुख भवन का निर्माण नहीं करना चाहिए, क्योंकि वह निष्फल होता है और राजा से दंड और वधादिक का कारण होता है। मीन, वृष, और मेष में सूर्य के स्थित होने से प्रांगमुख भवन न करना चाहिए, क्योंकि वह धन को नाश करने वाला और कलि (झगड़ा), क्षुद्रों, नृप और चोरों के द्वारा पीड़ा पहुंचाने वाला होता है। मिथुन, सिंह तथा कर्क में सूर्य के स्थित होने पर उत्तर-मुख भवन का निर्माण नहीं करना चाहिए क्योंकि वह दरिद्रता और चरण-दासता देने वाला होता है ॥८-११½॥

आयादि-विचार--अब वेश्मों के आय, व्यय, अंश और ऋक्षों का वर्णन करता हूँ। गृह-स्वामी के प्रमाण-वश से ठीक तरह विचार कर नगर में अथवा पुरादि में दंडों से मान-विधान कहा गया है। इसे दण्डाश्रित मान कहना चाहिये। उसके अलाभ में ठीक तरह से आय की विशुद्धि के लिए हस्तों के द्वारा मान करना चाहिए। जहाँ पर क्षेत्र में हस्तों के द्वारा मान किया जाता है, वहाँ पर हस्ताश्रित आय होता है। क्षेत्र के अलाभ में तो वहीं पर वह अंगुलों से ग्राह्य होता है, अंगुलों के द्वारा नापे गए क्षेत्र में वह अंगुलाश्रित मान कहा है। उसके अलाभ में क्षेत्र के अनुसार पादों से अथवा यवों से मान करना चाहिए। स्वामी के हाथ से अथवा कर्म-हस्त से भवनों में मान होता है। परन्तु देवताओं के मन्दिरों में केवल कर्म-हस्त से मान किया जाता है। पृथुत्व से दैर्घ्य को मारे और उसके बाद आठ भागों से हरण करे, जो शेप रह जाय उसको आय समझना चाहिए। वही शास्त्रोक्त ध्वजादिक भी जानने चाहिएँ। इन ध्वजाओं में निम्न-लिखित उपलक्षण कहे जाते हैं—ध्वज, धूम, सिंह, श्वा, वृष, खर, कुंजर तथा ध्वांक्ष। प्राची आदि दिशाओं में प्रदक्षिण और परस्पर अभिमुख और स्वतन्त्रता-पूर्वक, स्वच्छन्दचारी वृद्धि-विधायक आय की ये संज्ञाएँ पूर्वाचार्यों के द्वारा समुद्दिष्ट की गयी हैं। वृप, सिंह और गजवाली ध्वजाएँ प्रासादों, पुरों एवं वेश्मों में मंगल-कारी कही गई हैं। ध्वज में अर्थलाभ, धूम में सन्ताप, सिंह में भोग, कुत्ते में कलि, वृप में धन और धान्य, खर में स्त्री-दूपण, गज में मंगल दिखाई देते हैं; ध्वांक्ष में तो मरण निश्चित है; वृप के स्थान में गज रखे और वृपभ और गज के स्थान में सिंह रखे, वृप को दूसरे स्थान पर न रखे, तो ध्वज सर्वत्र प्रशस्त माना जाता है। सिंह विशेपकर ब्राह्मण का कल्याण-कर्ता है। क्षत्रिय के लिए गज प्रशस्त है। वृपभ वैश्य के लिए प्रशस्त है। शूद्र के लिए ध्वज ही एक प्रशस्त है। वह सदा अर्थप्रद होता है। इस प्रकार से भवनों के ये सब आय वर्णित किये गए हैं ॥११½-२४½॥

आसन अर्थात् राजासन में सिंह को और आतपत्र अर्थात् राजछत्र में, ध्वज को, इसी प्रकार चामर और व्यजनादि राज-चिह्नों में, शस्त्रों में, रथों में कवचों में, सब में सिंह अथवा गज को प्रदान करे। सारी (पक्षिविशेप), घोड़ा, गज, पर्याण (काठी) में गज या वृपभ को प्रदान करे। अर्थ के रखने वाले पात्रों में, शयनों में गज को प्रदान करे। इसी प्रकार यान में और वाहन में भी बुद्धिमान् को गज की योजना करनी चाहिए। प्रासाद, मूर्ति, लिंग, पीठ, मंडप और वेदियों में, कुंडों में और देवोपकरणों में ध्वज देना चाहिए। गृह के समान ही विवाह की वेदी और मंडप इन दोनों में आय की व्यवस्था होती है। रसोई में वृप को और जलाधार जलाशय में, थाली या अन्य भोजन-पात्र में, अन्न

रखने वाले कोष्ठागार में भी वृष दे। घर में और गृहोपकरणों में भी वृष को दे। गजशाला में वृष अथवा गज को दे। अश्वशालाओं में, गोशालाओं में, और गोकुलों में वृष को दे। गजशालाओं में, अश्वशालाओं में और वृष-शालाओं में यत्नपूर्वक सिंह का वर्जन करे। अधमों के लिये खर, ध्वांक्ष, धूम, और श्वान ये शुभ कहे गए हैं। अग्नि-जीवियों के लिए धूम प्रशस्त कहा गया है और संन्यासियों के लिए ध्वांक्ष हितकारी कहा गया है। स्वगणों, चांडालों के अपने घरों के लिए 'खर' शुभ कहा गया है। इसी प्रकार नटों, नर्तकों तथा वेश्याओं के भवनों के लिये भी 'खर' शुभ कहा गया है। कुम्भकारों, धोबियों आदि के भवनों के लिए भी यही विधान है ॥२४½-३५½॥

व्यय-विचार—घरों आदि में क्षेत्रफल को आठ भागों से गणना करे, तीन घन से शेष प्राप्त करे। अष्टहृत क्षेत्र या नक्षत्र में व्यय होता है। पिशाच, राक्षस और यक्ष इन तीन नामों से व्यय माना गया है।

अशंक-विचार—क्रमशः सम, अधिक न्यून आय से क्षेत्रफल में व्यय को क्षिप्तकर और गृहनाम और अक्षरों को भी क्षिप्त करके तीन से भाग का हरण करे और जो बाकी बचे वह अशंक कहलाता है। जिस प्रकार चतुरंग मन्त्र मुख्य है और लग्न में नवांशक मुख्य है, उसी प्रकार से घरों में प्रधानतया तीन अंश मुख्य होते हैं। वे हैं—इन्द्र, यम और राजा। इन तीन नामों से अशंक होते हैं। यथार्थ नाम फल देने वाले ये तीनों जानने चाहिएँ ॥३५½-४०½॥

तारा-विचार—स्वामी के नक्षत्र से गणना करे और जब तक भरणी का नक्षत्र न आजाए तब तक गणना करनी चाहिए। फिर उसमें नौ से भाग करने पर जो शेष हो उसे तारा कहा गया है। १. जन्म २. सम्पत् ३. विपत् ४. क्षेम ५. पाप ६. साधक ७. नैधनी ८. मैत्री और ९. परम मैत्री—ये संज्ञाएँ कही गई हैं। ये फल में सब समान हैं। तीसरी, सातवीं और पांचवीं तारा स्वामी के गृह में वर्जित कही गयी हैं। पहली, दूसरी, आठवीं तारा को मध्यम तारा कहा गया है। अश्लिष्ट ऋक्ष में भी और अष्टम चन्द्रमा में भी चौथी, छठी और नवमी ताराएँ मनुष्यों का दुरित अर्थात् पाप ले जाते हैं। सुर, राक्षस और मर्त्य संज्ञा वाले ऋक्षों के तीन गण होते हैं। जो गण और ऋक्ष (नक्षत्र) स्वामी का होता है उसी गण और नक्षत्र का घर शुद्ध होता है। १. मृग २. अश्विनी ३. रेवती ४. स्वाती ५. मैत्र ६. पुष्य ७. पुनर्वसु ८. हस्त ९. श्रवण—ये नौ देवगण होते हैं। १. विशाखा २. कृत्तिका, ३. आश्लेषा ४. नैऋत ५. वारुण ६. मघा ७. चित्रा ८. ज्येष्ठा ९. धनिष्ठा—ये नौ राक्षसगण कहलाते हैं। १. आर्द्रा २. भरणी और ३. रोहणी—ये तीन पहिले वाले नक्षत्र और छः बाद वाले मिलकर नव-गण मानुषगण समझने चाहिएँ ॥४०½-४८½॥

जिस घर के गण-साम्य, शुभ नक्षत्र और आय से व्यय कम तथा हित-कारी अंश होते हैं, वह घर शुभ फल देने वाला होता है ॥४८½-४९½॥

आय, व्यय, योनि, नक्षत्र, भवनांशक और गृहनाम ये घर के छः करण जानने चाहिएं। तीन शुभ करणों से शुभ वेश्म, दो और एक से अशुभ और चारों करणों से अति शुभ घर होता है। घर समान आय और व्यय वाला नहीं होना चाहिए और न अ-व्यय होना चाहिए और न अधिक-व्यय होना चाहिए। द्वितीयांश, असमान-योनि और असमान-नक्षत्र वाला घर नहीं बनाना चाहिए और स्वामी के तुल्य अभिधान वाले घर को दूर ही से त्याग देना चाहिए। समान-सप्तक, एक-नक्षत्र, तीसरा-ग्यारहवां और चौथा तथा दशवां—ऐसे नक्षत्र में घर बनवाना चाहिए ॥४९½-५४½॥

छः कोष्ठ वाला, तीन कोने वाला और साथ ही साथ दूसरा और बारहवां वाला इस प्रकार के भवन वर्ज्य हैं। षट्-कोष्ठक गृह में मृत्यु, दैन्य तथा वियोग प्राप्त होते हैं। त्रिकोण में बसने वालों को दुःख और वैधव्य उत्पन्न होता है। द्विर्दावश में बसने वालों को पुत्र, पौत्र, गुरु, बन्धु और धन आदि का नाश प्राप्त होता है ॥५४½-५५॥

आठ से हृत क्षेत्रफल के ख (०) नेत्र (२) शशि (१) (अर्थात् १२०) इनसे विभाजित होने पर जो शेष बचे उसमें जीवन और पांच से विभाजित करने पर मृत्यु बताई गयी है ॥५६॥

सभुज, षड्दारु-सहित, मुख-मंडप से युक्त भवन के आयाम और पृथुत्व से मान करके विभाजन करे। जो वास्तु सब प्रकार से शोधित और ठीक तरह से नापा गया हो वह स्वामी के लिए धन्य है और स्थपति के लिए बड़ा कीर्ति-कारक होता है। स्त्रियों, पशुओं, मनुष्यों, कीर्ति, आयु, धन, धान्यों से प्रमोद एवं महोत्सवों से अर्चित वास्तु वृद्धि को प्राप्त करता है ॥५७-५९॥

पताकादि षट् छन्द—मेरु, खंड-मेरु, पताका, सूचिका, उद्दिष्ट और नष्ट ये छः छन्द कहे गए हैं ॥६०॥

मेरु—एक से एक उत्तर कोष्ठों को अपनी इच्छा से विन्यसित करे। आदि से आरम्भ कर फिर बढ़ता जाय, जब तक दोनों पार्श्वों का एक-सा सम्पादन हो जाय तब मेरु छन्द निष्पन्न होता है। मेरु की एक से अधिक संख्या होती है और शराब के समान उसकी आकृति होती है। प्रथम कोष्ठ का जो रूप होता है वही बगलों का रूप बन जाता है। उर्ध्वस्थित इन दोनों के मध्य में पृथक् संकल्पित रूप हो जाता है, पुनः मनचाही क्रिया-कल्पनाओं की संख्या अन्त की पंक्ति में मिल जाती है ॥६१-६३॥

खण्डमेरु—उसी प्रकार एक पार्श्व से खंडमेरु का विन्यास करे। उसके कोष्ठक प्रवृद्ध हों और अंक दूसरी पंक्ति में छोर तक; पहलों में शून्य रखे और दूसरे कोष्ठों में भी पहले की तरह; फल भी वैसा ही ॥६४॥

दूसरा खण्डमेरु—अब दूसरे खण्डमेरु का वर्णन किया जाता है। वहाँ पर कोष्ठों की संख्या अपनी इच्छानुसार करे ॥६५½॥

पताका-छन्द—एक संख्या कम करके पुनः नीचे बाईं ओर झुके हुए एक जिनके आरम्भ में है और एक ही जिनके अन्त में है, इस प्रकार के अंकों की पहली पंक्ति में रखे। इसमें भी यही क्रिया करे, पुनः तृतीय आदि कोष्ठकों में क्रमशः विकरण-योग से उत्पन्न अथवा ऊँचे और नीचे योग से उत्पन्न अन्य अंकों का न्यास करे। पुनः विकरण-योग से उत्पन्न फल की एक कोष्ठ में प्रकल्पना करे, अभीष्ट संख्या को एक से अधिक तिरछा लिखे। मध्य में दुगुने-दुगुने अन्तः कोष्ठ-रूपादि का न्यास करे। उनमें से पीछे एक संख्या कम करे और आगे एक को दुगुना कर यदि परा संख्या का अतिक्रमण न हो तो पताका-छन्द कहा जाता है ॥६५½-७०॥

सूची-छन्द—उसको छोड़कर पहली आदि इष्ट संख्याओं से अंक-विन्यास वाली संख्याओं को अलिन्दों से प्रकल्पित कर एक-एक को इष्ट स्थानों में लिखे। पुनः अन्त की छोड़कर पहले-पहले वाली को दूसरी-दूसरी से मिलाए। पुनः अन्त से आरम्भ कर पीछे लौटे, जहाँ पर अलिन्द आदि में यह संख्या निकले, उसे सूची कहते हैं ॥७१-७४॥

उद्दिष्ट तथा नष्ट छन्द—उद्दिष्ट में इष्ट संख्या को स्थापित करे, पुनः उसको बराबर विभाजित करे। रूप वाली संख्या लघु स्वरूप के दलन में आधे सहित एक में जब गुरु बन जाये और इष्ट पद की प्राप्ति हो जाये और सारे लघु हो जायें तब अलिन्द का उदय होता है, और फिर छन्द को समुद्दिष्ट करके अन्त लघु में एक जोड़ा रखे, फिर दुगुना-दुगुना गुरुओं का विन्यास कर फिर इस क्रिया को उलट दे, लघु के स्थान में एक गुरु रखे तो नष्ट में आदि संख्या वाला घर कहलाता है। कोष्ठ में एक-एक की वृद्धि से ऊपर की ओर पंक्तियों को न्यास करे, जो इष्ट हो उनमें एकादि संख्या लिखे। इस रचना में न केवल अलिन्दों का ही ज्ञान होता है बल्कि मूपा (झरोखों, खिड़कियों) आदि स्थानों की सूचना भी मिलती है ॥७५-८०॥

इन्द्रध्वज-निरूपण

देवताओं की अभीष्ट-सिद्धि के लिए और राक्षसों के वध के लिए जिस प्रकार ब्रह्मा ने शक्र-ध्वज का उत्थान बताया है वह कहा जाता है ।।१।।

बृहस्पति ने भगवान् कमल-भू ब्रह्मा से पूछा कि किस प्रकार से इन्द्र के द्वारा देवद्रोही राक्षस जीते जा सकते हैं । ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि तुम लोग मिलकर अखिल रत्नों की ध्वजा बनाओ और उसको आभिचारिक मन्त्रों से अभिमन्त्रित कर धारण करो । यन्त्र पर सौ पक्षियों से युक्त उसको ठीक तरह रखकर देवसेना के आगे ले जाते हुए तुम लोग शत्रुओं को जीतो ।।२-४।।

ब्रह्मा ने इस इन्द्रध्वज के तीन रूप दिये—एक सहस्रधार, दूसरा रिपुकुलान्तक तथा तीसरा दिव्यमय । इसी के लिए बलवर्धक इष्टि अर्थात् यज्ञ विहित है । और इस कर्म से इन्द्र अखिल शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है ।।५-६।।

विजय की इच्छा रखने वाले उस इन्द्र ने शीघ्र ही चित्त से उस यन्त्र-स्थित ध्वजा का सृजन किया, जिससे शत्रुओं को मोह लिया । उसको देखकर आदित्य, वसुगण, इन्द्र, रुद्रगण, विश्वदेव और दोनों अश्विन और मरुत ने आभूषणों से उसको आभूषित किया । इस तेजस्वी ध्वजा ने अपने वेग से देखते ही देखते शत्रु की सेनाओं का तेज, बल, शरीर, चेष्टा और पराक्रम हरण कर लिया । उस इन्द्र-ध्वज की पूजा कर देवेन्द्र इन्द्र ने बलवान् शत्रुओं को भी युद्ध में अपने वज्र से तीन रात में ही जीत लिया । तदनन्तर उससे प्रसन्न होकर उस इन्द्र ने विष्णु के नक्षत्र में द्वादश तिथि में त्रैलोक्य का राज्य प्राप्त कर उसका अभिषेक किया । सब लोगों की पूजा कर सब लोगों से स्वयं पूजित हो ध्वजा की पूजा कर वृत्रासुर-निषूदन इन्द्र ने उसको स्तुतियों से तृप्त किया । उसके बाद उस ध्वजा को अपने पास देखकर इन्द्र उससे बोले—इन्द्र-ध्वज नाम से सब लोग तुम्हारी पूजा करेंगे तथा शास्त्रानुसार निमित्तों को देखकर राजा लोग भी तुम्हारी पूजा करेंगे ।।५-१४½।।

तब से, जब से इन्द्र को वर-प्रदान मिला, सब लक्षणों से युक्त यह इन्द्र-ध्वज राजाओं के द्वारा पूजित होती है । किला, मन्दिर, यज्ञवेदियाँ, विचित्र-स्थालिका-पाक और भक्ष्य एवं पान आदि प्रायः सभी पुण्य कर्म में यह शक्र-

ध्वजोत्थान आवश्यक है। यदि दुर्धर्ष शत्रु पर विजय पाने की इच्छा है और यदि तेज, बल और यश प्राप्त करने की इच्छा है तो इस शक्रध्वज का निर्माण आवश्यक है। सेना में अथवा पुर में इन्द्र की प्रतिष्ठा कर विजय के लिए अथवा अभिप्रशमन के लिए जिस प्रकार का शक्रध्वज का उत्थान-विधान राजा लोग करेंगे, उसका पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया जाता है ॥१४½-१९॥

वन से पूर्वोक्त विधि से (अर्थात् जिस प्रकार का दारु-आहरण—लकड़ी लाना आगे 'वन-प्रवेश' अध्याय में बतायेंगे) लाये हुए द्रव्य को—पाद्य एवं अर्घ्य आदि से पूजन कर गन्ध और मालाओं से अलंकृत कर ब्राह्मणों की पूजा कर—पवित्र देश में पूर्व अथवा उत्तर दिशा में सावधान तथा प्रयत्नपूर्वक उतारे। कर्मप्रवीण स्थपति इसके बाद पुर के पूर्व अथवा उत्तर भाग में कारीगरों के द्वारा प्रथम ध्वजा का फिर अन्य सब यन्त्रों का निर्माण करावे। ध्वज बत्तीस हस्तों के प्रमाण का श्रेष्ठ, अठाइस का मध्यम, और चौबीस का निकृष्ट कहा गया है। मूल का विस्तार ध्वजा के आयाम से हाथ-हाथ पर आधे अंगुल का करना चाहिए और आगे का विष्कम्भज-मूल विस्तार के आधे से अथवा सब में मूल विस्तार के आधे से ध्वजा के मूल के आठवें अंश से कम कुष्य का विस्तार इष्ट कहा गया है; उस विस्तार के आधे से उसकी मोटाई और मोटाई की तिगुनी चौड़ाई विहित है। ध्वजा के विस्तार-बाहुल्य के साथ अंघ्रि (चरण) के बाहुल्य से विस्तृत आधे आयाम से शुभावह पीठ बनाना चाहिए। ध्वज-कुष्य से भ्रम-पीठ (चक्की) तक जाने वाला वेध नापना चाहिए। कुष्य की कोटि से अधिक तथा कोटिद्वय से आयत दो गोल अक्ष (पहिये) बनाने चाहिएं। भ्रम के विस्तार से विस्तृत और भ्रम की मोटाई से मोटे चरण बनाने चाहिएँ। उसी युक्ति से वेध में इन्हीं के विस्तार से दुगुनी ऊंचाई से ध्वजा के विस्तार के चार भाग के विस्तार से यहाँ पर पीठ बनाना चाहिए। मध्य में दोनों प्रान्तों पर आश्रित मल्लप्रतिष्ठित उस पीठ के दोनों स्तम्भनीय द्वारों पर दृढ़ दक्षिणोत्तर की ओर प्रतिक्षोभ करने वाला पराङ्मुख सुदृढ़ार्गल केतु के व्यास के आधे से विस्तृत उसकी लम्बाई के आठ अंश से उच्छ्रित विस्तार और आयाम में बराबर इन्द्र का घर बनाना चाहिए। यन्त्र का मल्ल उसकी पीठिका, उसके दोनों स्तम्भ और स्तम्भ-विनिर्गत दोनों बाहु, शक्रमाता और कुमारियाँ ध्वज के विस्तार से विस्तृत बताई गई हैं। सबके नीचे के भाग मूल देश से अपने विस्तार से चौगुने अथवा पँचगुने अथवा सतगुने बनवाने चाहिएँ। कुमारियों की जो ऊँचाई त्रिगुणित छठा अंश बताई गई है, इन्द्र-माता का मान तो सबों से अष्टमांश अधिक बताई गई है।

कुमारियों की उस ऊंचाई से सात भागों में वेध का अपना विस्तार बताया गया है ; और निर्वेध चौकोर लकट सदा समाहित रहता है। इसके ऊँचे और नीचे सात अंश पर रहने वाले सूचीमान के प्रमाण से दो अन्य निर्वेध सूचीवेधों का निर्माण करना चाहिए। कन्या के व्यास के तीन भाग से सूची का विस्तार होता है। एक पादक्रम उसका वाहुल्य बताया गया है और वह सुन्दर लकड़ी से बनाई जाती है। उसकी संहति बड़ी दृढ़ होती है। लकट का विस्तार कुमारी के व्यास से दुगुना होता है। इसी प्रकार इन दोनों अर्थात् सूची और लकट के बाह्यान्तर को जानकर यन्त्र की योजना करनी चाहिए। उन दोनों के नीचे उनके आधे से सूची के विस्तार से विस्तृत दो मृगालियाँ बनानी चाहिएँ। सूची और कन्या के सम्बन्ध के क्षेत्र का लेखन करना चाहिए। अंघ्रि सहित ध्वजा के मूल का आधार लकट में विस्तार और आयाम बताया गया है। बाहु और अक्षवेध इन दोनों को अक्षों से दृढ़तापूर्वक ठीक तरह से योजित करना चाहिए। पांचों कन्याओं की प्रकल्पना एक सदृश है। इस प्रकार से सभी यन्त्रों की आनुपूर्वी (अर्थात् क्रमशः) रचना कर पुनः उनकी स्थापना करनी चाहिए ॥१९-४१॥

शक्रध्वजोत्थान—आश्विन कुंवार' के महीने में शुक्ल-पक्ष प्रतिपदा में स्थिर एवं उदित सौम्य ग्रहों को देखकर पौर-जानपद अर्थात् पुरवासी लोग सब प्रकार के बाजों को बजाकर यन्त्रों एवं यष्टि को कारखाने से उठाकर जल में लायें। चित्र एवं प्रतिसरों से आकीर्ण घृत से लिपी हुई उसी यष्टि को वहाँ पर स्थापित चूर्णों एवं सब औषधों से स्वयं स्नान करावे। मनुष्यों की कलकल-ध्वनि के साथ उसको जलाशय से उठाकर लकड़ी की हथिनियों के समुन्नत अग्रभाग में स्थापित करे। फिर वग़ैर फटे हुए कपड़ों से अर्थात् अक्षत वस्त्रों से ढक कर मालाओं आदि से उसकी पूजा कर दिशाओं में वलि फेंक कर ब्राह्मणों से स्वस्ति वाचन करावे। उसके वाद सब प्रजाओं से तीन दिन पूजा करा कर धनुर्धारी मनुष्यों से उस यष्टि को पाँच दिन तक गुप्त रखे। उस दिन सभी यन्त्रों को यष्टि की तरह स्नान करावे और वस्त्रों से आच्छादित करे और फिर इन्द्र-स्थान-देश में उसे प्रवेश करावे। वरावर शुभ ध्वजस्थान में यष्टि की आठवें अंश की लम्बाई से ध्वजा को सूत्रित कर, उसके आधे से विस्तृत होने पर शुभ प्राची में उसे स्थित करे। तदनन्तर क्रमशः ८१ विभागों से यहाँ पर विभाग कर सब देवताओं को यथाविधि विन्यस्त करे। पूर्व दिशा में, मध्य में, मैत्र-पद में और मध्य भाग से मरुत् की दिशा से पादकोण में, निम्न प्रमाण से मञ्च का निवेश करे। वायु के दोनों कोणों में भृङ्ग और मुख्य

दोनों के पदों के मध्य भाग में दोनों खम्भों का न्यास करे और उनकी पीठी पर मल्लों का निवेश करे। दोनों बाहों के प्रमाण से पीठिका को निकाल कर अलग-अलग दो ब्राह्म-पदों से आश्रित दो स्तम्भिनियों का रोपण करे। दोनों बाहुओं पर आश्रित दो दो प्रतिक्षोभों को यहाँ पर बाहर से मैत्र के दोनों बाहर के प्रान्त-पदों पर विनिवेशन करे। प्राची दिशा में मल्ल के अग्रभाग से इन्द्र की ऊँची गति का ज्ञान कर भ्रमण से युक्त अभ दोनों भ्रम-पादों (चक्की के पहिये) की योजना करे। मल्ल से वरुण के पश्चिमदिग्भाग में आश्रय लेने वाले पद पर भद्रा शक्रमाता का निम्न मान से निदेशन करे। पर्जन्य, अन्तरिक्ष जल, यक्ष्मा इन चारों के पदों का आश्रय करने वाले पदों पर क्रमशः नन्द, उपनन्द, जय और विजय नाम वाले इनका निवेश करे। इस प्रकार सब कुमारियों के अलग-अलग विन्यस्त होने पर बाहर से दृढ़ता के लिए तीन-तीन प्रतिक्षोभों की योजना करनी चाहिए। सम्पूर्ण द्रव्यों को निक्षेप कर पद-देवताओं की भावना करे। इससे उस उस नाम की देवता और वह द्रव्य एवं तद्गत पूजा प्राप्त होती है। पीठी एवं पृष्ठ के समान दोनों कन्या-पार्श्वों पर लोहे की कीलों से बद्ध दो अनुसरों का विधान करना चाहिए। दोनों अनुसरों का आश्रय कर संग्रह से पीठी के ऊपर यन्त्र की निश्चलता के लिए लोहे की कीलों से उसे बांधे। इस प्रकार से शास्त्र के विधान से यन्त्र-कर्म के सम्पादन होने पर, इन्द्र-दिशा में इन्द्र को अपने स्थान में प्रवेश करावे। स्नान करा कर विधिपूर्वक वस्त्र से ढक कर और सुगन्धित चन्दन आदि से लेप कर और फूलों से पूजा कर, रोहिणी आदि नक्षत्रों में तीनों मुहूर्तों में तथा मैत्र में इन्द्र का प्रवेश अभिनन्दित होता है। स्थपति अथवा पुरोहित-पवित्र होकर एवं स्नान कर समाहित-चित्त गन्ध एवं मालाओं से ब्राह्मणों की पूजा कर उनको दक्षिणादि से तृप्त करे। तदनन्तर मंगल-घोष-पुरस्सर वादित्र (गायन, नर्तन, वादन) निनाद से पुण्य-श्लोक जय-शब्दों से सब पुरवासी एकत्र होकर उसे उठावें। उन पुरवासियों को आभूषण धारण किये हुए, प्रसन्न मन, स्वस्थ, बलवान्, समर्थ एवं प्रकृति से अभिमत होना चाहिये। सूत और मागध इसकी स्तुति करें। बन्दीजन वन्दना करें और गणिकाएँ भी सेवा करें। अपने स्थान से प्रवेश करते हुए इन्द्र के पीछे सेना, मन्त्रियों और पुरवासियों सहित राजा चले। यदि उठते हुए कल-कल शब्दों से प्रसन्नवदन लोग इन्द्र को उठाएँ, और ले चलें, तो राजा विजय प्राप्त करता है और प्रजाओं को आनन्द मिलता है, राष्ट्र में सुख होता है, पुर में हर्ष होता है और ईतियाँ नष्ट हो जाती हैं ॥४२-७१॥

शक्रध्वजोत्थान में फलाफल—बड़े कष्ट से उठाया गया गौरव से शय्या

को छोड़ता है तो राजा बड़ी विमनस्कता को प्राप्त होता है। पद-पद में श्वास लेते हुए लड़खड़ाते हुए दुःखित एवं दीन और बेमन यदि आदमी चलते हैं तो निश्चय ही देश-हानि होती है। यदि भूमि के एक देश में ध्वजा गिर पड़ती है तो ठीक तरह से अन्न नहीं पैदा होता है और न राजा की कुशल ही है और न उसकी विजय होती है। इसके उठाने पर यदि पूरा का पूरा वह फट जाता है, भंग हो जाता है अथवा गिर पड़ता है तो राजा का अवनि-च्छेद, सुत-नाश अथवा मृत्यु होती है। वस्त्रों, अलंकारों अथवा मालाओं के हरण अथवा पतन से पौरों का उसी प्रकार के द्रव्य का विध्वंस निश्चित होता है। उसके प्रवेश पर अथवा उठाने पर पुर निश्शब्द अथवा निष्प्रभ प्रतीत होता है तो उसका नाश होता है। इन्द्र को अपने स्थान में लाकर शीघ्र ही सुखपूर्वक बिना विघ्न के पहले के समान प्रदक्षिण प्रागग्र अपने शयन में न्यास कर देना चाहिए। वहीं पर शुभ नक्षत्र में शय्या-स्थित इन्द्र का यथा-भाग विकल्पित भ्रम और कुण्य संयोग कर देवे। कुण्य में संयुक्त होते हुए यदि ध्वजा भूमि में गिर पड़ती है तो राजा का स्थान-भ्रंश निश्चित होता है। कुण्य के योग में यदि वामभाग पर इन्द्र परिवर्तित हो जाए तो स्थपति की मृत्यु होती है या दक्षिण-भाग में भंग उपस्थित हो जाये तो भी यही दारुण फल प्राप्त होता है। यदि उसकी यष्टि क्लेश से अपना वेध प्राप्त करे, तो प्रमादी राजा को बड़ा भारी व्यसन उपस्थित होता है। कुण्य में योजित होता हुआ शक्रध्वज यदि विघटित हो जाय तो राजा की अन्य मांडलिक राजाओं के साथ सन्धि नष्ट हो जाती है। यदि कुण्य में योजना करते हुए स्फोटन अथवा भंजन प्राप्त हो जाय तो उस भंग से राजा के लिए व्याधि और उसके स्फोटन से स्त्री का वध उपस्थित होता है। बिना कूटे, बिना अस्तव्यस्त हुए (अथवा अंग-विकल होते हुए), बिना विलम्ब यदि शक्रध्वज न्यास एवं योग को प्राप्त होता है तो धन, नौकर, स्त्री, पुत्र, सामन्तों आदि अनुयायियों से युक्त, बिना आतंक के बलवान अंगों से पुष्ट, राजा वृद्धि को प्राप्त होता है। शय्या में स्थित ही यत्नपूर्वक शक्रध्वज की रक्षा करते हुए उसके कुटनी आदि सम्पूर्ण अंगों की योजना करे। ध्वज के आठ पिटकों के नाम हैं—१. ऐन्द्र २. बलाक ३. यक्षेश ४. सर्प ५. आद ६. मयूर ७. इन्द्र और ८. शीर्ष। इनको अपने-अपने प्रमाण से स्पष्ट स्वरूप से युक्त बनाना चाहिए और इन्हीं नाम की सन्धियों को वस्त्र से निर्मित कर इनके बीच में रखना चाहिए। नीचे से ऊपर तक लम्बी, मजबूत, घनी और कड़ी रस्सियों से इस ध्वजा को लपेटे। ध्वजा की चौड़ाई की सवाई चौड़ाई और तीसरा भाग अधिक जोड़ कर शक्र-पिटक का विस्तार और उसके आधे से

उसकी ऊंचाई करे। वंश-व्यवहित इस शक्र-पिटक में आठ दिशाएं बनाकर चारों दिक्पालों को उस पर क्रम से अपनी अपनी दिशा में स्थापित करना चाहिए। शक्रध्वज के कुष्य से पंचमांश-गत पिटकों के बना लेने पर बचे हुए आठ भागों में भी क्रमशः बलाक आदि न्यास करे जो विस्तार से ऊंचाई में एक चरण कम हो। वे अपने-अपने वर्ण वाले हों, सुन्दर-सुन्दर हों और गोल हों। पिटकों में उत्पन्न होने वाले भंग, पात, विपर्यास आदि से क्रमशः पीड़ा, दुःख, मृत्यु कही गई है ॥ ७२–९५ ॥

रनिवास, अमात्य, राष्ट्र-चिन्ता, सेना, कीर्ति, पृथ्वी, भवन, राजा, राष्ट्राधीश, इन सब की ध्वजाओं के अनुरूप आठ आठ बटी हुई रज्जुओं को बनाना चाहिए और उनको ध्वजाओं में लगाना चाहिए। कुटनी सहित शुभ इन्द्रध्वज का उत्थान यत्नपूर्वक अक्षय तिथि में करना चाहिए। सूर्य, चन्द्र, ग्रहों, तारांओं से चिह्नित; वेणु, गुल्म और इन्द्र से शोभित; आठ कंठ-गुणों से बद्ध; मंगलकारी दंड, सूत्र, आदर्श से युक्त; शस्य, पुष्प, फलादि से अलंकृत; सुवस्त्र से सुसज्जित और सतत आठ रज्जुओं से बंधी ध्वजा-पताका बनानी चाहिए और अच्छी तरह से उसे चित्र-चित्रित करना चाहिए। इस में समस्त स्थावर जंगम संसार के मनोहर-मनोहर चित्र लिखने चाहियें। इनमें पत्तन, पुर, नगर, ग्राम, गन्धर्व, देवता, आराम के चित्र विशेष उल्लेख्य हैं। इससे लोकों के शुभ निमित्त सम्पन्न होते हैं तथा ध्वजा की शोभा बढ़ती है ॥ ९६–१०२ ॥

ध्वजा के अग्र-भाग को डोरियों से बद्ध कर और भूतल पर सुविन्यस्त कर उसको अधोभाग-समाश्रित एवं असंमूढ-विन्यास करे। प्रमोद, कीर्तन, वादित्र (गायन, वादन, नर्तन), नटों और नर्तकों के नाच-सहित ध्वजा के आगे उस पूर्ण रात्रि में जागरण करना चाहिए ॥ १०३–१०४ ॥

इन्द्रध्वजोचित होम—तदनन्तर भगवान् भुवनभास्कर के उदय होने पर संयमी पुरोहित को मूल भाग के सम्मुख पूर्वोत्तर दिशा में अग्नि का परिग्रह करना चाहिए। उसके बाद उस स्थान पर उल्लेख और अभ्युक्षण्य से लेपन कर उसको शुद्ध कर और कुशों को बिछाकर वहां पर अग्नि जलानी चाहिए। वहां पर घृत के पात्र, घृत, गन्ध, पुष्प, पलाश की समिधाएं आदि द्रव्यों को एकत्रित करना चाहिए। अन्य यज्ञ-संभारों में सोने के बने स्रुक तथा स्रुवा, इन्द्रभक्त तथा बलय भी—ये सब एकत्रित कर फिर अग्नि में हवन करे। पुत्र, स्त्री, पशु, द्रव्य, सैन्य से युक्त राजा की विजय प्राप्त कराने वाले शान्ति-विधान करने वाले मन्त्रों के द्वारा सुस्वन, सुन्दर एवं ऊर्ध्वज्वालाओं वाला स्निग्ध और स्वयं बढ़ा हुआ कान्तिमान तथा सुगन्धित अग्नि होता के लिए

मंगलकारी होता है। तपाए हुए सोने के सदृश लाक्षा की कान्ति वाला, पलाश के समान शोभावाला, प्रवाल, विद्रुम, अशोक, सुरगोप के समान दीप्तिवाला, ध्वजा, अंकुश, गृहछत्र, यूप, प्राकार, तोरण आदि अन्य मांगलिकों के तुल्य कान्ति वाला अग्नि भी उसी प्रकार प्रशस्त कहा गया है। स्निग्ध, प्रदक्षिण-शिखा वाला, धूमरहित, विपुल अनल यदि बहुत देर तक दीप्यमान दिखाई पड़ता है, तो वह सुभिक्ष और क्षेम अर्थात् कल्याण का देने वाला कहा गया है। धूम्रवर्ण अथवा विवर्ण, परुष, पीला अथवा नीला, विच्छिन्न, भयंकर शब्द करने वाला बाईं ओर शिखा वाला, मन्द-दीप्ति वाला, विना द्युति वाला, खून, अथवा वसा की गन्ध करने वाला, स्फुलिंगों को उड़ाने वाला, धूम से आवृत, फेन सहित अग्नि जयावह नहीं होता है। कुशों के संस्तर को अथवा अन्य होम के अंगों को होम करते हुए यदि हूयमान अग्नि जला देता है तो उससे हानि निश्चित है। होम करते समय यदि पीठ हट जाए, तो भूमि के एक देश का विनाश होता है और उसके उपकर्पण से लाभ कहा गया है। सब तरफ़ से यदि वह अगाध है तो राजाओं की वृद्धि करता है और जिस दिशा में उसकी ज्वालाएँ जाती हैं उन दिशाओं की विजय के लिए आदेश देता है। दुर्वर्ण, अशुचि, दुर्गन्धि, मक्खी अथवा चूहों से विडम्बित आज्य (हवनसामग्री) तथा जो (आज्य) भस्म में हवन किया जाता है इनमें राज्य का विनाश उपस्थित होता है। कम अथवा अधिक प्रमाण वाली विदीर्ण और टूटी, घुन-लगी, तथा रुग्णवृक्ष से लाई गई समिधाएँ धन का नाश करने वाली होती हैं। सगर्भ, सपुष्प, अग्रभागों से टूटी हुई, तृणों से युक्त कुश-समिधाएँ अर्थात् दुष्प्रलून कुश कोई न कोई उपद्रव करते हैं। दुष्ट, धूलिव्याप्त, कीड़ों से जर्जर, अपुष्ट ऐसे ख़राब बीज नाश करते हैं। दुर्गन्ध, मुर्झाई हुई मालाएँ जो न पीली हों, न सफ़ेद और जो कीड़ों से खाई अथवा पान की गई हैं, वे न जय के लिए और न वृद्धि के लिए होती हैं। चूने वाले, उद्धत तथा टूटे-फूटे घृत के पात्र दुर्भिक्ष और रोग करने वाले कहे गये हैं। इन्द्र की बलि यदि अशुद्ध स्थान में गिर जाए या मक्खियों, कीड़ों से दूषित हो जाए या उसमें बाल पड़े हों तो भुखमरी से मृत्यु का दारुण परिणाम कहा गया है। उपर्युक्त घृतादि विरूप सामग्रियाँ क्रमशः राष्ट्र और पुर के लिए सबकीसब भय करने वाली होती हैं। गन्ध और मालाओं को अपनी अपनी दिशावाले देवों के लिए वितरण कर पुरोहित अथवा स्थपति प्रसन्नचित्त होकर बलि फेंके ॥१०५-१२७॥

स्वस्ति-वाचन—ध्वजा के नैऋत्य दिग्भाग में उपस्थित सच्चरित्र भूरि-गन्ध-मालाओं से अलंकृत द्विज-मुख्यों को, षट्कर्म में निरत वृद्धों को, वेद में

पारंगत सुहृदों को, मनप्रिय अविकलांग, शुद्ध शुभ्र वस्त्र पहने हुये दर्शनीय-प्राय गौरवर्ण, वलशाली, अमुंड, अजटिल, अक्लीव, व्याधि आदि से अदुर्बल दीक्षितों को यथेष्ट दक्षिणा से अथवा १०८ रुपये की दक्षिणा से ही उनको नियुक्त कर प्रसन्न मन से उनसे अक्षत एवं पुष्पों से स्वस्तिवाचन करावे। और फिर वे ब्राह्मण जल से भरे हुए स्त्रार्चित, आकृष्ट-मंडल, सुदृढ़, आठ घड़ों से शक्र को मूल में स्नान करावें। विजय देने वाली स्तुतियों से उत्तम ब्राह्मणों के द्वारा स्तुति करने पर राजा अपने को महीपति और राज्य की घोषणा करे। राजा को अपने सब कैदियों अथवा बन्दियों को छुटकारा देना चाहिए और हिंसा को त्याग देना चाहिए और जनपद के दोषों को दस दिन तक माफ़ कर देना चाहिए ।।१२८-१३४।।

ध्वजोत्थान—अच्छे वस्त्र पहन कर, आभूषण धारण कर, स्नान कर, सदाचार का आचरण कर अपने बल-सहित पवित्र राजा ध्वजा को उठावें और उसकी प्रतिपालना करें। उपवास धारण किये हुए, पवित्र, स्नात, शान्त, विजितेन्द्रिय स्थपति हाथ जोड़ कर इस मन्त्र का उच्चारण करे—"ओं नमो भगवति वागुले सर्वविटप्रमर्दनि स्वाहा"। 'हे देवेन्द्र ! जिस प्रकार सुरों और असुरों के संग्राम पर तुम उठे थे, उसी प्रकार पूजित होकर राजा की जय के लिए उठिए।" इस प्रकार से स्तुति कर चुकने पर स्थपति उसकी प्रदक्षिणा करके देवराज के ध्वज-दंड को उठावे। इसी प्रकार से खूब अलंकृत, शुभ्र, स्वच्छ, माल्य, वस्त्र, विलेपनादि से युक्त पुरवासियों, नागरिकों एवं प्रयत्नशील परिजनों के द्वारा झल्ली, शंख, नन्दी, घंटा, डिंडिम (डुगडुगी), गोमुख आदि बाजे बजाने वाले और बड़े जोर का स्वर करने वाले अन्य हृष्ट पुरुषों के द्वारा, गायकों, नटों, नर्तकों, शोरगुल करते हुए हाथियों, रथों, घोड़ों आदि के द्वारा (इस प्रकार इन लोगों के द्वारा) शब्द और निनाद करते हुए दृढ़ रस्सी के द्वारा खींची हुई, श्रवण नक्षत्रों में, ध्वजा को उठाना चाहिए। यत्न-पूर्वक ध्वजा को उठाते हुए उसके उठाने पर मनुष्यों, पक्षियों और वाहनों आदि के निमित्तों को देखना चाहिए। कुटनियों में निहिताभोग, पताका और दर्पण के समान समुज्ज्वल, चित्रपटों से सजा-धजा, सूर्य-चन्द्र के गुणों से भूषित, मालाओं और अलंकारों के बिना अस्त-व्यस्त हुए, छत्र एवं मस्तक के बिना टूटे हुए, बिना कटे हुए, बिना किसी अंग के स्खलन के, कुदिशा में अभ्रष्ट, बराबर ऊर्ध्व-समाश्लिष्ट, अनक्षत, अद्भुत, अविलम्बित, अविभ्रान्त, सीधे रास्ते में उठाया हुआ हो तो इस प्रकार के शक्रध्वज का उत्थान राजा के लिए विजय देने वाला कहा गया है और पुरवासियों के लिए क्षेम, आरोग्य और

सुभिक्ष करने वाला कहा गया है ॥१३५-१४७॥

ध्वजोत्थान-फलाफल—उठाने पर यदि शक्रध्वज पूर्व दिशा की ओर होता है तो वह मन्त्रिगणों, क्षत्रियों और राजाओं को वृद्धि देने वाला होता है। आग्नेयी दिशा में शक्रध्वज के जाने पर अग्निजीवी वृद्धि को प्राप्त होते हैं और प्रारम्भ किये हुए उनके कार्य की बिना यत्न के सिद्धि हो जाती है। शक्रध्वज के दक्षिण दिशा में आने पर वैश्य लोगों के लिये पूजा, धान्य, धन की ऋद्धियाँ प्राप्त होती हैं। नैर्ऋत दिशा में शक्रध्वज के आश्रित होने पर सभी आशाएँ पूर्ण होती हैं तथा सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं और न गर्भ-स्राथा होती है और न वध, न बन्धन का भय ही होता है। पश्चिम दिशा में आश्रित होने पर शूद्रों के लिए जय कहा गया है और क्षुधा, तृष्णा, अग्नि का भय नहीं रहता और इष्ट वृष्टि होती है। वायु की दिशा में ध्वजा के आश्रित होने पर वृक्षों और धान्यों तथा फलों की वृद्धि कही गई है और उसके साथ-साथ चतुष्पदों (जानवरों) की भी वृद्धि कही गई है। रोग भी नाश हो जाता है। सौम्य दिशा में ध्वज के आने पर चारों वर्णों की सम्पत्ति कही गई है। और खास-कर द्विजेन्द्रों की उन्नति कही गई है और यज्ञ सफल हो जाते हैं। ईशान की दिशा में ध्वज के आश्रित होने पर राजा धर्मपरायण होता है, जनपद और पाखण्डियों दोनों की वृद्धि होती है। इन्द्र-ध्वज, रस्सिओं के खींचने से पूर्व, यदि कुछ खिसक जाता है तो विजय की इच्छा रखने वाले राजा की विजय-यात्रा सफल होती है। भ्रम को भेद कर यदि ध्वजा ज़मीन पर प्रतिष्ठित होती है तो पर्वतों और वनों से युक्त पृथिवी को वह राजा जीतता है। विना अंग-विप्लव के इन्द्रध्वज के दिशा-विसर्पण का यह फल कहा गया है। अब उसके विपरीत ध्वज के अंग-विप्लव होने पर सब दोष कहे जाते हैं। यदि अलंकृत होने से पूर्व इन्द्र-ध्वज योज्यमान होता है और रज्जुयन्त्र से थोड़ा-सा उठाया हुआ अथवा बीच में स्थित फिर भूमि अथवा शय्या में गिर पड़ता है तो राजा और रानियों अथवा कुमार को नष्ट करता है। उठाया हुआ अथवा आधा उठाया हुआ यदि क्षोभ अथवा प्रकम्पन को प्राप्त होता है अथवा दूसरे स्थान पर चल देता है अथवा किसी तरह से संचरण करता है, तो भूप विग्रह को प्राप्त करता है, अथवा अपने स्थान से भ्रष्ट होता है अथवा भय से जनपद चल देता है, इसमें संशय नहीं। आठों रस्सियों के खींचने पर यदि एक भी रस्सी टूट जाती है तो एक-एक अंश से मन्त्री का मरण निश्चित है। मूल में अथवा मध्य में अथवा अग्र-भाग में उठाने पर यदि टूट जाता है तो क्रम से पौरों, सेनापति अथवा राजा को मार डालता है। छत्र, सूर्य, वेणु, गुल्म, इन्द्रशीर्ष, कंठ की रस्सी अथवा इन्दु (ये सब ध्वजाङ्ग हैं)

यदि भूमि पर गिर पड़ते हैं, तो वे राजा का मरण सूचित करते हैं। इनके (ध्वजाङ्गों के) भग्न होने पर या गिर जाने पर या कम्पित होने पर वही दारुण परिणाम अर्थात् नृप-वध होता है। अथच बिना भग्न भी यदि कम्पन प्राप्त होता है तो साधन (अर्थात् सेना) क्षय को प्राप्त होती है। आदर्श, वैजयन्ती, इन्द्र तथा तारकाओं (ध्वजाङ्गों) के गिरने पर क्रमशः सेनापति, पुरोहित, पुरोहित की स्त्री और राजा की आँख मारी जाती है। मालाओं, आभूषणों, यानों, शस्त्र-वस्त्र, फल एवं अशन के केतु से चित्त गिरने पर राजा की ये ही सब चीजें अर्थात् माल्य, भूपण आदि नाश को प्राप्त होते हैं। कूटों से शक्रपिटक अथवा शक्रवेश्म यदि टूट जाता है तो जिस दिशा में यह होता है उसमें हानि जरूर होती है। यह पुराने विद्वानों ने बतलाया है। ध्वज की मृगाली, लकट, अक्ष और अर्गलाओं के भंग होने पर क्रमशः वेश्या, राजा, श्रेष्ठि और रक्षकों को पीड़ा उत्पन्न होती है। भ्रम, अक्ष और पादों के द्वारा मल्ल, शक्र-माता अथवा कुमारिकाएँ यदि भग्न हो जाती हैं तो ये क्रमशः राजा के राष्ट्र को, उसकी प्रिया को अथवा पुत्रों को नष्ट करता है। निर्घात, अशनि अथवा उल्का यदि ध्वजा पर गिर पड़ें, तो अनावृष्टि का भय और राजा की पराजय होती है। ध्वजा के उठाने पर यदि मक्खियाँ मधु-छत्र बनाती हैं तो छः महीने के अन्दर नगर पर शत्रुओं की चढ़ाई कही गई है। मक्खियाँ अथवा पक्षी ध्वज के पास यदि भ्रमण करें अथवा बाहरी स्थान से प्रदक्षिणा करें तो मृत्यु कही गई है। गीध, बाज, कपोत यदि शक्रध्वज के मस्तक में लीन होते हैं तो दुर्भिक्ष, विग्रह और राजा का विनाश होता है। यदि ध्वजा में उलूक और कौवे विलीन दिखाई पड़ते हों तो क्रमशः राजा के मन्त्री, पुत्र और पुरोहित का नाश करते हैं। यदि ध्वजा पर मयूर अथवा हंस आश्रय लेता है तो समस्त लक्षणों से युक्त राजा का पुत्र होता है। चकवी, बलाका (वक-पंक्ति) या हंसिनी आदि केतु पर लीन होती हैं तो राजा बड़ी ही सुन्दर भार्या को प्राप्त करता है। जलज पक्षियों से समाश्रित होने पर सुवृष्टि और फल के खाने वाले पक्षियों से समाश्रित होने पर सुभिक्ष और विष्टा खाने वाले पक्षियों से दुर्भिक्ष और मांसाहारी खगों से डर पैदा होता है। ॥ १४८-१७९ ॥

ध्वज-चित्रपट—यदि चित्र-पट पर विचित्र आकृतियों से वाहन, आयुध और आभूषण से युक्त उत्तम, सुर, यक्ष और उरग चित्रित होते हैं और आठों दिशाएँ मूर्तिमती चित्रित होती हैं तथा नाचते हुए अप्सराओं के गण, ग्रहों के सहित तारिकाएँ, मेघ, बड़ी-बड़ी नदियाँ और सागर, कमलों से आच्छन्न वापियाँ, हंसों से युक्त तालाब, फल पुष्प से शोभित वन और उपवन, मंदिर

और गोपुर और पुर, शयन एवं आसन से युक्त अतिशुभ्र भवन, हृष्ट एवं प्रसन्न राजा, वल और वाहन से शोभित नोकर, पुरवासी, जनपद-वासी क्रीड़ा करते हुए कुमार, प्रसन्न चारों वर्ण, नट, नर्तक और कारीगर, गौओं के समूहों, लताओं, गुल्मों, द्रुमों एवं औषधियों को धारण करने वाले पर्वत, उत्तम मृग एवं पक्षी तथा अखिल मांगलिक वस्तुएँ, चित्र विचित्र प्याऊ की ज़मीनें, फल के खाने वाले पक्षी आदि के यथास्थान चित्रण शुभ कहे गये हैं। देश और पुर में क्षेम, आरोग्य और सुभिक्ष होता है और राज को विजय प्राप्त होती है ॥१८०-१८७॥

चित्रपट्टपातादि-फलाफल—इनके कुट्टन, पात, छेद, नाश, अपहरण अथवा दग्ध होने पर जिस योनि में अथवा जिस दिशा में यह होता है तो उसका अमंगल करता है। चित्रपट के पृथ्वी पर गिरने पर राजा का और जनपद का उपप्लव उपस्थित होता है। जब तक ध्वजा का उत्सव होता है, तब तक यदि सब अलंकार सुशोभित रहते हैं, तो राजा बिना विप्लव आदि के सम्पूर्ण पृथ्वी को जय करता है। नटों और नर्तकों के नाचने और पढ़ने पर शुभ में शुभ का समावेश करना चाहिए और अशुभ में अशुभ का। मंगल करने वाले गज और घोड़े सम्प्रहृष्ट होते हैं और ऐसे सुवेश और चेष्टा और अलंकारों से युक्त उन वर्गों में शुभ का शीघ्र ही आदेश करना चाहिए। अमंगल शब्द करने वाले, विकृत एवं दीन चेष्टा वाले जो पुरुष अथवा स्त्री हों उनमें वैशस का निर्देश करना चाहिए। मेघों के समान बड़े-बड़े वाहनों वाले जो पुरुष अथवा स्त्री हों उनमें वैशस का निर्देश करना चाहिए। मेघों के समान बड़े-बड़े मद बहाने वाले अदीन और स्वतन्त्र हाथी राजा की जय के सूचक हैं। अपने दक्षिण खुरों से पृथ्वी खोदने वाले, हृष्ट-चित्त, हिनहिनाने वाले घोड़े भी राजा की जय-सूचना करते हैं। यदि उस समय बिजली चमके, मेघ गरजे और वृष्टि होवे तो राजा की जय, सुभिक्ष और क्षेम जानना चाहिए ॥१८८-१९६॥

शक्रध्वज-पात—अब इसके बाद आधी रात के प्राप्त होने पर उत्सव के दसवें दिन रोहिणी नक्षत्र में मुनि लोग प्रति वर्ष शक्रध्वज के पात का विधान करते हैं। इसके बाद भीड़ के चले जाने पर शक्रध्वज के प्रतिष्ठित हो जाने पर गन्ध, जल और पुष्पों से जलसिंचन करना चाहिए। इस समय यदि लोग अशुद्ध वस्त्रों के टुकड़ों से, भस्म, केश, हड्डी, कीचड़ आदि से क्रीड़ा करते हैं तो दुर्भिक्ष हो जाता है। गिरते हुए शक्रध्वज पर विप्र लोग पूर्व से विलेपन करें। ऐसा करने पर सुभिक्ष, क्षेम, आरोग्य होता है अन्यथा इसके विपरीत करने पर उल्टा फल होता है ॥१९७-२००॥

अष्टांग-स्थापत्य में ध्वजा—के सम्बन्ध में जो कहा गया है उसका वर्णन

करता हूँ—पुर में, ब्रह्मपुर से प्राची दिशा में इन्द्र के स्थान का विधान करना चाहिए। उसका मात्राशय हस्त से प्रमाण करना कहा गया है। चौंसठ वास्तु-पद के समान चारों ओर उस स्थान को चौकोर करना चाहिए और उसका क्षेत्र ८१ पदों मे विभाजित करना चाहिए। प्रमाण से क्षेत्र के आधे भाग से ध्वजा की लम्बाई करनी चाहिए। उसके बाद विद्वान् स्थपति के द्वारा हाथ हाथ पर एक-एक अंगुल की वृद्धि करनी चाहिए। कहीं कहीं पर इन्द्रध्वज की आधी अंगुल वृद्धि करनी चाहिए। यह वृद्धि तब तक करनी चाहिए जब तक अंगुलों से छेद बराबर न हो जावें तब उसके बाद जो पहले प्रमाण था, उसकी फिर विनियोजना करनी चाहिए। केतु का प्रमाण ४० अंगुलों के बराबर माना गया है उसकी साल में दो अंगुलों की वृद्धि करनी चाहिए। ब्रह्म-स्थान में कुशल स्थपति को ब्रह्मावर्त करना चाहिए और ब्रह्मा के बाद प्राची दिशा में अर्यमा देवता का विधान है। वहां पर यन्त्र के दोनों पाद ऊँचाई में छः पद वाले होने चाहिएँ, उसी के पश्चिम भाग में मित्र-देवता का सन्निवेश कहा गया है। उसके बाद यन्त्र का वेध और नति कही गई है। पूर्व और पश्चिम में नीचा हो यह यन्त्र की विधि कही गई है। यन्त्र के पश्चिम भाग में वरुण देवता का निवास है। वरुण के पदान्त-वंश में दो कुमारियों का सन्निवेश कहा गया है। उनका चार हाथों के विस्तार और दश हस्त की ऊंचाई करनी चाहिए। रुद्र के स्थान में तीसरी कुमारी को सुप्रतिष्ठित करना चाहिए। सोम-क्षेत्र में चौथी कुमारी, आप-भाग में पांचवीं कुमारी, सूर्य के भाग में छठी और यम के भाग में सातवीं कुमारी की प्रतिष्ठा का विधान है ॥२०१-२१२॥

———

अध्याय १४

वास्तु-त्रय-विभाग

एकाशीति-पद-वास्तु[1]—क्षेत्र के चौकोर बनाने पर उसका नौ-नौ हिस्सों में (अर्थात् ९ से ९=८१) विभाग करना चाहिए। मध्य में, नौ पदों में, महा-द्युतिशाली ब्रह्मा की प्रतिष्ठा करनी चाहिए। उसके बाद पूर्व दिशा में छः पदों से अर्यमा का निवेश विहित है। आग्नेय कर्ण (पूर्व-दक्षिण) में सवितृ और सावित्र इन दोनों देवों को दो-दो पदों पर प्रतिष्ठित करना चाहिए। ब्रह्मा से दक्षिण की ओर अर्थात् दक्षिण दिशा में छः पदों से विवस्वान् का निवेश अभीष्ट है। पुनः नैर्ऋत्य कर्ण (दक्षिण-पश्चिम) में, जय तथा इन्द्र को, दो-दो पदों से (सवित्र और सावित्र के समान) प्रतिष्ठा देनी चाहिए। (इसी प्रकार) पश्चिम दिशा में छः पदों से मित्र की स्थापना और पश्चिमोत्तर वायव्य कोण में, दो-दो पदों से, यक्ष्मा और रुद्र इन दोनों की स्थापना प्रतिपादित है। अब आइए उत्तर दिशा में। उसमें पूर्वोक्त रीति से छः पदों से निश्चल पृथ्वीधर शेषनाग की प्रतिष्ठा एवं ईशानकोण में दो-दो पदों से आप तथा आपवत्स की प्रतिष्ठा विहित है। इस प्रकार से अन्तःसंश्रित देवों का कथन हुआ, अब बाहर के देवों का कथन करता हूँ ॥१—६½॥

पूर्व से उत्तरादि तक उनका प्रदक्षिण स्थान समझना चाहिए—१. अग्नि, २. पर्जन्य, ३. जयन्त, ४. इन्द्र, ५. सूर्य, ६. सत्य, ७. भृश, ८. नभ, ९. अनिल, १०. पूषन्, ११. वितथ, १२. गृहक्षत, १३. यम, १४. गन्धर्व, १५. भृङ्गराज, १६. मृग, १७. पितृगण, १८. दौवारिक, १९. सुग्रीव, २०. पुष्पदन्त, २१. जलेश्वर, २२. असुर, २३. शोष, २४. पापयक्ष्मा, २५. रोग, २६. नाग, २७. मुख्य, २८. भल्लाट, २९. सोम, ३०. चरक और ३१. अदिति, तथा ३२. दैत्यमाता, ये पद-देवता कहे गये हैं ॥ ६½-१०॥

अग्नि, वायु, पितृगण तथा व्याधि इनके क्रमशः बाहर की ओर चरकी, विदारी, पापराक्षसी और पूतना भी पद-देवता हैं। इनका केवल स्थान कहा गया है। इन्हें पद-भोग नहीं है ॥११-१२½॥

अब बाहर स्थित देवों का पद-भोग कहता हूँ। वहाँ पर आठ द्विपदाधीश

---

१. देखिये 'रेखा-चित्र स' पृष्ठ ९६ पर

कहे जाते हैं (अर्थात् उनका क्षेत्र वास्तु-क्षेत्र में दो पदों का है)। वे हैं—१. जयन्त, २. भृश, ३. वितथ, ४. भृङ्ग, ५. सुग्रीव, ६. शोष, ७. मुख्य और ८. अदिति। इनसे बचे हुए जो बाहर देवता रह जाते हैं वे केवल एक-पदभोगी अर्थात् एक-एक पद के भोगी हैं। इस प्रकार से इक्यासी पद में देवताओं का पदक्रम कहा गया है। वास्तु-त्रय में एकाशीतिपद समाप्त हुआ ॥१२½-१४॥

शत-पद-वास्तु[1]—क्षेत्र के चौकोर बना देने पर, फिर उसके दस-दस भाग करने पर (अर्थात् १० से १०=१००) (वह शतपद वास्तु अर्थात् सौ पदों वाला वास्तु बनता है। अब यहाँ की) देवस्थिति का वर्णन करता हूँ ॥१५॥

शतपद-वास्तु के मध्य में सोलह पदों में पितामह ब्रह्मा का स्थान बताते हैं। और वहीं पर, उन्हीं के पास आठ पद के पद का अर्यमा भोग करते हैं। अर्यमा की तरह विवस्वान्, मित्र, और शेष का भी विद्वानों के द्वारा यही भोग कहा गया है अर्थात् ये चारों देव ८-८ पद वाले देवता हैं। सवित्रादि आप-वत्सान्त जिन देवताओं का यहाँ पर उल्लेख नहीं किया गया है, उन देवों का इक्कासी पद वाले वास्तु के समान यहाँ पर भी एक-एक पद का भोग कहा गया है। १. अग्नि, २. अन्तरिक्ष, ३. पवन, ४. मृग, ५. क्षय, ६. पितर, ७. रोग, ८. अदिति—ये आठ देवता डेढ़-डेढ़ पद के भोगी होते हैं। पर्जन्यादि अदिति-पर्यन्त, जो चौबीस देवताओं का कथन किया गया है वे दो-दो पद वाले होते हैं और बाक़ी पहले ही प्रसाधित हैं ॥१६-२०॥

चतुःषष्टि-पद-वास्तु[2]—क्षेत्र के चौकोर बना लेने पर और पहले की तरह आठ-आठ से विभाग करने पर (८ से ८=६४) ६४ पदों से चतुःषष्टि-पद नामक वास्तु-पद सम्पन्न होता है ॥२१॥

इसमें पितामह ब्रह्मा आभ्यन्तर अर्थात् मध्य में चार पदों का भोग करते हैं और अर्यमा आदि जो देवता हैं वे यहीं पर मध्य में स्थित होकर दो-दो पदों का उपभोग करते हैं। आठों कोणों पर स्थित बीच और बाहर जो आठ देवता स्थित हैं वे यहाँ पर आधे-आधे पदों का उपभोग करते हैं ॥२२-२३॥

१. पर्जन्य, २. भृश, ३. पूषन्, ४. भृङ्ग, ५. दौवारिक, ६. शोष, ७. नाग, ८. अदिति, ये डेढ़ पद का उपभोग करते हैं। बाहर के जयन्तादि तथा चरकान्त जो सोलह देवता कहे गये हैं उन सब में दो-दो पद की स्थिति कही गई है ॥२४-२५॥

सिरानयनप्रकार—वह्नि-पद से ऊपर पितृ-पद के अन्त तक सिरानयन करना चाहिए। बाह्याशा निर्गता इस सिरा पर रोग को लाना चाहिए। फिर

---

१. २. देखिये 'रेखा-चित्र अ, ब' पृष्ठ ८३ तथा ८६ पर

द्विनामा जयन्त से भृङ्ग और भृङ्ग से सुग्रीव को लाना चाहिए और अदिति को वहाँ प्राप्त कर द्विनाम में प्रवेश कराना चाहिए। सौर से याम्य पद लेकर वारुण पद में पहुँचाना चाहिए। फिर उस पद को पूर्व में ले जाना चाहिए और आदित्य को लाना चाहिए। भृश से वितथ को लाकर और इसके बाद वितथ से शोप को लाकर फिर शोप से मुख्य को लाकर, उस से भृश के पास ले जाना चाहिए। क्रमशः जो विभाग सूचित हुए हैं, उनसे बुद्धिमान् स्थपति यज्ञों, देवों एवं मनुष्यों के वास्तु का विभाजन करे ।।२४-३०।।

इन जितने भी देवों का वर्णन किया गया है, उन सबको आँख फैलाकर बड़ी ही प्रीति से अब्जपत्रायताक्ष कमल के समान नेत्र वाले ब्रह्मा जी देखते हैं ।।३१।।

नाड्यादि-सिरादि-विकल्प

षोडश-पद-वास्तु—अब षोडशास्पद लघु वास्तु का कथन किया जाता है। वह सोलह पदों का होता है। वहाँ के देवों को कहता हूँ। मध्य में स्थित होकर मुख्य देव सुरोत्तम चतुरानन ब्रह्मा चार-चार (४ से ४=१६) विभक्त पद-वास्तु में एक पद का उपभोग करते हैं। अर्यमा, विवस्वान्, मित्र और शेषनाग, ये चारों सुरोत्तम पद के आधे भाग के भोक्ता कहे गये हैं। जो सवितृ आदि आपवत्सान्त सूर्य के समान कान्ति वाले आठ देवता ब्रह्मा के कोणों में हैं वे आधे-आधे पद से चार भागों के भोक्ता कहे गये हैं। क्रम से ईशानादि चारों कोनों में जो आठों देवता स्थित हैं, वे विद्वानों के द्वारा आठ भागों के भोक्ता कहे गये हैं अर्थात् एक-एक देवता एक-एक पद वाले हैं। इसी प्रकार से पर्जन्य आदि अदिति पर्यन्त जो आठ और देवता हैं वे विद्वानों के द्वारा चार भागों के भोक्ता कहे गये हैं अर्थात् प्रत्येक देवता आधे-आधे भाग का भोक्ता है। जयन्त आदि चरकी पर्यन्त जो बाहर रहने वाले सोलह देवता हैं उनका भोग अर्ध-अर्ध पद का कहा गया है ॥१-७॥

सहस्र-पद-वास्तु—क्षेत्र के चौकोर बना देने पर तथा उसके तैंतीस-तैंतीस (३३ से ३३=१०८९) भाग करने पर चरकी आदि के लिए अन्त की ढाई पंक्तियाँ छोड़ देनी चाहिएँ। बीच में उसके बाद अर्धपदिका वीथिका छोड़ देनी चाहिये। फिर उसके बाद सत्ताईस-सत्ताईस (२७ से २७=७२९) भागों से वास्तु का विभाजन करना चाहिए। उनतीस पद से युक्त पदों का शतसप्तक अर्थात् सात सौ उनतीस यदि वहाँ होता है तो गर्भ में इक्यासी पद का स्थान ब्रह्मा के लिए होता है। चाप प्रभृति आठ जो अलग-अलग देवता हैं वे अठारह पद वाले, अर्यमा आदि चारों चौवन पद वाले होते हैं। अदिति-पर्यन्त ईशादि जो बाहर के देवता हैं, उनके ११ पद के भोग होते हैं। देशों के सन्निवेश में यह सहस्र-पद-वास्तु विहित है ॥८-१२॥

वृत्त-वास्तु—वृत्त-प्रासादों के लिए वृत्त-वास्तु कहा जाता है। एक चौसठ पद भाग वाला और दूसरा सौ पद वाला होता है ॥१३॥

चतुष्षष्टि-वृत्त-वास्तु—वृत्तविष्कम्भ को आठ-आठ (८ से ८=६४) भागों

में विभक्त करने पर चार भागों के बीच चार परिधियाँ करनी चाहिएँ। बीच का वृत्त दो भागों वाला कहा गया है। बाहर का वृत्त-वलय अट्ठाईस भाग वाला कहा गया है और उसके भीतर का वलय क्रम से आठ-आठ अंशों से छोड़ दिया जाता है। ऐसा कर लेने पर मध्य में ब्रह्मा का पद चतुष्पद कहलाता है और इस प्रकार से चौसठ-पद वाला वृत्त-वास्तु उदाहृत किया गया है ॥१४-१६॥

शतपद-वृत्त-वास्तु—वृत्तविष्कम्भ के दस-दस भाग (१० से १०=१००) विभाजित कर लेने पर समभाग के अन्तर वाली पाँच परिधियाँ बनानी चाहिएँ, और बीच में दो भाग वाला वृत्त होता है। उसका बाहरी वलय ३६ पदों का होता है। शेष विभाजन चौसठ पद वाले वास्तु की स्थिति से शतपद वाले वास्तु में भी वैसा ही होता है। इन दोनों के देवताओं के पदों का संक्षेप चतुरश्र चौकोर वास्तु-पदों के समान होता है। इसी तरह और भी कार्यवश बुद्धिमान् स्थपति के द्वारा नाना अन्य वास्तुओं की योजना करनी चाहिए ॥१७-१९॥

त्र्यश्रादि-वास्तु-पद—त्रिकोण और छः कोण, अष्टकोण, सोलह कोण, वृत्तायत, अर्धचन्द्राकार वास्तु में भी वृत्तवास्तु के समान पद-विभाजन करना चाहिए ॥२०॥

वास्तु-पुरुष—वास्तु-पुरुष एक ही है, उसे इन नाना प्रकारों से परिकल्पित किया गया है। सभी विभक्त संस्थानों में वैसा ही लक्षण करना चाहिए। इस वास्तु-पुरुष के शरीर की कल्पना करनी चाहिए, जिसमें गुण और दोष दोनों होते हैं। इसके शरीर-कल्पन में क्रमशः पहले मुख, फिर सिर, फिर कान (दो) आँख, तालु, ओष्ठ, दाँत, छाती, कण्ठ, स्तन (दो), नाभि, लिङ्ग, अंडकोष (दो), गुदा, बाहु (दो), प्रबाहु (दो), हाथ (दो), स्फिक्, ऊरु (दो) और जंघा (दो) तथा दो पैर। इस तरह उसे पुरुष की तरह आकृति वाला वास्तु-पुरुष बनाना चाहिए। शिराएँ, वंश तथा अनुवंश, सन्धियाँ और अनुसन्धियाँ, मर्म तथा महावंश वास्तु-शरीर में लक्षित किये गये हैं। कान तक जो शिराएँ फैलती हैं वे नाड़ी कहलाती हैं, पद का सोलहवाँ भाग उसी प्रमाण मे लक्षित किया गया है। पूर्व तथा पश्चिम में, उत्तर और दक्षिण में मध्य में दो-दो महावंशों का प्रमाण-पद का पंचम भाग कहा गया है। इसमें जो वंश कहे गये हैं वे मुख्यतः फैली हुई रेखाएँ हैं और जो टेढ़ी आकार वाली रेखाएँ हैं उनको अनुवंश कहा गया है। इनके सम्पातों को मर्म कहा जाता है। जो पद के मध्य में हैं उनको उपमर्म कहा जाता है और इनका भाग आठवाँ, दसवाँ, बारहवाँ, सोलहवाँ कहा गया है। वंशादिकों का क्रमशः पद से प्रमाण कहा गया है। आठों वंशों की जो संधियाँ हैं उनको सन्धि कहा गया है। फिर जो वंशों के अंगों की सन्धियाँ

हैं उनको अनुसन्धि कहा गया है। सन्धियों का प्रमाण, वालाग्र के समान कहा गया है। उनका आधा प्रमाण अनुसन्धियों का प्रमाण कहा गया है। यत्न से इनको वास्तु-विद्या-विशारद स्थपति त्याग कर द्रव्यों का विनिवेश करें ॥२१-३३½॥

महावंशादि-पीड़न-फल—किसी भी द्रव्य से महावंश का अतिक्रमण न करे। अन्य मध्य वंशों में द्रव्य को छोड़ दे। महावंश के अतिक्रमण में स्वामिवध निश्चित है। वंशों के पीड़न से वर्षा की भीति और तपन भीति प्राप्त होती है। उपमर्मों के पीड़न से रोग प्राप्त होता है। मर्मों के पीड़न से कुल-हानि आपतित होती है। शिराओं के पीड़न से उद्वेग और अनर्थ उपस्थित होता है। संन्धियों और अनुसन्धियों के पीड़ित होने पर कलि उपस्थित होता है। इसलिए इन सबको पीड़ित होने से बचावे ॥३३½-३६½॥

वास्तु-देह में शिराओं, अनुशिराओं, नाड़ियों, वंशों एवं अनुवंशों तथा मर्मों को यत्न से समझ कर ही वास्त्वारम्भ करे और उसका फल यह है जो इनका वेध त्याग करे उसको आपत्ति नहीं प्राप्त होती ॥३७½॥

मर्म-वेध

वास्तु-पद-प्रयोग—इस ग्रन्थ में तीन प्रकार का वास्तु कहा गया है—१. इक्यासी पद वाला २. सौ पद वाला और ३. चौंसठ पद वाला। जो जिसके द्वारा विभाजित करना चाहिए उनमें उसका वर्णन करता हूँ अर्थात् किस वास्तु को किस वास्तु-पद से विभाजित करना चाहिये, अब यह प्रतिपादित किया जाता है और इनके जो मर्म हैं, उनको भी यहां पर कहते हैं ॥१-२॥

एकाशीतिपद-वास्तु-प्रयोग—बुद्धिमान् स्थपति को वर्णियों के अर्थात् ब्राह्मणादि वर्णों के घर, राजप्रासादों के निवेश, इन्द्रस्थान, इक्यासी पद वाले वास्तु से विभाजित करना चाहिए अर्थात् इनकी रचना में ८१ पद वाले वास्तुपद (साइट-प्लान) का प्रयोग करना चाहिये ॥३॥

शतपद-वास्तु-प्रयोग—बुद्धिमान् स्थपति को विविध प्रासादों, देव-मन्दिरों को एवं उन्हीं की तरह विचित्र-विचित्र मंडपों (प्रासाद-मण्डपों) को सौ पद वाले वास्तु से नापना चाहिए ॥४॥

चतुष्षष्टि-वास्तु-पद-प्रयोग—इसके अतिरिक्त जो चौंसठ पद वाला वास्तु है, उससे राजशिविरों, ग्रामों, खेटों तथा नगरों का विभाजन करना चाहिए ॥५॥

मर्म-वेध—भीतर के तेरह, बाहर के बत्तीस जो देवता हैं उनके जो स्थान, जो मर्म, जो शिराएँ और जो वंश हैं उनमें से मुख में, हृदय में, नाभि में, शिर में और दोनों स्तनों में जो वास्तु-पुरुष के मर्म हैं, उनको "षण्महान्ति" कहा जाता है ॥६–७॥

वंश, अनुवंश एवं सम्पात और जो पद के मध्य में देवों के स्थान हैं वे प्रथम सोलह पद वाले वास्तु में रहते हैं। पुनः चौंसठ पद वाले वास्तु में देव-स्थान और सम्पात भी वैसे ही होते हैं और वे वैसे ही इक्यासी और सौ पद वाले वास्तु में भी होते हैं ॥८–९॥

चारों विभागों में, चारों दिशाओं में जो शिराएँ होती हैं, जो द्वार के मध्य-भाग पर स्थान होते हैं उनको मर्म कहते हैं ॥१०॥

वेध—दीवाल से विस्तृत मध्य के द्वारा अथवा लकड़ी के मध्य लकड़ी

द्वारा जो मर्म जिस घर में पीड़ित होता है, उसका फल कहा जाता है। द्वारों मे अथवा दीवालों से मर्मों का परिपीड़न होने पर घर के स्वामी की दुर्गति अथवा उसकी कुल-हानि होती है। स्तम्भों के द्वारा वेध स्वामी का नाश करता है। तुलाओं के द्वारा वेध स्त्री का नाश करता है। जयन्तियों के द्वारा स्नुषा (वहू) का नाश और संग्रहों के द्वारा भाई का नाश कहा गया है। मर्मस्थानगत शरीरों से मालिक का शरीर निपीड़ित होता है। सन्धि-पालों के द्वारा विशेषज्ञ सुहृद्-विश्लेष अर्थात् मित्र-हानि बताते हैं। नागपाशों के द्वारा धन-हानि, नागदन्त अर्थात् खूंटी से मित्र-हानि, मर्म में स्थित कापिच्छकों (कंगूरों) से नौकरों की हानि बतायी गई है। षटदारु, अनुशिराएँ, गवाक्ष, आलोकन यदि मर्म-मध्य में स्थित होते हैं तो धन-क्षय करवाते हैं। द्वार, द्रव्य, तुला, स्तम्भ, नागदन्त, गवाक्षों के द्वारा यदि द्वार का मध्य पीड़ित होता है तो रोग, कुल-पीड़ा एवं धन-क्षय उपस्थित होता है। द्वार के मध्यों और षट्दारुओं के मध्य पीड़न को भी पंडित लोग नृप-दंड का भय और स्वामी का पीड़न कहते हैं। कर्ण-द्रव्य आदि से वेध होने पर यही फल कहा गया है। शय्या यदि अनुवंश से विहित है, तो घर वालों का कुलनाश करने वाली कही गई है। शय्या के वितान में स्थित नागदन्त स्वामी के क्षय का कारण होते हैं। जो नागदन्त गवाक्षों और स्तम्भों से विद्ध होते हैं वे शस्त्र का भय उत्पन्न कर देते हैं अथवा स्वामी के लिए चौर-भय उत्पन्न करते हैं और साथ-ही-साथ द्रव्य और धान्य के विनाश के कारण होते हैं, शोक तथा लड़ाई भी उत्पन्न करते हैं। गृह के मध्य भाग में द्वार-विनिवेश स्त्री-दूषण के लिए होता है। अन्य द्रव्य से भी यदि महामर्म निपीड़ित होता है तो गृही का सर्वनाश और मरण उपस्थित होता है। पुरों, प्रासादों और घरों में अंशुक, ऊर्ध्व-वंश तुम्बिका और इन्द्रकील के वेध होने पर ये दोष उपस्थित करने वाले नहीं होते ॥११-२३½॥

इस प्रकार से देवों, राजाओं और ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि वर्णों के घरों को आश्रित करने वाला यह मर्म-वेध कहा गया है और इसका फल भी अलग-अलग कहा गया है। अब वास्तु-पुरुष के अंगों का विभाग यहां पर कहता हूं ॥२३½–२४½॥

पुरुषांग-देवता-निघंट्वादि-निर्णय

वास्तु-पुरुषाङ्ग-देवता—देवताओं के पृथक्-पृथक् प्रकारों से सम्विभक्त पदों के द्वारा प्रयत्नवान् स्थपति निम्नलिखित इस प्रकार की पुरुषाकृति वास्तु का निर्माण करे। उसके शिर को अग्नि कहा गया है, दृष्टि को अर्थात् दोनों आंखों को दिति और मेघों का अधिपति (वरुण) कहा गया है और इसके कानों को जयन्त और अदिति कहा गया है। मुख में वायु स्थित है। दक्षिण बाहु में सूर्य और वाम वाहु में चन्द्र प्रतिष्ठित कहे गये हैं और इसके वक्षःस्थल पर आप-वत्स के सहित महेन्द्र और चरक स्थित हैं। दक्षिण स्तन पर अर्यमा तथा वाम स्तन पर पृथ्वीधर वताये गये हैं। १. यक्ष्मा २. रोग ३. नाग ४. मुख्य ५. भल्लाट—ये पांचों देवता बाईं बाहु में समाश्रित कहे गये हैं। १. सत्य २. भृश ३. नभ ४. वायु और ५. पूपा—ये पांचों देवता इस वास्तु-पुरुष की दक्षिण बाहु में समाश्रित हैं। १. सावित्र अर्थात् गणेश और २. सविता, ३. रुद्र और ४. शक्ति-धर—ये चारों देवता दोनों हाथों के कफोणिस्थ हैं और हृदय में ब्रह्मा विराजमान हैं। वितथ और ओकःक्षत—ये दोनों देव इसकी दक्षिण बग़ल में स्थित हैं और बाईं बग़ल में शोप और असुर नामक देवता स्थित हैं। मित्र और विवस्वान् इसके पेट में आश्रित हैं। इन्द्र और जय नामक दो देवता इसके लिंग के मध्य भाग में स्थित हैं। यम और वरुण क्रमशः दाईं ओर और बाईं ऊरु में स्थित हैं। मृग सहित गन्धर्व और भृङ्ग दक्षिण जंघा में स्थित हैं। द्वास्थ, सुग्रीव और पुष्प नामक देवता बाईं जंघा में स्थित हैं। पितृगण चरणों में स्थित हैं ॥१-१०॥

वास्तु-पुरुष-शिर-दिशा—इक्यासी पद वाले वास्तु-पद में वास्तु-पुरुष का शिर ईश-दिग्विभाग में आश्रित है और चौंसठ पद वाले वास्तु में उसका शिर माहेन्द्री दिशा में संश्रित है ॥११॥

इक्यासी पद-वास्तु से सौ पद वाला वास्तु उत्पन्न होता है और जो सोलह पद वाला वास्तु है वह चौंसठ पद वाले वास्तु से उत्पन्न होता है ॥१२॥

वास्तु-देवता-निघण्टु—देवों के मध्य में जो कमल-भू ब्रह्मास्थित हैं वे हज़ार मुख वाले ब्रह्मा अचिन्त्य-विभव हैं, वे सारे जगतों के मालिक हैं। यहाँ पर जिस

अग्नि का उल्लेख किया गया है वह सर्वभूत-हर भगवान् शंकर हैं और जिस पर्जन्य नाम वाले देव का कथन हुआ है वह वृष्टिमान् अंबुदाधिप हैं। द्विनाम वाले जो जयन्त हैं, वे भगवान् कश्यप ऋषि हैं और जो महेन्द्र हैं वे देव-पति हैं और राक्षसों के संहारक कहे गए हैं। दिनकर विवस्वान् को आदित्य कहते हैं, सत्य से अभिप्राय प्राणियों के हितैषी धर्म से है और भृश के अर्थ हैं भगवान् काम-देव, जो अन्तरिक्ष देव हैं वे नभोदेव कहे जाते हैं। मारुत से वायु का उद्देश्य है और पूषा से मातृगण का तात्पर्य है। वितथ नाम के जो देव हैं, वह कलियुग के अप्रतिम सुत अधर्म हैं। ग्रहक्षत नाम के जिस देव का बखान किया गया है वे चन्द्रमा के पुत्र बुध हैं। प्रेतों के मालिक श्रीमान् यम वैवस्वत हैं, भगवान् गन्धर्व देव नारद परिकीर्तित हैं। निर्ऋति के लड़के राक्षस से अभिप्राय यहां पर भृङ्ग-राज से है और जो यहां पर मृग कहे गए हैं, उनसे स्वयंभू ब्रह्मा और धर्म का मतलब है। पितृगणों से पितृ-लोक के निवासी देव वर्णित हैं और दौवारिक से प्रथमों के अधीश्वर नंदी का अभिप्राय है। सुग्रीव से आदि प्रजापति सृष्टिकर्ता मनु व्यपदिष्ट हैं। पुष्पदन्त विनता के लड़के महाजवशाली वायु हैं। वरुण जो हैं, वह समुद्रों (जलों) के मालिक और लोकपाल भी कहे गए हैं। असुर से अभिप्राय सूर्य एवं चन्द्र के ग्रासक सिंहिका राक्षसी के लड़के राहु से है। शोष से सूर्य-पुत्र भगवान् शनिश्चर का अभिप्राय है। पाप-यक्ष्मा से क्षय का बोध होता है और रोग से ज्वर प्रतिपादित है। नाग से सर्पों के मालिक श्रीमान् वासुकि शेषनाग कहे गए हैं। मुख्य की संज्ञा वाले देव से विश्वकर्मा और त्वष्टा से अभिप्राय है। भल्लाट को चन्द्र कहा गया है और सोम संज्ञा वाले देव से कुबेर का ज्ञान होता है। व्यवसाय नाम वाले चरक कहे गए हैं और यहाँ पर अदिति नाम से लक्ष्मी का अभिप्राय है। यहां पर दिति से त्रिशूल धारण करने वाले वृषभध्वज शंकर कहे गये हैं, आप हिमालय कहे गए हैं और आपवत्स से उमा स्मृत की गई हैं। अर्यमा से आदित्य और सावित्र से वेदमाता समझना चाहिये। विद्वानों के द्वारा यहां पर सविता से गंगा देवी प्रख्यात हैं। विवस्वान् से शरीर को हरण करने वाला मृत्यु कहा गया है। जय नामक देववज्र धारण करने वाले बलवान् हरि इन्द्र कहे गए हैं। मित्र से माली हलधर और रुद्र तो महेश्वर कहे गए हैं। राजयक्ष्मा स्वामि कार्तिकेय कहे गए हैं और क्षितिघ्र पृथ्वीधर से भगवान् अनन्त शेषनाग कहे गए हैं। चरकी, विदारी, पूतना, पापराक्षसी, इनको राक्षस योनि में उत्पन्न होने वाली देवताओं की अनुचरी कहा गया है। इस प्रकार से वास्तु देवों का यह निघंटु परिकीर्तित किया गया ॥१३-३२३॥

वास्त्ववयव-विदित-वर्ण—'क्ष' मूर्धा में 'ह' दोनों आंखों के बीच में 'स'

नासिका में 'ष' ठोढ़ी में, 'श' कंठ में, 'व' हृदय में, लकार नाभि देश में, रेफ वस्ति में, यकार लिंग में, मकार दोनों मुष्कों में, नकार ऊरु में, णकार जानु में, ञकार पिंडिका में, ङकार दोनों एड़ियों में, पकार चरणों में स्मृत किये गये हैं ॥३२½-३४॥

इस प्रकार से वास्तु-पुरुष के अंगों का वर्णन किया गया और वास्तु-पद के देवताओं के नाम-भेद का भी उल्लेख किया गया। यहाँ पर वास्तु-शरीर के अवयवों में सोलह ही वर्ण कहे गए हैं। अब देवता-पुरस्सर पुर-निवेश का प्रतिपादन यथावसर किया जावेगा ॥३५॥

बलिदान-विधि

अब बलिदान-विधि का प्रकार अथवा पूजा की विधि का वर्णन करता हूं। इस पूजा-विधि के द्वारा समुचित अर्चित होने पर महेश्वर शिव जी के सहित सब देवता तुष्ट होते हैं ॥१॥

वास्तु के (निर्मित भवन के) मध्य भाग में गोबर से मंडल बनाना चाहिए और वहां पुष्प और सुवर्ण सहित कलश स्थापित करना चाहिये ॥२॥

उसके बाद यथा-स्थान नियोग से वास्तु-देवों की कल्पना करे और फिर धूप और विविध प्रकार की पुष्प-मालाओं से उनके लिए अर्घ्य-निवेदन करे ॥३॥

मालाओं, धूपों और चंदनादि विलेपों से और बहुत प्रकार के फलों और भोगों से सुसमाहित होकर विश्वकर्मा का पूजन करे ॥४॥

घी, दूध, दही से शिखी भगवान् स्वामि-कार्तिकेय की आराधना करे। शालि (चावल), गेहूं, उड़द आदि धान्य से पर्जन्य की अर्चना करे ॥५॥

आम, द्राक्षा और खजूर आदि से जयन्त की पूजा करे। मालती और मल्लिका पुष्पों से त्रिदशाधिप इन्द्र की पूजा करे। तदनन्तर संसार के नेत्र जगन्नाथ भगवान् सूर्य की लाल पुष्पों, लाल चन्दन के विलेपन से और धूप से पूजा करे ॥६-७॥

जम्बीर से, निम्बुओं से, नारंगी और पीले फलों से सत्यनारायण देव की पूजा करे, क्योंकि वे इस प्रकार की पूजा से सन्तुष्ट होते हैं ॥८॥

मछली और मांस से सारे प्रधान राक्षस तुष्ट होते हैं और सफ़ेद फलों से और नारियलों से भृश परितुष्ट होता है ॥९॥

गंध, धूप के प्रयोग से नभ नामक देव की अर्चना करनी चाहिये तथा सुगन्धित पुष्पों से मारुत परितुष्ट होता है ॥१०॥

मधु (शहद) संयुक्त कृसर (खीर) को भगवान् पूषा के लिए भक्तिपूर्वक निवेदन करे और वितथ को तो अन्य शुभ मद्य-मांस-विवर्जित पदार्थों का निवेदन करे ॥११॥

महामुनि विवस्वान् पूजित होने पर तुष्ट होते हैं और गृहक्षत छोटे छोटे

पुष्पों से पूजित होने पर सन्तोष को प्राप्त करते हैं ॥१२॥

यम की तुष्टि सदा मछली-मांस से युक्त भव्य पदार्थों से होती है। विद्वान् स्थपति पुन्नाग, अगरु, धूप से **गन्धर्वों** की पूजा करे ॥१३॥

मृगमांस से युक्त भोजनों से **भृङ्गराज** को तर्पित करे और **मृगदेव** की अभ्यर्चना राजजम्बू फलों और बेलों से करे ॥१४॥

शहद-मिश्रित पायसों (खीरों), मांसों और सुन्दर भातों से जिनमें कर्पूर तथा अन्य सुगन्धित द्रव्य मिले हों, **पितरों** की पूजा करे ॥१५॥

पुष्प सहित लड्डुओं, लाजों से मिश्रित मांसों से विघ्नकारक **दौवारिक** की सावधानतापूर्वक पूजा करे ॥१६॥

अपूर्व शोभा वाले गन्धों, धूपों और अनुत्तम मालाओं से तथा कंटक-जाति के पुष्पों से **सुग्रीव** की सदा पूजा करे ॥१७॥

यश और वीर्य से युक्त **पुष्पदन्त** नामक देवता की सपुष्प लावों और दधियुक्त अन्न और पायसों ऐसे भक्ष्यों से आराधना करे ॥१८॥

वैनतेय (गरुड़) की पूजा सूकर आदि के मांसों से करे। महासत्व **वरुण** की पूजा धूप और चन्दन से करे ॥१९॥

राहु को मांस-युक्त भक्ष्य-भोजनों से तर्पित करे और खून से **शनैश्चर** तुष्ट होता है ॥२०॥

मांस से तो रोगों का राजा **क्षय** तुष्टि को प्राप्त होता है तथा सर्वलोक-भयंकर रोग की चर्बी से पूजा करे। सतत दुग्ध-दान से मनुष्य वासुकि की पूजा करे और **विश्वकर्मा** देवता की पूजा जैसी पहले बताई गई है उसी तरह करे ॥२१-२२॥

बुद्धिमान् सफ़ेद पुष्पों के विन्यास से **भल्लाट** की पूजा करे तथा दधियुक्त अन्न से सर्वत्र **चन्द्र** की पूजा करे ॥२३॥

मनुष्य सदैव धूप-दान से **कुबेर** की पूजा करे और **अदिति** की सुवर्ण से तथा कमलों से पूजा करे ॥२४॥

अर्क (अकौड़ा) और मन्दार पुष्पों की मालाओं से **वृषभ** की पूजा करे तथा अन्य देवताओं की धूप आदि से करे ॥२५॥

सब प्रकार के पुष्पों और फलों से इन देवों की पूजा बुद्धिमान् को सदैव करनी चाहिए। इस प्रकार सब प्रकार से बलि (पूजा) विधान शान्ति के लिए बताया गया है ॥२६॥

वास्तु-कृत्य—भूमि के शोधन में, कर्षण (जोतने) में, साधन में, रूप-कल्पन में, गृह के प्रवेश में, अभ्युदयों में, स्कन्धावारों (छावनियों) के निवेशों में, पुर

तथा ग्राम के निवेशन में तथा मन्दिर और राजप्रासाद के निवेशनों में इन पूर्वोक्त बलियों को प्रयत्नपूर्वक देवताओं को बुद्धिमान् वितरण करें। वास्तु कृत्यों के अन्य प्रारम्भों के विधान करने की इच्छा रखने वाला स्थपति इस पूजा-विधि से सफल मनोरथ होता है ।।२७–२८।।

रेखाचित्र 'अ'

मण्डूक अथवा भेकपद

(चतुष्षष्टिपद-वास्तु-पद)

पृथ्वीधर द्विपदिक

मित्र द्वि-पदिक

ब्रह्मा चतुष्पदिक

अर्यमा द्वि-पदिक

विवस्वान् द्विपदिक

टि०—शेष देवों का उल्लेख नहीं किया गया। एकाशीति के सदृश पृष्ठ ९६ बोधव्य हैं। पदभोग का क्रम निम्न है—

क. ब्रह्मा = ४

ख. मध्योपान्तस्थ द्विपदिक पृथ्वीधर, मित्र, अर्यमा एवं विवस्वान् = ८

ग. मध्यकोणस्थ आठ देव तथा बाहरी आठ देवता—प्रत्येक अर्धपदिक = ८

घ. अन्य बाहरी देवता—पर्जन्य, भृश, पूषा, भृङ्गराज, दौवारिक, शाष, नाग तथा अदिति—प्रत्येक सार्धपदिक = १२

ङ. शेष १६ देवता जयन्तादि चरकान्त—प्रत्येक द्विपदिक = ३२

योग = ६४

वस्तु-संस्थान-मातृकाध्याय

अब वास्तु-संस्थान-मातृका का सब कर्मोपजीवियों के निवास-हेतु पूरी तरह से वर्णन किया जाता है ॥१॥

१. सम २. चतुरश्र ३. साचि ४. दीर्घ ५. वृत्त ६. शम्बुक ७. शकटाक्षाकृति ८. भगाकृति ९. आदर्शाकृति १०. वज्राकृति ११. कन्याकृति १२. छिन्नकर्ण १३. विकर्ण १४. शंख-सदृश १५. क्षुर-सन्निभ १६. शक्तिमुख १७. कूर्मपृष्ठ १८. सदंश १९. व्यजनाकृति २०. शरावाकृति २१. स्वस्तिकाकृति २२. पणवाकार २३. मृदङ्गाकार २४. विशर्कर २५. कबंधाकृति २६. यवमध्य-समाकृति २७. उत्सङ्गाकार २८. गजदंताकार २९. परशु-सदृश विश्रावित ३०. श्वभ्र ३१. प्रलम्ब ३२. विवाहिक ३३. त्रिकुष्ट ३४. पञ्चकुष्ट ३५. परिच्छिन्न ३६. दिक्स्वस्तिकाभ ३७. श्रीवृक्ष ३८. वर्धमान-समानन ३९. एणीपद ४०. नरपद—ये चालीस वास्तु-संस्थान के क्षेत्र संक्षेप से बताये गये। अब इनका विनियोग बताया जाता है ॥२-७॥

चौकोर तथा सम में राजा वास करे, शय्याकार में पुरोहित, दीर्घ में छोटे राजकुमार और वृत्तायत में सेनापति निवास करें ॥८॥

शम्बुक के आकार में सुख चाहने वाले सब (गज, अश्व रथादि) वाहन निवास करें। सम में अन्तःपुर का घर तथा शकटाकृति में बनिया लोग बसें ॥९॥

वेश्याएँ भग-संस्थान में, दर्पणाभ संस्थान में सुनार तथा वज्र-सदृश संस्थान में नगर-गोष्ठिक लोग रहें। शंख-संस्थान-क्षेत्र में पुत्राभिलाषी लोग निवास करें और छिन्नकर्ण में महामात्र लोग एवं विकर्ण में बहेलिए बसें ॥१०-११॥

शंखाभ में काने और क्षुरोपम संस्थान में गणाचार्य, शक्तिमुख में व्रजाध्यक्ष और कूर्मपृष्ठ-संस्थान में माली लोग बसें ॥१२॥

संदश में दर्जी और व्यजनोपम-संस्थान में साईस (वाजिपोषक) लोग, शरावाकृति में बढ़ई बसें और स्वस्तिकाकृति में बन्दी और मागध लोगों का निवास विहित है ॥१३॥

पणवसदृश एवं मृदङ्गसदृश संस्थान में वेणु, तूर्य आदि बाजा बजाने वालों और विग्रकर में रथ को हाँकने वालों और कवंधप्रतिम संस्थान में नीचों और चाण्डालों, यव-प्रतिभ-संस्थान में खेतिहरों, उत्सग में श्रमण लोगों तथा गजदंतक में पीलवानों (हाथी के वाहकों) के निवास विकल्प्य हैं ॥१४-१५॥

परशु की प्रतिमा वाले क्षेत्र में कैंदी लोग, त्रिश्रावित में शराव बनाने वाले, अभ्राभ्र में मजदूर, प्रलम्ब (युगल) में नाई लोग और वैवाहिक में खज़ाने की रक्षा करने वाले, त्रिकुट्ट और पंचकुट्ट में वह्निजीवी लोग रहें ॥१६-१७॥

सब मानोपजीवी लोग सब तरफ़ से परिच्छिन्न संस्थान में बसें और दिक्स्वस्तिक में से सब तरफ़ चैत्य और घरों का निर्माण करें ॥१८॥

श्री-वृक्ष-प्रतिम-संस्थान में यज्ञवाटों तथा वृक्षों को लगावें तथा वर्धमानाकृति संस्थान में भी इन्हीं का प्रकल्पन करें ॥१९॥

गणीपद में गणिकाएँ तथा नरपद में चोर। इस तरह से सब प्रकार के कर्म की जीविकावृत्ति वाले (हर प्रकार के) लोगों के शुभकारी निवासों का वर्णन किया गया ॥२०॥

विभिन्न कर्म के उपजीवियों के निवास के निमित्त इन क्षेत्रों का विचार-पूर्वक वर्णन किया गया। यथा-प्रतिपादित उनके वेश्मों का जो स्थपति निर्माण करता है, वह स्थपति इस संसार में किसका सम्माननीय नहीं होता ? ॥२१॥

अध्याय २०

शिलान्यास-विधि

अब यथाशास्त्र इस वास्तु-शास्त्र में शिलान्यास की विधि कहता हूँ ॥१॥

पुण्य उत्तरायण में, मास के शुक्लपक्ष में, शुभ दिन स्थिर-ग्रह वाले गुण से युक्त दिवस और करण में, तिष्य-अश्विनी-रोहिणी में, और तीनों उत्तराओं में भी, रेवती, श्रवण और हस्त में शिलान्यास का आचरण करे। स्थिर राशि के उदय होने पर और सौम्यग्रहों और मित्र-ग्रहों से अवलोकित लग्न में ठीक तरह से निमित्त शकुन होने पर और स्वस्ति तथा मंगल-पाठ करते हुए, हर्षित मन होकर वास्तु का निवेशन करे ॥२-४॥

प्रकृति से भद्र-आकृति, शास्त्रज्ञ, पवित्र, स्नात एवं सुसमाहित स्थपति देवार्चन की क्रिया सम्पादन करके कर्म का आरम्भ करे ॥५॥

पूर्ण, बराबर, अविकल, चौकोर, साध्वी, पहिली शिला की चय-विधि में विचक्षण स्थपति परीक्षा करे ॥६॥

कुम्भ, अंकुश, ध्वज, छत्र, मत्स्य, चामर, तोरण, दूर्वा, नागफल (नारियल), उष्णीष, पुष्प और स्वस्तिक तथा वेदियों से और चामर सहित नन्द्यावर्तों से, कूर्म (कछुवा), पद्म और चन्द्रमा से वज्र के समान प्रशस्त प्रकारों से भूषित शिलाएँ कर्म-हितकारक कही गई हैं ॥७-८॥

जो शिला दीर्घ, छोटी, विषम, आध्मात, अपरीक्षित, दिङ्मूढ, अंगहीन, हड्डी, अंगार अथवा कंकड़ों से युक्त, खंडित, बुरी पकी हुई, फटी हुई और काली हो वह सब दोष भय आदि वाली कही गई हैं ॥९-१०½॥

मनुष्यों के और पशुओं में घोड़ों के पद-चिन्हों से चिह्नित शिला मंगल की वृद्धि करने वाली कही गई है। मांसाहारी मृग और विहंगों के पादों से स्पर्श की गई शिलाओं को छोड़ दे ॥१०½-११½॥

१. नन्दा, २. भद्रा, ३. जया, ४. पूर्णा—ये चार शिलाएँ कही गई हैं और उन्हीं के समान १. वाशिष्ठी, २. काश्यपी, ३. भार्गवी और ४. आंगिरसी—ये क्रमशः उनकी संज्ञाएँ समझनी चाहिएँ ॥११½-१२½॥

वहाँ पर प्रागुत्तर देश में वास्तु-सन्निवेश की नैर्ऋत्य दिशा में पुष्प

सहित बराबर, गोचर्म-सम्मित, गंध और कलशों सहित चौकोर वेदी बनाए। आग्नेय दिशा में क्रमशः पहिले नन्दा नामक शिला का स्थापन करे और उसका अकाल-मूल वाले अविकल अंग वाले, पद्म, उत्पल एवं पल्लवों सहित सर्वोषधियों एवं हिरण्य आदि से, सुवर्ण, चांदी अथवा तांबे से बने हुए घड़ों से मन्त्रोच्चारण करते हुए अभिषेचन करे। तीर्थ के बहते हुए जलों से, रत्न, अक्षत और कमलों के साथ सुगंधित मांगलिक अभिषेक का प्रयोग करे ॥१२३-१६॥

गंगा, यमुना, रेवा, सरस्वती आदि से लाया गया अथवा महानदी का जल अथवा शुभ तीर्थों से लाया जल प्रशस्त कहा गया है। उसी प्रकार पर्वत, वन, वेशन्त, देवायतन जल से यथालाभ अभिषेक के लिए जल लाना चाहिए ॥१७-१८॥

पुनः इस मन्त्र से इनका अभिषेक करे। "हिरण्य-वर्ण, पवित्र करने वाले शुचि, और पाप का नाश करने वाले, शान्ति, श्रीयुत, मधुच्युत ये जल तुम लोगों की रक्षा करें।" इस मन्त्र के द्वारा पवित्र किये हुए जल से शिला को स्नान करा कर, स्थपति गंध-युक्त मांगलिक पदार्थ से उस पर लेप करे। शीतल चन्दन से पूर्ण सुगन्धि को उसमें मिला कर लेप करे ॥१९-२१॥

फिर इसको (शिला को) लावों सहित पुष्प-मालाओं के द्वारा ढक दे और धूप, मालाओं, उपहारों, दधि, मांस और अक्षत आदि से तथा पुष्कल वस्त्र के जोड़ों से इष्टिका देवी की पूजा करे। शिला-निवेशन के बाद तब नैर्ऋत्य दिशा में सम संख्या वाले (चार, आठ, बारह, सोलह) पवित्र, विद्वान्, बैठे हुए ब्राह्मणों की दक्षिणा-फलों से पूजा करे। फिर कर्ता ओंकार, स्वस्ति, मांगलिक गीत और बाजा आदि से रोमांचित होकर उन लोगों को प्रणाम करे ॥२२-२४॥

उसके बाद वास्तोष्पति तथा भूतों के लिए बलि चढ़ा कर उन चारों शिलाओं की अन्य चार उपशिलाएँ निवेशित करे। उनमें प्राकार तथा स्वस्तिक से अंकित दो शिलाओं को और तीसरी श्री वत्स-लक्षणा और चौथी नन्द्यावती बतायी गयी है। पूर्व और दक्षिण के करण में, वास्तु के अधःप्रदेश में नन्दा को स्थापित करे और भद्रा आदि अन्य शिलाओं को दूसरे तीनों कोनों पर स्थापित करे। और उन चारों के प्रतिष्ठा-मन्त्र शाश्वत एवं आरम्भ दर्शन कराने वाले इन चार मन्त्रों को ऋषियों ने गाया है। "आदिवराह के वीर्य से, वेदार्थी से अभिमंत्रित वसिष्ठ-नंदिनी नन्दा को मैं पूर्व में स्थापित करता हूँ। सुमुहूर्त दिवस में निवेशित तुम हे नन्दे ! स्वामी की दीर्घ आयु और श्रीवृद्धि करो। हे सर्वतो-

भद्रे ! तुम कल्याणदायिनी हो, अतः कल्याण करो। काश्यप की प्रिय सुते ! गृह को बनाने वाले की लक्ष्मी-वृद्धि करो। ऐ जये ! इस महात्मा गृहस्वामी की विजय करो। ऐ सम्पूर्ण चन्द्रकान्ति वाली ! वास्तु के अधःप्रदेश में तुम्हारे न्यस्त होने पर इस यजमान का भूमि पर चन्द्र और सूर्य पर्यन्त यश बढ़े। ऐ पूर्णे ! यह गृहस्वामी पूर्ण-मनोरथ होवे।" इस प्रकार से स्वस्तिवाचक मन्त्रों से उन हिरण्यवर्ण वाली शिलाओं का शिलान्यास करे ।।२५-३४।।

उन हिरण्यवर्णा शिलाओं से समुद्भूत पूर्व और उत्तर में प्लवन शुभ माना गया है, पश्चिम और दक्षिण में नहीं ।।३५।।

चैत्य में, भवन में, प्राकार में और पुर-कर्म में, वितान[1] में, चिति-विन्यास अर्थात् यज्ञवेदियों में, ब्रह्मा के मन्दिर में, प्रतिमा के स्थापन में, शान्तिवेदियों में, और मूर्ति की स्थापनाओं में याज्ञिक विधान से क्रमशः इन नन्दादि शिलाओं की तथा इष्टिकाओं की पुरोहित स्थापना करे ।।३६-३७।।

त्रैशोक, और्ण, आसभ नामक महावृत साम-मन्त्रों से तथा गायत्री उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती—इन चार छन्दों से क्रमशः चारों शिलात्रयों का चयन करना चाहिए। फिर चतुर स्थपति रुक जाए और भित्ति का प्रमाण जान कर चारों चयों का चयन करे ।।३८-३९।।

आदिकर्म को इस प्रकार से समाप्त करना चाहिए और उसके बाद उन शिलाओं को भूतल पर सुस्थित और बराबर प्रतिष्ठित चलाना नहीं चाहिए, क्योंकि चालन से गृहस्वामी के लिए बड़ा भय होता है और इनके कम्पन में भी बहुत बड़ा भय समझना चाहिए और इनकी स्थिरता में स्थपति और गृह-स्वामी दोनों का बड़ा भारी मंगल कहा गया है ।।४०-४२½।।

पूर्व और दक्षिण में चालन से गृह-स्वामी को बड़ा भय होता है, नैर्ऋत्य में भार्या का विनाश और वायव्य में भीति, ईशान कोण में गुरु का भय, वारुणी में भी वैसा ही ।।४२½-४३।।

इसी प्रकार प्रथम स्थापित खंभों को भी नहीं चलाना चाहिए और न उनको उठावे और न हिलावे क्योंकि इन दोनों की विधि समान कही गई है। इसलिए पहिले समाहित-चित्त स्थपति को शिलाओं के समान स्तम्भों का भी विन्यास करना चाहिए ।।४४-४५।।

---

१. प्रासाद-वास्तु में वितान मण्डप-सहचर है। 'संवरण' तथा 'वितान' मण्डप-वास्तु के प्रमुख अलङ्करण हैं। वितान छत के बीच और संवरण ऊपर बनाया जाता है।

द्वार, प्राकार, शालाओं, नगरों और घरों का भी वही प्रमाण विहित इसलिए उसमें पूर्ण मनोभिनिवेश से कार्य करना चाहिए ॥४६॥

इस प्रकार यह शिला-विन्यास-विधान का यथावत् हमने उपदेश किया। इस प्रकार के विधान करने पर वेश्म और मन्दिर आदि की निष्पत्ति बिना विघ्न के पूर्ण होती है ॥४७॥

रेखाचित्र 'ब'

शतपद अथवा आसन

(शतपद-वास्तु-पद)

टि०—शेष देवों का उल्लेख नहीं किया गया, एकाशीति के सदृश (पृष्ठ ८६) बोधव्य हैं। पद-भोग का क्रम निम्न है—

क.	ब्रह्मा	=	१६
ख.	अर्यमा आदि देव	=	३२
ग.	आठ मध्यकोणस्थ देव—एकपदिक	=	८
घ.	आठ बाह्य-पद-कोणस्थ देव—सार्धपदिक	=	१२
ङ.	पर्जन्य आदि ८—द्विपदिक	=	१६
च.	शेष सोलह—एकपदिक	=	१६
		योग =	१००

कीलक-सूत्रपात

ब्राह्मणादि वर्णों के गृह-निर्माणावसर, सूत्रपात-विधि में कीलकों (अर्थात् खूंटियों— Pegs) में जिन लकड़ियों की योजना करनी चाहिए उनका कल्याण उनकी कीर्ति और हित-सम्पादन के लिए वर्णन करता हूँ ॥१॥

कीलक—खदिर, उदुम्बर, अश्वत्थ, शाल, शाक, घव, अर्जुन, अंजन, कदर, अशोक, तिनिश, अरुण, चन्दन, शिरीष, मर्ज, न्यग्रोध और वेणु के कील वास्तु-कर्म में प्रशस्त माने गये हैं। पुरुष नाम वाले वृक्ष प्रशस्त कहे गये हैं, तथा स्त्री नाम वाले निन्दित कहे गये हैं ॥२-३॥

अश्वत्थ और खदिर ये दोनों ब्राह्मण के लिए वृद्धिकारक कहे गये हैं। लाल चन्दन और वेणु से निर्मित कील क्षत्रिय के लिए शुभ कहे गये हैं ॥४॥

शाक और खदिर ये दोनों सामन्तों के लिए हितकारक कहे गये हैं तथा शाल और शिरीष ये दोनों वैश्यों के लिए शुभ कीर्तित किये गये हैं। शूद्र जाति के लिए तो तिनिश, घव, और अर्जुन वृक्षों से निर्मित कीलक शुभ कहे गए हैं। वैश्यों के वेश्मों में और अन्य सौभाग्य-कार्यों में अशोक से निर्मित कीलक शुभ कहे गये हैं। वनियों के घर में न्यग्रोध और भूमि-कर्म में उदुम्बर तथा महामात्र और अश्व-वैद्यों (घोड़ा-डाक्टरों) के घर में मर्ज और अर्जुन के कील विशेष प्रशस्त बताये गये हैं ॥५-७॥

विप्रों के लिए सर्व वर्णों के लिए प्रतिपादित वृक्षों से निर्मित और क्षत्रियों के लिये तीन वर्णों के लिये सूचित वृक्षों से उत्पन्न, वैश्यों के लिये दो वर्णों के लिये प्रशस्त वृक्षों से निर्मित और शूद्रों के अपने वर्ण वाले कीलक शुभ कहे गए हैं ॥८॥

कल्याण की इच्छा रखने वाले को प्रतिलोम (अपने वर्ण के प्रतिकूल) कीलकों का निर्माण नहीं करना चाहिए ॥९३॥

अथ कीलकों का अलग-अलग प्रमाण कहा जाता है। ब्राह्मणों के कील ३२ अंगुल वाले शुभ कहे गए हैं और अट्ठाइस अंगुल वाले क्षत्रियों के लिए। चौबीस अंगुल वाले कीलक वैश्यों के लिए शुभदायी और बीस अंगुल वाले

कीलक शूद्र जाति के लिए हितकारक कहे गए हैं ।।९½-११।।

इन सभी कीलों में छः अंगुल का परीणाह मंगलकारक कहा गया है और ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों के कील क्रमशः चौकोर, अठकोण अथवा षट्कोण कहे गये हैं । शूद्र का छः अस्र वाला तथा सामान्य-प्रकृति का इच्छानुसार कील होता है ।।१२-१३½।।

सूत्र—कुश, मूंज, ऊन और कपास का बना हुआ दृढ़ सूत्र क्रमशः ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों का अर्घ-पर्व के परीणाह वाला विहित है । अपने सूत्रों की अप्राप्ति में वर्णित इन सूत्रों में से किसी एक का सूत्र बुद्धिमान् ग्रहण करे । इन वर्णों के अतिरिक्त और लोग अपनी इच्छा से किसी भी सूत्र का ग्रहण करें ।।१३½-१५½।।

इस प्रकार से सब सम्भारों (सामग्रियों) को इकट्ठा करके गृह-स्वामी शुभ दिन में शुक्ल पक्ष में शुद्ध हो कर और स्नान करके और स्थपति भी शुभ्र वस्त्र धारण कर गृहस्थान के निमित्त से देवस्थानों का भी लक्षण करें ।।१५½-१६।।

पुष्प और अक्षत की गृह-देवताओं को बना कर, पहिले चारों तरफ़ शंकुओं के स्थानों की परीक्षा करे । पुनः उन सब की यथा-विधि पूजा करने पर गृह के मध्य भाग में ब्रह्मा का पद (स्थान) निरूपण करके जल छिड़के और फिर गोबर से लेप कर सुलक्षण चौकोर चार द्वार वाली अक्षतों से सुप्रतिष्ठित वेदी का निर्माण करे ।।१७-१९।।

उस वेदी के मध्य भाग में सोने का अथवा चांदी का, ताम्बे का या मिट्टी का एक कलश स्थापित करे । पहिले की अप्राप्ति में दूसरा श्रेष्ठ कहा गया है ।।२०।।

अकालमूल, अविकलांग, जलपूर्ण, स्वलंकृत और भीतर मणियों, रत्नों, मोतियों और सोने चाँदी से गर्भित पुष्प, फल, बीज से युक्त कलश की, अक्षतों से प्रतिष्ठा करके फिर इसको चारों तरफ़ से सफ़ेद चन्दन से चित्रित करके फिर इसके ऊपर क्षीर-वृक्ष अर्थात् न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ तथा मधूक इनमें किसी के पत्ते का विन्यास करे और फिर इसको चारों दिशाओं में सुगन्ध, धूप से धुपावे । तदनन्तर बिना कटे-फटे शुक्ल-वस्त्र से इसको सब तरफ़ से वेष्टित करे क्योंकि वास्तु के मध्य में कुम्भ-रूप में ब्रह्मा जी बैठते हैं ।।२१-२४।।

कुम्भ के उत्तर भाग में बुद्धिमान् स्थपति कीलकों की स्थापना करे फिर उनमें से आठ कीलों की परीक्षा करके यथाविधि (अर्थात् आठों दिशाओं में) उनकी स्थापना करे ।।२५।।

फिर श्वेत चन्दन से उन पर लेप करे और श्वेत पुष्पों से उनको विभूषित करे। सालक्तक (रंगे हुए), सुगन्धित धूप से सुधूपित उन कीलों को तीन वर्ण वाले ऊनी सूत्र से अभिवेष्टन करे। शहद, घी, दही और दूध से उनके मूल भागों में लेपन करे ॥२६-२७॥

सब तरफ़ से परशु, सूत्र, अष्ठीला (पत्थर का औज़ार) आदि की पूजा करे और पूजा की सामग्री धूप, पुष्प, अक्षत आदि से सम्पन्न करे तब वास्तु के पूर्वोत्तर भाग में गोबर से लिपे हुए सप्तार्चि (अग्नि) के पद में कुशासन पर बैठा हुआ पुरोहित हवन और शान्ति-कर्म करे ॥२८-३०½॥

फिर ज्योतिषी शुद्ध एवं पवित्र होकर स्नान करके सावधान चित्त से शंकु से लग्न की सिद्धि करे। लग्न की तथा घड़ी की साधना शंकु से करे, रात्रि की लग्न तो अस्त, उदय और मध्य भाग में आश्रित नक्षत्रों से साधे ॥३०½-३१॥

इस प्रकार से अपनी सिद्धि की इच्छा रखने वाला लग्न सिद्ध करावे तथा तुष्टि करने वाली पूजा से पुरोहित की पूजा करे क्योंकि पुरोहित की पूजा करने से ब्रह्मा की पूजा होती है ॥३२-३३½॥

तदनन्तर सांवत्सर ज्योतिषी की यथाविधि पूजा करनी चाहिए क्योंकि सांवत्सर की पूजा करने से साक्षात् बृहस्पति की पूजा होती है ॥३३½-३४½॥

त्वष्टा अर्थात् विश्वकर्मा की तुष्टि के लिए स्थपति की पूजा करे, क्योंकि उसी के अधीन सब शुभ अशुभ कर्म हैं। श्वेत चन्दन से लिप्त और श्वेत पुष्पों से पूजित उन लोगों की दशा-युक्त (पूरे) अहत वस्त्रों से अलंकृत, अंगुलियों से उनके मस्तक पर टीका लगाकर पूजन करे ॥ ३४½-३६½ ॥

जो मजदूर हैं उनकी भी यथाशक्ति पूजा करे और सुवर्ण से अथवा वस्त्रादि के दान से या फिर मीठे वचनों से ही उनको परितुष्ट करे। जिस प्रकार वे प्रसन्न होवें उसी प्रकार सादर सब कार्य करे ॥३६½-३७॥

तदनन्तर स्थपति आचमन करके बलि-कर्म का समाचरण करे। सूत्रपात में बुद्धिमान् स्थपति सार्वभौतिक बलि का समाचरण करे। उसके अलाभ में जो बलि होती है वह कही जाती है। सफ़ेद, लाल, पीले और काले चरुओं का अलग-अलग विधान करे। पायस, कृसर, क्षीर, निष्पाव (दाल), सफ़ेद भात, पाविक (पूए), दधि, मांस आदि से, घृत तथा दधि से मिश्रित भात से देवताओं के लिए बलि निवेदन करे ॥३८-४१½॥

घृत सहित तिलों से अग्निदेव की पूजा करे। तदनन्तर दही से बनी हुई खीर ब्रह्मा जी के स्थान पर निवेदन करे। तदनन्तर क्रमशः देवताओं को बलि देवे ॥४१½-४२॥

यथा-प्रतिपादित (यथा-शास्त्र) बलिकर्म समाप्त कर और ब्राह्मणों से स्वस्ति-पाठन कराकर अपने शाखीय या स्वजातीय विद्वान् ब्राह्मणों की दक्षिणा और फलों से पूजा करे ॥४३॥

ओंकार (वेदपाठ), स्वस्तिवाचन एवं पुण्यश्लोकों से तथा गायन-वादन-नर्तन के शब्दों से ब्राह्मणों के साथ गृहस्वामी उस वास्तु-मंडल की प्रदक्षिणा करे ॥४४॥

शंकुताडन—पहिले द्विजोत्तमों के द्वारा घट में अक्षतों को डलवा कर तदनन्तर स्वस्तिवाचन के साथ दक्षिण-पूर्व की तरफ़ से जाकर नवीन वस्त्र पहने हुए पवित्र होकर स्थपति आसन पर बैठ कर पूर्वमुख दाएँ हाथ से शंकु को धारण कर तदनन्तर बाएँ हाथ से उसको लेकर भूतल पर प्रतिष्ठापित कर इन मन्त्रों को जपता हुआ, वह वीर स्थपति कील को भूमि पर परशु से मारे ॥४५-४७॥

'तुम्हारे तल में नाग और लोकपाल प्रवेश करें और घर में प्रतिष्ठित हो कर इसकी आयु और बल को बढ़ावें' ॥४८॥

आठ सुस्थिर (गहरे) प्रहारों को कील के मस्तक पर प्रदान करे और तदनन्तर कील को मारने के बाद निमित्तों (शकुनों) का उपलक्षण करे ॥४९॥

गो, ब्राह्मण, रथ, उत्तम हाथी, कन्याएँ, रानियाँ तथा शंख, दुन्दुभि, बांसुरी और गीत की ध्वनि यदि इस कील के मारे जाने पर आविर्भूत हो, तो स्वामी सतत सुख को प्राप्त करता है तथा शान्ति और ऐश्वर्य से बढ़ता है ॥५०-५१॥

कील को चोट मारने पर यदि छींकें आ जाएँ अथवा कील विपन्न (फूट) हो जाए तो सूत्र और कील दोनों का निषेध समझना चाहिए। उस समय पाखंडियों का दर्शन मांगलिक नहीं होता ॥५२॥

शुभ निमित्तों को देख कर तदनन्तर शंकु का निवेशन करे। यदि शंकु के मारने पर वह भूमि में धीरे से प्रवेश करे तो वहां पर कर्म की सिद्धि होती है और वह घर रत्नों से भर जाता है ॥५३-५४½॥

ताड़ित होने पर जब कील पृथ्वी में प्रविष्ट नहीं होता तो वहाँ पर कर्मसिद्धि नहीं होती। इससे अनिमित्त (अशकुन) की ओर ध्यान जाना चाहिये ॥५४½-५५½॥

एक प्रहार से भी शंकु जहां पृथ्वी में प्रवेश करता है वहां पर वह घर सिद्धि को नहीं प्राप्त होता है और यदि वह बन भी जाता है तो फिर उसका उपभोग नहीं होता है ॥५५½-५६½॥

लोहे की बनी हुई दंडी (हथौड़ी) आष्ठीला से ताड़न करे और लकड़ी से नहीं, क्योंकि लकड़ी से ताड़ित होने पर कील वह्निदोष करने वाला होता है और यदि पत्थर से वह ताड़ित किया जाए तो व्याधि देता है ॥५६१/२-५७॥

ऐन्द्री दिशा की ओर लचा हुआ कील धन तथा सम्मानकारक होता है तथा आग्नेयी दिशा में कील के नत होने पर बड़ा भारी अग्निभय होता है ॥५८॥

दक्षिण दिशा में (कील के नत होने पर) राजाओं का मरण और राक्षसों से भय होता है। उत्तर में धन-नाश और वायव्य में रोग से भय ॥५९॥

सौम्य दिशा में आनत होने पर सौम्य प्राप्त होता है तथा ईशानी में राजा को प्रसन्नता होती है। कीलक के कूचंक (कूंची बन जाने पर) होने पर पुत्र, पौत्र तथा वंशजों के साथ धन, धान्यों से उस घर में बढ़ती होती है और वह घर परम ऋद्धि को प्राप्त होता है ॥६०-६११/२॥

यत्न से ताड़ित होने पर जब कोई कील फट जाता है तो बड़ा अपशकुन होता है। गृहस्वामी की पत्नी का अथवा उसके ज्येष्ठ पुत्र का नाश समझना चाहिए ॥६११/२-६२१/२॥

यदि कील अपने आप फट जाए या टूट जाए तो स्वामी का वध होता है ॥६२१/२॥

यदि शंकु हाथ से गिर पड़े तब स्थपति का नाश समझना चाहिए। आष्ठीला (हथौड़ी) के हाथ से गिरने पर यह कील हस्त के विच्युति का कारण बन जाता है ॥६३॥

कील यदि सुखपूर्वक ताड़ित किया जाता है तो वह स्वस्थ नहीं होता तब फिर उसको आठ प्रहारों से ताड़ित करे ॥६४॥

माला, गन्ध और धूप के उपहारों से कीलों का परिषेचन करे। इस महापुण्य साम का संक्षेप से परिशीलन कर विद्वान् जब तक शंकु का अभिषेचन हो तब तक त्रैशोक (साम) का जाप करे। पुनः इसके बाद नैर्ऋत्य दिशा की ओर जा कर इस शंकु का निवेशन करे ॥६५-६६॥

साम के 'ऊर्णायव' मन्त्र से इसको ठीक तरह से स्नान करावे। तदनन्तर वायव्य दिशा में जाकर वहाँ पर शंकु का निवेशन करे। उसका वहाँ पर 'महारत्न-साम' से अभिषेक करे। इसके बाद ईशान कोण में जाकर वहाँ पर शंकु की स्थापना करे और 'भाभ्रसाम' से पहले की तरह अभिषेचन सम्पादन करे ॥६७-६९१/२॥

इसके बाद सव्य (दक्षिण की ओर) द्विगुणित-वेष्टित (दो डोरी से लपेटे हुए) सूत्र को बाँधे और फिर इसको प्रदक्षिण में फैलावे। यह यथा-विधि शंकु का क्रम कहा गया है ॥६९½-७०½॥

सूत्र को बाँधने पर जब शंकु कुछ छोड़ देता है अर्थात् सूत्र ढीला हो जाये तो पुत्रवध समझना चाहिए। सूत्र के छिन्न होने पर वह अपने स्वामी की मृत्यु का कारण बनता है। इसीलिए जब तक सूत्र फैलाया जाए तो बड़ी सावधानी से काम लेना चाहिए ॥७०½-७१॥

चारों (?) करों (बाहुओं) का पोष करता है जब काटने पर दुष्ट नहीं होना। सूत्र को फैला कर पूर्व प्रकल्पित चरुओं का अपने स्थानों पर वितरण करे ॥७२॥

पूर्व-दक्षिण दिशा की तरफ़ मुख करके इस मन्त्र को हृदय से जपे— मारुतो अर्थात् देवों को और सब मानवों को मन्त्र से अभिमंत्रित करके इस बलि को देता हूँ। लाल बलि लेकर नैऋत्य दिशा की ओर उन्मुख होकर नैऋत्याधिपति और उस दिशा में जो राक्षस हैं उन सबको मैं लाल चावल की इस अनुत्तम बलि को देता हूं। अब काली बलि को लेकर वायव्य दिशा में जाकर नागराज के लिए नमस्कार है और जो लोग नागराज के आश्रित हैं उनको भी नमस्कार है। उन्हें मैं काले चावल की अनुत्तम बलि देता हूँ। पीली बलि को उठाकर ऐशानी दिशा का आश्रयण कर सब रुद्रों को नमस्कार है और जो उन रुद्रों में समाश्रित हैं उनको भी नमस्कार है। उन लोगों के लिए यह पीले अनुत्तम चावलों की बलि देता हूँ ॥७३-७९॥

इस प्रकार से इन समग्र बलियों का यथाविधि प्रतिपादन करे, तदनन्तर पुण्य उस कुम्भ के जल को दिव्य साम से अभिमंत्रित करे। और उससे 'वाम-देव्य' मंत्र से वास्तु का प्रोक्षण करे ॥८०-८१½॥

ब्राह्मण आदि वर्णों के योग्य शंकु-निर्माण में जो शुभ वृक्ष माने गए हैं उनका वर्णन किया गया। शंकु का जो फल होता है वह भी स्फुटित किया गया तथा शंकु-निवेश के निमित्तों का भी बार-बार वर्णन किया गया। साथ ही साथ सूत्र के प्रसारण की मंत्रपूर्वक विधि भी बताई गई। मंत्रपूर्वक कीलों में देवताओं के परितोष के लिए विधिवत् प्रत्येक दिशा की बलि का भी वर्णन किया गया ॥८१½-८२॥

रेखाचित्र 'स'

परमशायिक

(एकाशीतिपद-वास्तु-पद)

रोग पा. रा.	नाग	मुख्य	भल्लाट	सोम	चरक	दति	दिति	अग्नि चरकी
पाप-यक्ष्मा	रुद्र ↓	↑ यक्ष्मा	पृथ्वीधर षट्पदिक			↑ आप	आप-वत्स ↓	पर्जन्य
शोष								जयन्त
असुर	मित्र षट्पदिक		ब्रह्मा नवपदिक			अर्यमा षट्पदिक		इन्द्र
वरुण								रवि
पुष्प-दन्त								सत्य
सुग्रीव	↑ इन्द्र	जय ↓	विवस्वान् षट्पदिक			स वता ↓	↑ सावित्र	भृश
दौवा-रिक								नभ
पितृ-गण	मृग	भृङ्ग-राज	गन्धर्व	यम	बृहत्क्षत	वितथ	पूषा	अनिल विदारी

टि० क. दिशाओं एवं विदिशाओं पर स्थित ३२ देवताओं के एक-एक पद-भोग = ३२

ख. रुद्र, यक्ष्मा, आपवत्स, आप, जय, इन्द्र, सविता एवं सावित्र इन आठ देवों के प्रत्येक का द्विपदिक भोग = १६

ग. पृथ्वीधर, मित्र, विवस्वान् एवं अर्यमा के प्रत्येक के षट्पदिक भोग = २४

घ. मध्य में ब्रह्मा का नवपदिक भोग = ९

योग = ८१

तृतीय पटल

पुर-निवेश

नगर-निवेश में मार्ग-विनिवेश
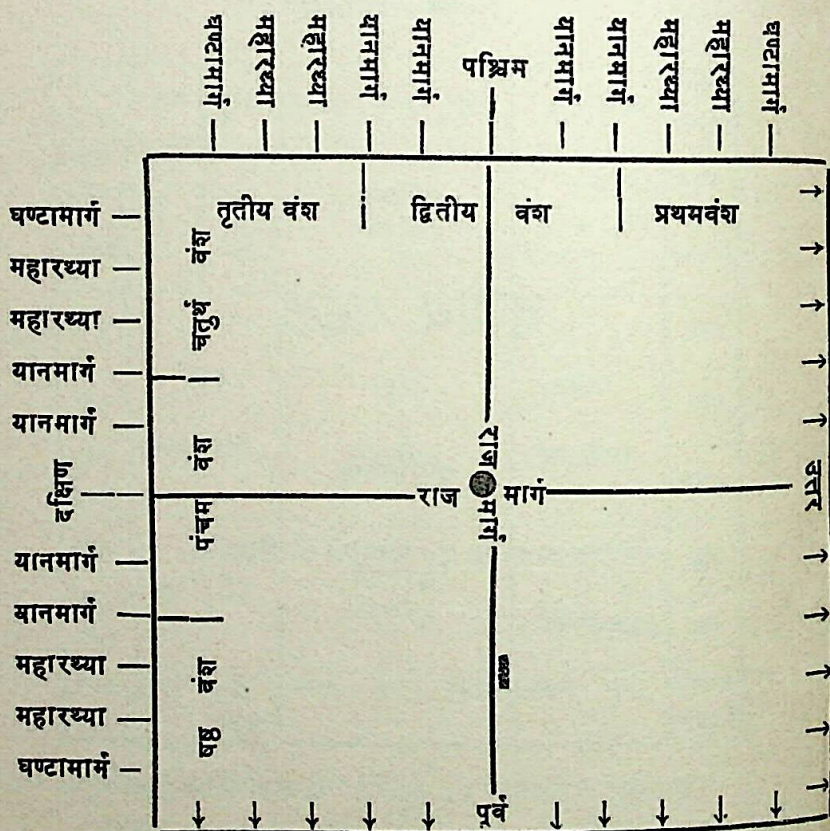
टि०—पूर्व से पश्चिम दौड़ने वाले ये प्रधान ११ मार्ग हैं—१ राज-मार्ग, ४ महारथ्यायें, ४ यान-मार्ग तथा २ घण्टा-मार्ग । इसी प्रकार दक्षिण से उत्तर इतने ही मार्ग दौड़ते हैं । इस चित्र में यान-मार्ग के पर्यन्त जंघा-पथों एवं अन्य रथ्याओं तथा उप-रथ्याओं को नहीं दिखाया गया है । वैसे तो स० सू० के अनुसार (दे० 'पुर-निवेश') पुर के मार्गों की संख्या १७-१७ है ।

अध्याय २२

नगरादि-संज्ञा

नगर, मन्दिर, दुर्ग, पुष्कर और साम्परायिक, निवास, सदन, सद्म, क्षय, शितिलय—ये नगर के पर्याय हैं, जिनसे नगर का विकास सूचित होता है (देखिए लेखक का "भारतीय वास्तुशास्त्र" —पुर-निवेश पृ० ८९) ॥१॥

जिस नगर में राजा रहता है उसको राजधानी कहते हैं और अन्य नगर शाखा-नगर की संज्ञाओं से कहे जाते हैं। शाखा-नगर को ही नगरोपम कर्वट कहा जाता है। कुछ गुणों से कम कर्वट को ही निगम कहते हैं। निगम से कम ग्राम, ग्राम से कम गृह होता है; 'गोकुलों के निवास को गोष्ठ कहा जाता है और छोटे गोष्ठ को गोष्ठक कहते हैं। राजाओं का जहां पर उपस्थान होता है, उसको पत्तन कहते हैं। जो पत्तन बहुत फैला हुआ और वैश्यों से युक्त होता है उस पत्तन को पुटभेदन कहते हैं। जहां पर पत्तों, शाखाओं, तृणों एवं उपलों से कुटिया बनाकर पुलिन्द लोग रहते हैं, उसको पल्ली कहते हैं और छोटी पल्ली को पल्लिका कहते हैं। नगर को छोड़ कर और सब जनपद कहलाता है और नगर को मिलाकर सम्पूर्ण राष्ट्र को देश अथवा मंडल कहते हैं ॥२-७॥

आवास, सदन, सद्म, निकेत, मन्दिर, संस्थान, निधन, धिष्ण्य, भवन, वसति, क्षय, आगार या अगार, संश्रय, नीड़, गेह, शरण, आलय, निलय, लयन, वेश्म, गृह, ओक, प्रतिश्रय—ये भवन-पर्याय हैं ॥८-९॥

गृह के ऊपर की भूमि को हर्म्य कहते हैं, उसके ऊपर चढ़ने के मार्ग को सोपान कहते हैं। दो खम्बों पर लकड़ियों के द्वारा बनाये गए अधिरोहण (सीढ़ी) को निःश्रेणी कहते हैं और इसमें बड़े-बड़े पद वाले सोपान होते हैं ॥१०-११॥

लकड़ियों से संवृत गेह को काष्ठ-विटंक कहते हैं। चूने से पुता हुआ तल वाला हर्म्य सौध कहलाता है और उसको कुट्टिम (अर्थात् मोज़ेक फ़र्श वाला) बनाते हैं। वर्षा के भय से जो ताल और शाक के पत्तों से छायी जाती है उसको अभिगुप्ति कहते हैं और वह घर के सब से ऊपर बनायी जाती और रहती भीतर है। दीवालों के वातायन को अवलोकनक कहते हैं और जो छोटा वातायन होता है उसको अवलोकनक कहते हैं। हर्म्य के बीच में जो छेद होता है

उसको उलूक कहते हैं। हर्म्य-तल के कंठ को हर्म्य-प्राकारक कहते हैं। आठ खम्बों की वितर्दिका कहलाती है, वह सब तरफ़ से छेदमूलगा होती है और उसके खम्बों में यदि मृग होते हों तो उन्हें ईहा-मृग कहते हैं। हर्म्य-देश से जो लकड़ियों का उपनिगम होता है उसको निर्यूह कहते हैं। छेद से निकले हुए काष्ठ को वलीक कहते हैं ॥१२-१७॥

चारों पार्श्वों से छन्न (ढका हुआ) अर्थात् जिस घर के आँगन के चारों ओर शालाएँ हों वह चतुःशाल कहलाता है। इसी प्रकार तीन पार्श्वों से त्रिशाल और दो पार्श्वों से द्विशाल बनता है। एक पार्श्व से छन्न एकशाल गृह कहलाता है और जो घर सब तरफ से संच्छन्न है उसको शाला कहते हैं। ॥१८-१९॥

शालाओं के मध्य भाग में जहाँ आंगन होता है वहीं पर वापी या पुष्करिणी होती है। वह यदि संच्छन्न हो तो उसे गर्भ-गृह कहा जाता है। गृह में महाजन-स्थान, जो त्रिकुड्य बनाया जाता है, उसको यहां पर उपस्थान कहते हैं और छोटे उपस्थान को उपस्थानक कहते हैं। प्रासाद को ही प्रासाद कहते हैं और उसमे छोटे को प्रासादिका कहते हैं और दीर्घ-प्रासादिका को वलभी कहते हैं। शाला के अग्रभाग में जो वलभी होती है उसको अलिन्द कहते हैं और बिना शाला के जो वलभी होती है उसे वलभ कहते हैं। छोटे छोटे चतुष्कुड्यों को अपवरक कहते हैं। गृह में आभ्यन्तर स्थान को शुद्धान्त कहा जाता है। जहाँ सुरंग के समान गली में रहा जाता है उसको प्रतोली कहते हैं। घर में जो अवस्थान्तर गृह होता है उसे कक्षा कहते हैं। जो उपस्थानक होता है और जो अपवरक होता है, वे कोष्ठक कहलाते हैं। कंठा को कुड्य और भित्ति को चय कहते हैं। रसोई की शाला को महानस कहते हैं और जो द्वार-देश में छन्न स्थान रहता है उसको द्वार-कोष्ठक कहते हैं; उसको प्रवेशन और द्वार-निर्गमन भी कहते हैं। जल-निर्गमन-स्थान को उदक-भ्रम कहते हैं, भवन के आँगन को भवनाजिर कहते हैं। वन की पृथ्वी को वनाजिर और आश्रम के आँगन को आश्रमाजिर कहते हैं ॥२०-२९॥

उत्तर उदुम्बर के नीचे के आँगन के कुड्यों के बीच के संश्लिष्ट भाग को देहली कहते हैं और उसे कपाटाश्रय भी कहते हैं। कपाट को द्वार-पक्ष तथा कपाट-पुट भी कहते हैं। पक्ष, पिधान, वरण, द्वार-संवरण—ये शब्द कपाट के पर्यायवाची हैं। दो कपाट-सम्पुटों को कपाट-युगल कहते हैं और द्वार-बन्धन के लिए जो कलिका होती है उसे अर्गला कहते हैं। प्रमाण में यदि दीर्घ हो तो उसे अर्गला-सूची कहते हैं और वही सूची पुरों के लिए परिघ कहलाती है और वही

हाथियों के वारण के लिए फलिह कहलाती है। गवाक्षों के तुल्य छिद्रों से सब तरफ़ से छिद्रित फलकं को **गवाक्ष** अथवा **जाल** कहते हैं। हर्म्य के द्वार पर, गृह के द्वार पर तथा हर्म्य के अवलोकन पर और दूसरे प्राकार के पृष्ठ पर जो प्रासादिका होती है, उपर्युक्त इनके (द्वारों के) दोनों पार्श्वों पर फलक-द्वय-उच्छ्रित अर्ध-चन्द्र-द्वय की आकृति, ऊपर-ऊपर से जब संक्षिप्त निर्मित होती हैं और आगे के इससे लगे हुए खम्बों के द्वारा इसमें जो दो आनन निर्मित होते हैं, उन दोनों के ऊपर अथवा सन्धि में जो तारकाकृति मंडल होता है, उसे **तोरण** कहते हैं। जिस द्रव्य से वह निर्मित होता है उसकी वह संज्ञा लेता है जैसे मणि से निर्मित **मणि-तोरण**, सुवर्ण से निर्मित **सुवर्ण-तोरण**, पुष्पादि से निर्मित **पुष्प-तोरण** और तोरण के अग्रभाग में जो ठकार होता है, उसे **सिंह-कर्ण** कहते हैं ॥३०-३९॥

गृह की संचार-भूमियों को नाम से **संयमन** कहते हैं और घर के पास में भी उसी को **संयमन** कहते हैं और दीवार अथवा लकड़ियों के तरङ्गाग्र की भाँति झुके भाग को **मरालपाली** कहा गया है और हर्म्य के पानी के निर्गम को **प्रणाली** कहते हैं। आँगन के कंठ को **प्राकार** कहते हैं तथा द्वार के समीप स्थान को **प्रद्वार** कहते हैं। ईंटों से जड़े द्वार के मूल-भाग में छोटा अथवा बड़ा जो स्थल होता है उसको **आस्थालक** कहते हैं। मूत्रभूमि को **अमेध्य, वर्चस्क** अथवा **अवस्कर** कहते हैं। गृह से भित्ति सामान्य अर्थात् दीवालों से लगाकर उसके बाह्य को **परिसर** कहते हैं। विस्तीर्ण और ऊँचा जो वेश्म होता है उसे **अट्ट** कहते हैं और जो संक्षिप्त होता है उसे **अट्टालक** कहते हैं। उसी को अत्यन्त संक्षिप्त होने पर **अट्टाली** कहते हैं। जो अट्टाली बहुत ऊँची नहीं होती उसे **अट्टालिका** कहते हैं ॥४०-४६॥

धारा-गृह—एक-नाड़ीगत-छिद्रों वाले काष्ठ-नालों से परिस्थित छद-पृष्ठ पर जहाँ जल धावन करता है, वह **काष्ठ-प्रणाली** कहलाती है तथा काष्ठ-मूल पर आश्रित स्तम्भ-शीर्षक-रूपों को खोखला बना कर उनमें काष्ठ-नाली के मुखान्तरों से जो पुरुषाकृति अथवा पश्वाकृति रूप जैसे वृष, वानर गज रूप (सम्पन्न होते हैं) उनके स्तन, नासा, मुख और आँखों से जब चारों तरफ़ पानी निकलता है उसको **धारागृह** अथवा **धारागार** आदि नाम से पुकारा जाता है ॥४७-५०॥

दर्पण-गृह—कांसा और लोहा आदि धातुओं के पट्टों से निमृष्ट शीशों से निचित (मढ़ी हुई) भित्ति को **दर्पण-गृह** कहते हैं ॥५१॥

महाद्वार से दूसरे द्वार को **पक्ष-द्वार** कहते हैं और पुर में जो प्राकार

में आश्रित द्वार है उसको **गोपुर** कहते हैं। प्राकार में निकले हुए और उठे हुए अवकाशों को **उपकार्या** कहते हैं और क्षौमों को **अट्टालक** कहा जाता है। **पुरी-संवरण** नाम वाली चय-प्राकार-शाला होती है। बगीचे में क्रीडागृह को **उद्यान** कहते हैं। जल के तट पर स्थित उद्यान को **जलोद्यान** कहते हैं। जल के बीच में स्थित वेश्म को **जलवेश्म** कहते हैं। यहाँ पर जो क्रीड़ागृह कहा गया है उसे क्रीडागार भी कहते हैं, विहार-भूमि को **आक्रीडभूमि** भी कहते हैं ।।५२-५६।।

देवधिष्ण्य, सुर-स्थान, चैत्य, अर्चा-गृह, देवतायतन, विबुधागार—ये सब देव-मन्दिरों के पर्याय हैं जिनसे मन्दिर-वास्तु एवं प्रासाद-शिल्प के विकासों पर प्रकाश पड़ता है, देखिये—इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग (प्रासाद-निवेश) ।।५७।।

जो स्थान छन्न होता है उस (Public Gallery)—महाजनों के छन्न-स्थान को **शाला** कहते हैं और **सभा** भी; और गोओं के मन्दिर को वास्तु-विशारद यहाँ वास्तु-शास्त्र में **गोष्ठ** कहते हैं ।।५८।।

पुर-निवेश

पुर अर्थात् नगर तीन प्रकार के होते हैं—ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ। इन तीनों प्रकार के पुरों के प्राकार, परिखा, अटारी, द्वार, गली एवं मार्ग के साथ-साथ अब उनके प्रमाण का वर्णन किया जाता है ॥१॥

ज्येष्ठ नामक पुर चार हज़ार चाप के व्यास का कहा गया है, मध्यम पुर दो हज़ार चाप के व्यास का कहा गया है और अधम पुर एक हज़ार चाप के व्यास का होता है। व्यास के आठवें भाग अथवा चौथे भाग अथवा आधे भाग के साथ प्रत्येक का क्रमशः विस्तार करना चाहिए और वह चौकोर करना चाहिए। चौंसठ पद वाले वास्तु-पद से सब पुर बनाने चाहिएँ। सोलह कोष्ठ, छः प्रधान मार्ग, नौ चबूतरे वहाँ बनाने चाहिएँ ॥२-४॥

क्षेत्र के चतुरश्रीकृत (चौकोर) होने पर पूर्व तथा उत्तर तक चार-चार भाग के तीन-तीन वंश स्थापित करने चाहिएँ। इन छः वंशों में पुर-पद के विभक्त हो जाने पर और सोलह पदों अर्थात् कोष्ठों से युक्त होने पर मध्यम वंश का अवलम्बन कर शुभ राजमार्ग का निर्माण करना चाहिए। चौबीस करों (हस्तों) के प्रमाण से ज्येष्ठ पुर में यह राज-मार्ग श्रेष्ठ मार्ग होता है, मध्यम पुर में बीस करों से यह राज-मार्ग मध्य मार्ग कहलाता है। इसी प्रकार सोलह करों से अधम पुर में यह राज-मार्ग अधम कहलाता है। राजा और प्रजा तथा चतुरंगिणी सेना के लिए यह मार्ग पक्का बनाना चाहिए और आने-जाने की पूरी सुविधा वाला बनाना चाहिए ॥५-८॥

उस मार्ग के पास दोनों वंशों पर दो महारथ्याओं का निर्माण करना चाहिए। ये दोनों महारथ्यायें तीनों ज्येष्ठादि पुरों में क्रमशः बारह, दस और आठ करों के प्रमाण की होती हैं ॥९॥

पद के मध्य भाग में चार यान-मार्गों का निर्माण करना चाहिए। इन ज्येष्ठादि पुरों में यान-मार्ग चार करों का होता है। महामार्ग की आधी अथवा आधी से दो करों से अधिक उपरथ्या का प्रमाण माना गया है और शेष रथ्याएं उसके आधे प्रमाण से निर्माण करनी चाहिएँ। चारों यान-मार्गों के दोनों तरफ़ पदाष्टक-पदान्तस्थ दो-दो जंघापथ (फुट-पाथ) बनाने चाहिएँ।

ज्येष्ठ पुर में ये दोनों जंघापथ तीन हाथ के, मध्यम पुर में ढाई हाथ के अधम पुर में दो हाथ के होने चाहिएं। पुर के बीच में दूसरे दो और मार्गों अर्थात् घंटामार्गों का निर्माण करना चाहिए। गुण और प्रमाण में वे राज-मार्ग के समान होते हैं। इस प्रकार पूर्व से पश्चिम तक सत्रह मार्गों का वर्णन किया गया। उसी प्रकार से दक्षिण से उत्तर तक उसी प्रमाण में उतने ही मार्ग बनाने चाहिएँ ॥१०-१५॥

वप्रप्राकारादि-विनिवेश—वप्र एवं परिखा—घंटामार्ग के प्रमाण से घंटा-मार्ग के बाहर चारों तरफ वप्रभू-विशेषज्ञों के द्वारा वप्रभू की स्थापना करनी चाहिए। उसके बाद उस भूमि के बाहर महारथ्या के प्रमाण से व्याम-खाता-न्तरों के साथ तीन परिखाओं का निर्माण करना चाहिए। खोदी हुई मिट्टी बाहर कर व्यास और मूल के प्रमाण से आधा अथवा व्यास के ही परिमाण में वप्र निर्माण करे। अपनी भूमि के भाग पर खाई की खुदी हुई मिट्टी से उत्संग के सहित अथवा गजपृष्ठ की ऊँचाई से गोग्रीय-पद-ताडित अर्थात् गौवों के समूहों के पदों से बराबर करवाकर वप्र का निर्माण करना चाहिए ॥१६-१९॥

खाई की खोदी हुई मिट्टी से वप्र-निर्माण-कार्य सम्पन्न होने पर बची हुई मिट्टी से पहले के निम्न प्रदेशों को पूरित कर बराबर कर देना चाहिए। इस प्रकार से तीनों परिखाओं के चारों तरफ संशोधन करके पत्थरों से अथवा ईटों से उसके तल को दृढ़ बनाना चाहिए। फिर उसको पानी से भर देना चाहिए जिससे वहां पर चित्र विचित्र कमलों से शोभा हो रही हो, साथ ही साथ संग्रहीत जल के निकालने का मार्ग भी हो ॥२०-२२॥

अब इन परिखाओं के सब तरफ फूलों के पौधों और पेड़ों के सुन्दर सुगन्धित बगीचों का निर्माण करना चाहिए, जहां पर मधुकरियां गन्ध से अन्धी हो रही हों। पुनः उनकी सब दिशाओं की तरफ बाहरी भाग को पेड़ों, लताओं एवं कांटों से ढक देना चाहिए ॥२३-२४॥

प्राकार—वप्र के ऊर्ध्व भाग में स्थित मध्य प्रदेश पर बड़े-बड़े पत्थरों से बनाया गया अथवा पकी हुई इंटों से बनाया गया विकट प्राकार का निर्माण करना चाहिए। यह प्राकार तीन तरह का होता है। श्रेष्ठ प्राकार का विस्तार द्वादश कर, मध्यम का दश कर और अधम का आठ कर होता है। श्रेष्ठ प्राकार की ऊंचाई सत्रह हस्त के प्रमाण की होती है, मध्यम की पन्द्रह और अन्तिम (अधम) की तेरह। प्राकार की ऊंचाई सत्रह हस्तों से अधिक नहीं जाती है और न तेरह हस्तों से नीचे ॥२५-२८॥

प्राकारालङ्करण—प्रत्येक हस्त पर ऊंचाई से दो-दो अंगुल विस्तार

बढ़ता जाता है जिस प्रकार का मूल में बारह हस्तों के प्रमाण का विस्तार होता है उसमें चार हस्तों की ऊँचाई से और दस हस्तों के विस्तार से उसके शिखर का निर्माण होता है। कपिशीर्ष (कँगूरा) एक हाथ ऊँचा और कांडदारिणी (छालदिवारी) दो हाथ ऊँची। उस प्राकार के ऊपर चारों तरफ़ प्रत्येक दिशाओं में कर्णों (कोनों) में आश्रित और द्वार-कर्णों में स्थित अट्टालिकाओं का निर्माण करना चाहिए। प्राकार की ऊंचाई से एवं उसके विस्तारानुरूप चरिका (आकाश-पथ) बनता है। उसके आधे से सालों (दीवालों) और अट्टालिकाओं सहित निर्गम का निर्माण करना चाहिए। अट्टालिकाओं का सौ-सौ हस्त प्रमाण से अन्तर देना चाहिए और इस तरह से पत्ति (पदाति), घोड़ों, रथों और हाथियों से वह पुर अगम्य हो जाता है अर्थात् सभी को सञ्चार-सुगमता। चरिका का ऐसा निर्माण करना चाहिए, जिसमें द्वारों का संचार हो, सरलतापूर्वक आरोहण हो और जिसमें वेदिकाएँ भी हों, सोपान भी हो, निर्यूह और कपिशीर्षक भी हों ॥२९-३४॥

पुर-द्वार—राजमार्गों, महारथ्याओं से युक्त चारों दिशाओं में तीन-तीन उस पुर में द्वार-विशेषज्ञ के द्वारा दरवाज़े बनवाने चाहिएँ। राजमार्ग के चारों महाद्वारों का विस्तार नौ, आठ, सात हाथ का होना चाहिए परन्तु भूमि से दुगुना न हो और तीन हाथ भूमि साथ-साथ छोड़ देनी चाहिए। महारथ्या का आश्रित द्वार छः, पांच, चार हाथ के प्रमाण का विहित है, उसका विस्तार ऊँचाई से डेढ़ हाथ कम बताया गया है ॥३५-३७॥

प्रतोली—सभी महाद्वारों में मज़बूत प्रतोलियों का निर्माण करना चाहिए। प्रतोलियों (पौरियों) के फाटक इन्द्रकीलों और अर्गलाओं से मज़बूत होने चाहिएँ। राजमार्ग के समान प्रतोली से निकलने की शालाएँ बनानी चाहिएँ; उनके आधे से कोष्ठों का निर्माण करना चाहिए और उनका आधा विस्तार कहा गया है। दो मूषाओं से अन्वित, व्यास से तीन अंश से विन्यस्त मार्ग वाली, मुख तक आयत चौकोर प्रतोली (गली) का निर्माण करे। प्रतोली के भीतर महाद्वार के ही प्रमाण में प्रतोली के चारों दरवाज़ों को, जो कोष्ठकों में न्यस्त होते हैं, उनको लकड़ियों से विभूषित करना चाहिये। चौकोर पोले मुँह वाली अपने व्यास के तीन अंश से विन्यस्त मार्ग वाली तथा मूषा-द्वयवती प्रतोली का इस प्रकार से न्यास करके अन्दर की दीवार में महाद्वार-युक्त चार दरवाज़े बनवाए और इन्हें विकल्प कोठों में लकड़ियों से सजाये। दरवाज़ों पर दोनों तरफ़ शालाएँ बनावें और दोनों मूषाओं पर दो-दो दरवाज़े हों और अपने सामने हों और व्यास से दो हाथ दुगुने उठे हों तथा उनका लकड़ी और खिड़की के बीच में पांच हाथ

उठा हुआ मध्य भाग होना चाहिए। प्रतोली की यह पहली भूमि हुई। उसी प्रकार दूसरी भू का निर्माण करना चाहिये। परन्तु द्वारानुरूप उसका उदय विहित है। बाहर के दरवाजों को छोड़कर उस दूसरी का प्रकल्पन पूर्ववत् विहित है। आमने-सामने वाली खिड़कियों से अग्रभाग युक्त होवे। तीसरी भू पर तीसरा तल बनावें जो महाद्वार पर उत्थित होना चाहिये और हर्म्यकण्ठ तथा परिक्रमों से युक्त हो और उस पर स्तम्भ का न्यास करे। यहाँ पर व्यालजाल, शतघ्नी, अस्त्र-शस्त्र एवं यन्त्रों को रखना चाहिये। पुर की वृद्धि, शोभा एवं रक्षा के लिए पुर के चारों ओर तीन तलों की प्रतोलियों वाले बड़े-बड़े दरवाज़े बनावे। प्रतोली के बायें से उठा हुआ और बायें से उसके दूसरे छोर तक पहुँचा हुआ तथा एक हिस्सा बाहर निकला हुआ बनाना चाहिये, दूसरा हिस्सा बायें से निकलकर इसी का घेरा हो जाये और उसके उठने तक आगे बाहर परकोटा बन जाये और इन दोनों के अन्तरावकाश में एक सड़क बन जावे। इसका मुख्य द्वार उन्नत बनाना चाहिये, तभी इसकी प्रतोली (पौरि) संज्ञा सार्थक होगी ॥३८-५०॥

पक्ष-द्वार—उपभोग के उपयुक्त सरिताओं, पर्वतों, जलाशयों को देखने के लिये स्वेच्छा से **पक्ष-द्वारों** का निर्माण करना चाहिये ॥५१॥

जल-भ्रम (नालियाँ)—पत्थरों एवं लकड़ियों से तिरोहित जल वाले प्रदक्षिण दो हस्त परिमाण वाले अथवा एक हस्त परिमाण वाले जल-भ्रमों (नालियों) का निर्माण करना चाहिये ॥५२॥

गर्हित पुर—छिन्न-कर्ण, विकर्ण, वज्र, सूचीमुख, वर्तुल, व्यजनाकार, धनुषाकृति, विस्तार से द्विगुणायत, दो गाड़ियों के आकार के समान **शकटद्वि-समाकार** कुदिशा में स्थित **कुदिशस्थ** तथा **सर्पचक्र**—ऐसे पुरों को निन्दित कहा गया है ॥५३-५४॥

छिन्नकर्ण पुर में बसने वाले लोगों को चोरों से, व्याधियों से तथा शत्रुओं से भय रहता है ॥५५॥

विकर्ण पुर में रहने वाले भद्र मनुष्यों को दुष्ट राजा, सर्व-लोक-निन्दित अनपत्यता और कम आयु—ये दोष प्राप्त होते हैं ॥५६॥

वज्राकृति पुर में रहने वालों को स्त्री से पराजय, विष-रोग और अनेक प्रकार के भेदों का भय रहता है ॥५७॥

सूची-मुखाकार पुर में रहने वाले व्यक्ति क्षुधा एवं व्याधि से परिपीड़ित रहते हुए हमेशा नाश को प्राप्त होते हैं ॥५८॥

वर्तुल पुर में मनुष्य अपने राजा के साथ नष्ट होते हैं और उनका सारा

संचय नष्ट हो जाता है। उनकी अवस्थाएँ भी छोटी होती हैं ॥५६॥

व्यजनाकार वाले नगर में मनुष्य असत्यवादी, स्वल्पायु, रोग से आक्रान्त तथा आँधी तूफानों से सताए हुए और चल-चित्त होते हैं ॥६०॥

चापाकार पुर में रहने वाले मनुष्य दुश्चरित्र स्त्रियों से युक्त होते हैं और उनमें से बहुत नपुंसक भी होते हैं, यह ध्रुव है ॥६१॥

शकटद्विसमाकार नगर का यदि निवेश होता है तो वहाँ पर रोग, शोक, अग्नि और चोरी का भय होता है ॥६२॥

यदि नगर का **द्विगुणायत-संस्थान** किया जाता है, तो आरम्भ से ही असिद्धि प्राप्त होती है। ब्राह्मणों के लिए यह नगर भय-दायक होता है तथा लोगों में स्ववर्गीयों एवं कुटुम्बियों से झगड़ा रहता है और यहाँ पर पुरवासियों तथा राजा के घोड़ों और हाथियों का नाश भी हो जाता है। ऐसे नगर को बलशाली शत्रु हमला करके उपभोग करते हैं ॥६३-६४॥

कुदिशा में स्थित अर्थात् **दिङ्मूढ** नगर में आदमियों का नाश, अग्निदाह और स्त्रीकृत भय रहते हैं तथा यहाँ क्षेम नहीं रहता है ॥६५॥

भुजंग-कुटिल नगर में लोग शस्त्र, अनिल, पिशाच, अग्नि, भूत, यक्षादि के भय से दुःखित रहते हैं और रोगों से पीड़ित होकर नष्ट हो जाते हैं ॥६६॥

नगरों के इन अप्रशस्त संस्थानों का वर्णन किया गया है तथा इस प्रकार के किसी एक भी आकार में नगर का निर्माण नहीं करना चाहिये। इन निन्दित नगरों में से यदि किसी एक का भी संस्थान अज्ञानवश अथवा प्रमादवश हो जाता है तो सारे-का-सारा राष्ट्र क्षुधा, शत्रु-भय और मृत्यु से निपीड़ित होता है। इसलिए शास्त्रज्ञ स्थपति को प्रयत्नपूर्वक बुद्धि से सुन्दर नगर की, जैसाकि पूर्व प्रतिपादित किया गया है, स्थापना करनी चाहिये ॥६७-६६॥

नगराभ्युदयिक शान्ति—वेदी-निवेश में, यात्रा में, मन्दिर के निर्माण में और अभिचार में, नदीकर्म में तथा मंत्र-कार्य में और श्रमों में शान्ति अवश्य करनी चाहिये। इसी प्रकार यज्ञ में, नगर-स्थापना में अथवा साधारण स्थापना में प्रयत्नवान विद्वान् स्थपति कुछ न कुछ माँगलिक कृत्य अवश्य करे। यदि ठीक तरह से कर्म नहीं किया जाता है, तो उससे नगर में निरन्तर भय, अनायुष्य, अपौष्टिकता रहती है और वह राजा को मारने वाला होता है। जो कर्म अशास्त्रज्ञों के द्वारा सम्पादित होता है और जो निर्लक्षणों के द्वारा अर्थात् अशास्त्रज्ञ स्थपतियों के द्वारा बनाया जाता है वह निन्दित तथा फल-रहित

होता है। इसलिए शास्त्रज्ञ स्थपति ज्योतिषशास्त्र को जानने वाले ज्योतिषी तथा पुरोहित से सहायता लेकर नगर में शान्तिक आदि कर्म करे। पुरोहित हवन करे और ज्योतिषी स्थिरता प्रदान करे। राजा (स्थपति) पूजा करे, इस प्रकार से शान्ति-समारोह होना चाहिए। तब उस नगर में शान्ति का राज्य होता है और वहाँ पर मर्म में स्थित और चबूतरों में स्थित देवगण पौरों के द्वारा सदैव पूजित होते हैं ॥७०-७६॥

चार प्रकार का स्थापत्य विज्ञान होता है। आठ प्रकार का चिकित्सा विज्ञान होता है। सात अंगों वाला धनुर्वेद विज्ञान होता है। ज्योतिष चौथा विज्ञान होता है और ये चारों पारिभाषिक शास्त्र या विज्ञान कमलालय ब्रह्मा के द्वारा बनाये गए हैं ॥७७॥

प्रायः सभी नगरों में उत्पातादि भय समान हैं। ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ऐसे नगर को कभी नहीं त्यागते जो शास्त्रानुसार निविष्ट होते हैं ॥७८॥

इस प्रकार से नगर का यथावत् विभाग बताया गया। नगर के आधे विस्तार का खेट और खेट के आधे विस्तार का ग्राम कहा गया है ॥७९॥

नगर से खेट एक योजन पर, खेट से ग्राम एक योजन और एक गाँव से दूसरा गाँव दो कोश पर कहा गया है ॥८०॥

जनपद की दो कोश से सीमा होनी चाहिये और उस के आधे से नगर की और नगर की सीमा के आधे से खेटक की और खेटक की सीमा के आधे गांव की सीमा कही गई है ॥८१॥

नगर में दिशामार्गों का विष्कम्भ तीस धनुष कहा गया है और खेटक में बीस और गांव में दस ॥८२॥

बड़े राष्ट्र में नौ हज़ार नव्वे ग्राम होते हैं। विद्वान् लोग कहीं-कहीं नौ हज़ार चौसठ ग्रामों से भी (ज्येष्ठ) बड़ा राष्ट्र मानते हैं। पांच हज़ार तीन सौ चौरासी ग्रामों से मध्यम राष्ट्र कहा जाता है। एक हज़ार पांच सौ अड़तालीस ग्रामों से छोटा राष्ट्र कहा जाता है। इन सब उत्तम, मध्यम और लघु राष्ट्रों की डेढ़ गुनी संख्या से नौ प्रकार से विभाग कर, एक-एक का विधिपूर्वक विद्वान् विभाजन करे। इस प्रकार से राष्ट्रों के यथा-भाग विभक्त होने पर विधानविज्ञ स्थपति इनमें सात-मान नगरों का यथाशास्त्र निवेशन करे ॥८३-८७॥

जाति-वर्णाधिवास—नगर की वसति-योजना—पहले विभाग, प्रमाण लक्षण आदि एवं जातियों तथा वर्णों के रहने की व्यवस्था को यथावत् अब यहाँ कहते हैं। आग्नेय दिशा में वह्नि से जीविका प्राप्त करने वाले सुवर्णकारों, लोहारों आदि-आदि को बसाना चाहिए। दक्षिण दिशा में वैश्यों के, जुवारियों के,

चक्रिकों अर्थात् गाड़ी वालों के, नटों तथा नाचने वालों के घर स्थापित करने चाहिएं। सौकरिक (सूकरोपजीवी), मेषीकार (गडरिया), बहेलिया, केवट तथा दमनाधिकारी इन सब को नैर्ऋत्य दिशा में बसाना चाहिये। रथों, शस्त्रों आदि के बनाने की कारीगरी जिन को मालूम है, उनको नगर को वारुणी दिशा में बसाना चाहिए। काम में लगे हुए जो नौकर आदि हैं और जो शराब बेचने वाले हैं इन सब को वायव्य दिशा में बसाना चाहिए। संन्यासियों की कुटियों को, ब्रह्म-ज्ञानियों की सभा को, पिआऊ तथा धर्मशाला को कुबेर की दिशा में स्थापित करना चाहिए। नगर की ईशान दिशा में घी और फल बेचने वालों को बसाना उत्तम कहा गया है। बुद्धिमान् स्थपति को आग्नेय दिशा में सेनाध्यक्षों और राजा के मुखियों तथा नाना सैन्य को बसाना चाहिए। श्रेष्ठियों को तथा देश-महत्तरों को दक्षिणाशा में तथा नैर्ऋत्य की दिशा में याम्यकहारों को बसाना चाहिए। कोशाध्यक्ष, महामात्र और आदेशिकों तथा कलाकारों (शिल्पियों) एवं नियामकों को वरुण की दिशा में निवेशित करना चाहिए। वायव्य दिशा में नायकों के सहित दंडनाथों को तथा उत्तर दिशा में पुरोहितों को एवं ज्योतिषियों का सन्निवेश करना चाहिए। सौम्य दिशा में ब्राह्मणों को, इन्द्र की दिशा में क्षत्रियों को, वैश्य तथा शूद्रों को दक्षिण तथा उससे अपर दिशा में बसाना चाहिए। वणिजों, वैश्यों तथा विशेषकर सेनाओं को चारों दिशाओं में ही स्थान देना चाहिए। नगर के बाहर पूर्व दिशा में लिंगों का निवेशन करना चाहिए। बुद्धिमान् स्थपति को दक्षिण दिशा में शमशानों का निवेश करना चाहिए। इस प्रकार से सब दिशाओं को लक्ष्य करके नगर की वसति-विभाजन कहा गया है। उसी प्रकार से ग्रामों में, खेटों में और सेना के निवेशन में भी करना चाहिए ॥८८-१०३॥

नगर में लक्ष्मी और कुबेर की अनिवार्य स्थापना—नगर के अभिमुख संपूर्णाङ्गों से सुशोभित कल्याणकारी लक्ष्मी और कुबेर की प्रत्येक द्वार पर पूर्वमुख स्थापना करनी चाहिए। राष्ट्र, खेट, ग्राम और पुर आदि को जब ये दोनों देखते रहते हैं तो वहां पर आरोग्य, अर्थसिद्धि और प्रजा की विजय होती रहती है। ग्राम, खेट, पुर, राष्ट्र, इन दोनों—कुबेर और लक्ष्मी—से यदि नहीं देखे जाते हैं तो बड़े अनर्थ पैदा होते हैं; क्लेश, बन्धन, वध आदि के अनर्थों से लोग आक्रान्त रहते हैं ॥१०४-१०६॥

नगर के देवतायतन—बाह्य मन्दिर—अब इस के बाद नगर में सब दिशाओं में भूमियों के भीतर और बाहर जिन-जिन देवताओं की स्थापना करनी चाहिए उनको कहता हूं। चारों दिशाओं से लेकर प्राकार और परिखा

तक बाहर सौ-सौ, डेढ़ सौ, दो सौ चापों के परिमाण से शुद्ध एवं अनिन्द्य धरणीतल वाले अपने-अपने विभिन्न मन्दिरों के साथ क्रमशः देवताओं के अपने-अपने प्रासादों तथा अपने-अपने परिवार-देवताओं के देवता-यतनों से युक्त नगराभिमुख निवेशों का निर्माण करना चाहिए। देवतायतनों के अपने-अपने चित्र-विचित्र बनोद्यान भी होने चाहिएँ। निवेश्य पुर के मध्य में स्थित दक्षिण व उत्तर में फैले हुए वंश पर बाहर भीतर देवताओं का निवेशन करना विहित है। पूर्व में पश्चिमाभिमुख, पश्चिम में पूर्व की ओर मुख, दक्षिण और उत्तर में क्रमशः एक दूसरे के विपरीत प्रदक्षिण वंश होने चाहिएँ। उत्तर मुख वाले भी देवों को दक्षिण-दिशोन्मुख नहीं करना चाहिए तथा चैत्य, शान्ति-सभाएँ और यक्षों, माताओं तथा प्रमथों के मन्दिर तथा प्रमथाधीश्वर के निकेतन भी उधर नहीं करने चाहिएँ। इस प्रकार से यह यथादिङ्मुख देवताओं का वर्णन किया गया। प्रत्येक दिशा में बाहर जो देवगण निवेश्य हैं उनके विषय में अब वर्णन करता हूँ ॥१०७-११४॥

विष्णु, सूर्य, इन्द्र तथा धर्मराज के मन्दिर पूर्व दिशा में स्थापित करने चाहिएँ ॥११५॥

सनत्कुमार सावित्री, मरुतों तथा मारुत के मन्दिर पूर्व-दक्षिण दिग्भाग में बनाने चाहिएँ ॥११६॥

गणेश, माताओं तथा भूतों एवं प्रेतपति यमराज के मन्दिर दक्षिण दिशा में और भद्रकाली का मन्दिर तथा पितरों के चैत्य दक्षिण-पश्चिम में बनाने चाहिएँ ॥११७॥

सागर, नदियों, शिल्पिराज विश्वकर्मा, प्रजापति ब्रह्मा तथा वरुण के पश्चिम दिशा में मन्दिर बनाने चाहिएँ ॥११८॥

नागों, शनैश्चर, कात्यायनी के मन्दिर पश्चिमोत्तर दिशा में करने चाहिएँ ॥११९॥

विशाख और कार्तिकेय, चन्द्रमा तथा कुबेर के प्रासाद अलग-अलग सौम्य दिशा में बनाने चाहिएँ ॥१२०॥

जगद्गुरु महेश, लक्ष्मी और अग्निदेवता के सुन्दर मन्दिर पूर्वोत्तर दिशा में बनाने चाहिएँ ॥१२१॥

नगर के चारों ओर नदियों तथा सागरों के मन्दिर निवेश्य हैं और जंगलों और पहाड़ों के साथ-साथ सभी जगह उमापति भगवान् शंकर का स्थान इष्ट है ॥१२२॥

जिस नगर में अपनी-अपनी दिशाओं में इन सुरोत्तमों के स्थानों का

निवेशन होता है वह नगर सभी प्रकार की समृद्धि एवं ऐश्वर्य को पाकर बहुत काल तक सुखी रहता है ।।१२३।।

नगर से विदूर भी सभी दिशाओं में बाहर से अभिमुख देवगण कल्याण-कारी होते हैं, पराङ्मुख नहीं ।।१२४।।

यदि कोई देव किसी भू-भाग पर पराङ्मुख स्थापित हो जाये, तो शास्त्रज्ञ स्थपति को उसमें इस शास्त्रोक्त विधि का पालन करना चाहिए—उस देवता का अपने वेश, वर्ण, अलंकार, वस्त्र और वाहन से युक्त चित्र बनाकर मन्दिर की दीवाल पर नगर के सन्मुख चित्रित कर दे। वैकंकत, शमी, बिल्व, दूध और कांटे वाले वृक्षों के भीतर स्थित होने पर वरुण और अग्नि के मन्दिरों में यह दोष नहीं कहा गया है। पूजाश्रितों में यह विधान कहा गया है और चित्रों में चित्रितों के लिए नहीं। इसलिए चित्र में चित्रित देवताओं के मुख सभी तरफ़ बनाये जा सकते हैं ।।१२५-१२८।।

आभ्यन्तर मन्दिर—नगर के बाहर देवालयों का जिस प्रकार से विधान कहा गया है, वैसा ही नगर के भीतर भी अपनी-अपनी दिशाओं में उनका विधान करना चाहिए ।।१२९।।

नगर के मध्य भाग में ब्रह्मा, इन्द्र, बलराम तथा कृष्ण के मन्दिर बनाने चाहिएँ ।।१३०।।

नगर के भीतर माताओं, यक्षों, गणाधीश, रुद्रों, भूतसंघों को, बिना उनके मन्दिर बनवाये ही, चबूतरों तथा मार्गों आदि पर भी निवेशित किया जा सकता है ।।१३१।।

कल्याण चाहने वाले राजा को चाहिए कि वर्ण, आश्रम, कला, पण्य शिल्प के उपजीवी देवों को अपनी-अपनी दिशाओं में स्थित्यनुरूप निवेशन करावे ।।१३२।।

एक विशेष संकेत है कि भक्ति की इच्छा रखने वाला एवं सामार्थ्य से युक्त बुद्धिमान् व्यक्ति देव-विशेषों के प्रासाद होने पर भी दूसरे प्रासादों को पूर्व दिशा में ही बनवाता है तो दुःख नहीं पाता है ।।१३३।।

प्रत्येक घर में, प्रत्येक ग्राम में, प्रत्येक नगर में व प्रत्येक मन्दिर में पूर्व में प्रथम से ही स्थित प्रासाद के प्रमाण से एवं गुण से अधिक दूसरे मन्दिर का निर्माण नहीं करना चाहिए। रुद्र, चन्द्रमा अथवा ब्रह्मा के मन्दिरों के होने पर भी यदि और उनका दूसरा प्रासाद बनवाया जाय तो ब्राह्मणों के लिए पीड़ाकारक होता है ।।१३४-१३५।।

इसी प्रकार अग्नि और बृहस्पति के मन्दिरों में एक से अधिक बनवाने

पर पुरोहितों तथा ज्योतिषियों को अवश्य भय होता है। कुबेर, इन्द्र, यम और वरुण के एक से अधिक मन्दिर बनाने पर राजा के लिए भय कहा गया है ॥१३६-१३७॥

स्वामि-कार्तिकेय के एक मन्दिर से अधिक मन्दिर बनवाने पर तो वह निश्चय ही सेनाध्यक्ष और सेनाओं के लिए पीड़ाकारक होता है ॥१३८॥

ब्रह्मा और विष्णु के यदि दूसरे मन्दिर बनाये जाते हैं तो बनाने वाले या बनवाने वाले दोनों के विनाश और बन्धन के कारण होते हैं ॥१३९॥

गणेश, यक्ष और नागों के एक से अधिक प्रासाद बनाये जाते हैं तो सेना के अंगों के लिए नित्य ही बड़ा भय उपस्थित होता है ॥१४०॥

स्त्री नाम वाली देवताओं के मन्दिर यदि घरों से पीड़ित होते हैं तो मुख्य पुर-नारियों के लिए उपद्रव करते हैं। पहले के सब देवताओं के अपने-अपने मन्दिरों से दूसरे मन्दिरों से पीड़ित होने पर अथवा उनके चिह्नों से चिन्हित चैत्यों से अथवा दूसरे चैत्यों से पीड़ित होने पर पीड़ा पहुँचती है। कम अथवा ज्यादा प्रमाण से विनिर्मित एवं दुर्निविष्ट मन्दिरों से बनाने वाले तथा बनवाने वाले दोनों को पीड़ा पहुँचती है और उसकी पूजा भी नहीं है। न तो बहुत ही अधिक अमरालयों का संभार करना चाहिए और न अमरालयों से बिल्कुल पुर को अनाथ ही कर देना चाहिए और न ब्रह्मा के मन्दिर से विहीन ही पुर होना चाहिए ॥१४१-१४४॥

ज्येष्ठ, मध्य तथा कनिष्ठ देवतायतन नौ, छं तथा तीन पदों के अन्तर में क्रमशः करने चाहिएँ। इसके विपरीत दोष होता है ॥१४५॥

देवताओं के अपने निवेशन में यह विधि कही गई है। बाहरी निवेश में अपनी इच्छा के अनुसार देव-मन्दिर की स्थापना करनी चाहिए ॥१४६॥

सब नगरों में, सब ग्रामों में, सब खेटकों में यह सामान्य विधि कही गई है ॥१४७॥

इस प्रकार से अपने-अपने विभाग से देवताओं का नगर में पद-सन्निवेश कहा गया है। अब हम ग्रह-देवताओं अर्थात् वास्तु-पद में प्रतिष्ठित देवताओं के शुभ और अशुभ फल के विभाग से युक्त सम्यक् विभाग कहते हैं परन्तु समराङ्गण के अध्यायों के नवीनीकरण से यह प्रतिपादन पूर्व ही किया जा चुका है ॥१४८॥

चतुर्थ पटल

१. भवन-प्रकार
(चतुःशालादि दशशालान्त)
२. भवन-द्रव्य (दारु-आहरण)
३. भवन-द्रव्य-प्रमाण (भवनाङ्ग)
४. भवन-रचना (चुनाई)
५. भवन-भूषा
६. द्वारतोरणादि भवनाङ्ग एवं तत्तद् भङ्गादि वेधादि दोष एवं शान्ति
७. भवन-दोष-सामान्य
८. भवन-शान्ति

ध्रुवादि षोडश एकशाल भवन

अध्याय २४
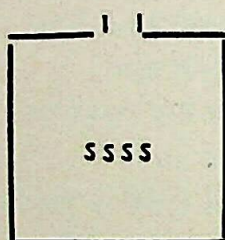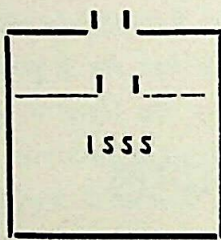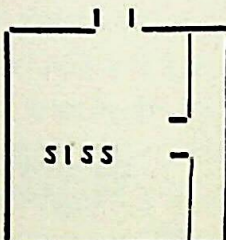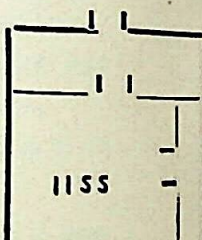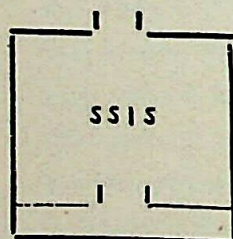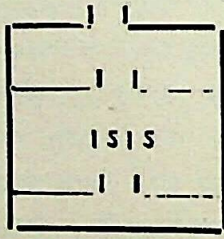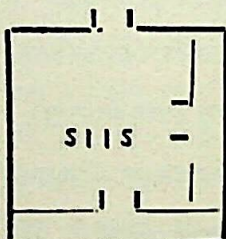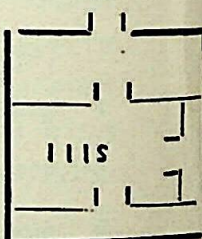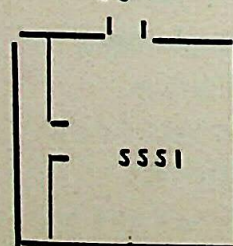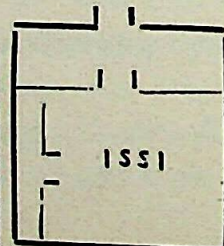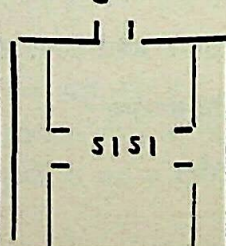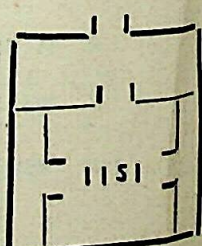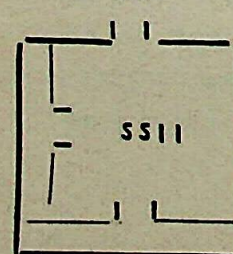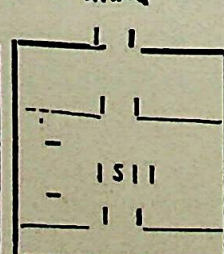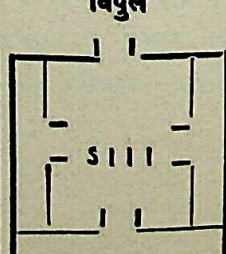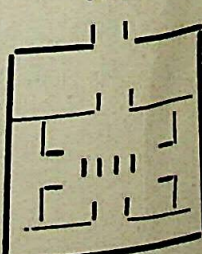
चतुःशाल-विधान

अब राजा, सेनापति और वर्णियों के क्रमशः प्रशस्त एवं अप्रशस्त सभी भवनों का वर्णन करते हैं ॥१॥

वास्तु-शास्त्रविज्ञ मनीषी पण्डितों द्वारा बताया गया है कि एक शाला वाले भवनों के १०८ भेद होते हैं और दो शालाओं वालों के ५२ और तीन शालाओं वालों के ७२, चार शालाओं वालों के २५६, पाँच शालाओं वालों के १०२५ तथा षट्शालाओं वालों के ४०९६ भेद होते हैं। परन्तु 'अष्टांग'[1] में एक-शाल भवन के ५० भेद बताये गए हैं और दो शालाओं वाले घर के सब मिलाकर ५०० भेद बताये गए हैं। त्रिशाल-भवन के प्रत्येक के १००-१०० भेद बताये गए हैं। चतुःशालाओं वाले घरों के ८४२ तथा पंचशालाओं वाले मकान के १७९२ भेद हैं। छे शालाओं वाले घरों के १६,३८४ भेद हैं। सप्त शालाओं वाले वेश्मों की संख्या ६५,५०० है। आठ शालाओं वाले घरों की संख्या २,६२,१३६ और नौ शालाओं वाले मकानों की संख्या १०,४८,०४४ है। दशशाल-भवनों की संख्या केवल ५७६ है ॥२-१०½॥

गृह-द्वितय-योग अर्थात् दो घरों के जोड़ों से निष्पन्न संयुक्त घरों की एक संख्या २० है और दूसरी संख्या ३२ है। १५ हलक (गृह-विशेष) भी हैं। उत्तम वर्णियों के लिए विहित आठ अन्य घर हैं—१. गृह-माला, २. ग्रह-संघट्ट, ३. गृह-नाभि, ४. गृहांगण, ५. उद्भिन्न, ६. भिन्न-कक्ष, ७. निलीन तथा ८. प्रतिपादित। इन विशिष्ट चतुश्शाल-भवनों की संज्ञाओं, लक्षणों तथा संस्थानों का अब वर्णन किया जाता है। वर्णियों का चतुःशाल भवन ३२ हस्तों के प्रमाण से बनाया जाता है। सेनापति तथा पुरोहित के चतुःशाल भवन का प्रमाण ६४ हस्तों का मान विहित है। राजाओं के लिए १०२ हाथ के प्रमाण का चतुःशाल भवन बताया गया है। इन आठों में चार का क्रम तो यह हुआ। पांचवें विशिष्ट भवन को अलग-अलग ४, ६, ८ हाथ की हानि से बनाना चाहिए, अर्थात् वर्णियों के चतुश्शाल भवन के ३२ हाथ का प्रमाण

---

१. अष्टाङ्ग स्थापत्य से हम परिचित हैं; परन्तु यहाँ पर 'अष्टाङ्ग' से तात्पर्य संभवतः किसी प्राचीन ग्रन्थ से है।

बताया गया है। उसमें ४ की हानि से २८ हाथ बचा। इसी प्रकार से सेनापति तथा पुरोहित के लिए मध्यम भवनों को क्रमशः कनिष्ठ हाथों के प्रमाण से शोधित करना चाहिए। नरेन्द्र-पुरुषों के ये घर वृद्धि करने वाले कहे गये हैं। पहले के समान उत्तम गृहों का भी मध्यम प्रमाणों से शोधन करना चाहिये। ऐसा करने पर ये राजाओं के लिए रति और कोष के आगार कहे जाते हैं ॥१०½-१८॥

ब्राह्मणों के घरों में लम्बाई चौड़ाई से दश अंग अधिक होनी चाहिये। क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों के घर में वह ८, ६ तथा ४ अंश अधिक होनी चाहिये। जैसा विस्तार वैसा ही आयाम। लेकिन वैश्यों और शूद्रों के मध्य और जेष्ठ घर में वह अधिक कहा गया है ॥१९-२०॥

कर्ण-सूत्र से बाहर प्रयत्नपूर्वक सब खंभों का न्यास करना चाहिए। सोलह हाथ वाले पांच भवनों की वृद्धि चार हाथ से तथा उनकी शाला का विस्तार चार अंशों से विहित है। सब घरों में शालाओं के आधे व्यास से अलिन्द होता है। उसके अर्थात् वृद्धि के सोलह हाथ पंचमांशद्वय में अथवा सप्तमांशत्रय से अन्य दो भवनों का विस्तार प्रमाण बताया गया है। अन्तिम दो हाथों से वह विस्तार-प्रमाण चार अंशों से, नवें अंशों से अथवा पांच अंशों से या छे अंशों से अथवा साढ़े छे अंशों से होगा। श्रेष्ठ चतुःशाल भवनों में साढ़े दस हाथ की लम्बाई विहित है तथा निवेश के दसवें हिस्से में सात हाथ लम्बाई का विस्तार विहित है। ॥२१-२५½॥

अलिन्द का प्रमाण हमने पहले बता दिया है। जो शाला तथा अलिन्द से बचा उसे गर्भ-गृह कहते हैं। विद्वान् लोग मूषा के समान छिन्न शाला की लम्बाई मानते हैं। सभी घरों की अवकोसिमा शाला-व्यास-प्रमाणा समझनी चाहिये। जो कर्णशाला बताई गई है उसी को अवकोसिमा समझना चाहिए और अलिन्द और शाला के मध्य में मूषा कहलाती है। पूर्व के द्वार तक आदि-मूषा होती है और उसके उत्तर दिशा में भद्रा-मूषा कहलाती है। उसकी संख्या को जानना चाहिए। जितनी मूषा वाला घर है, उतनी भद्रा वाला वह घर कहलाता है। पूर्व में ये भद्र तथा अभद्र दोनों, दक्षिण में सौम्य तथा असौम्य दोनों, पश्चिम दिशा में शान्त और अशान्त और सौम्य दिशा में शिव और अशिव कहलाती हैं। इन भद्रों को कई लोग अलिन्द कहते हैं और कोई लोग मूषा, कोई इसे भद्रा और कोई लोग परिसर कहते हैं और यह एक, दो, तीन, चार, पांच, छः, सात और आठ के क्रम से उनकी प्रवहणा संज्ञा से वेश्म की मूषाएं होती हैं। उनमें से आदि की प्रशस्त और बाद की अप्रशस्त मानी गयी हैं।

प्राशस्त्याप्राशस्त्य-निर्धारण नाम, गुण, शुभ तथा अशुभ से संकेतित है ॥२५½-३५½॥

मूषा-संख्या-प्रस्तार—आदि में आठ गुरुओं का न्यास करे, उसके बाद आदि गुरु के नीचे लघु का न्यास करे और उसके बाद ऊपर शेषों का न्यास करे। गुरुओं से आदि की तब तक पूर्ति करते रहना चाहिए जब तक सब लघु न हो जावें। पहली पंक्ति में क्रमशः एक गुरु और एक लघु। तदनन्तर हर एक पंक्ति में दुगुने होते हैं अर्थात् आद्य पंक्ति में पहली कतार (प्रथमावलि) में एक गुरु, उसके नीचे दूसरा लघु करना चाहिये। इस प्रकार क्रमशः प्रस्तार-संख्या का लेखन होना चाहिए। जैसे चार गुरु वाले प्रस्तार में सोलह गुरु-लघु होते हैं। तदनन्तर उसके आगे दो गुरु दो लघु एक-एक के नीचे रक्खे। फिर उसके आगे चारों गुरु चारों लघु। फिर उसके आगे आठ गुरु आठ लघु। इस प्रकार प्रत्येक पंक्ति में एक से दुगुने गुरु-लघु का विन्यास विहित है। चतुः-शाल में मूषा के भेद से दो सौ छप्पन भेद होते हैं। पुनः अलिन्द, वीथी, प्राग्रीव, निर्यूहक तथा गवाक्षकों से अंगभद्र-विन्यास रचनाओं से अनेक प्रकार के परस्पर संवाद न होने के कारण संवृत और विवृतों से विभिन्न गृहभेद उत्पन्न होते हैं जिनकी संख्या नहीं होती है अर्थात् संख्यातीत भेद बनते हैं ॥३५½-४०½॥

एकभद्र चतुश्शाल—जिस सम्बन्ध से चतुःशाल मूषा-रहित और अलिन्द-रहित न हो उस एक-भद्र आदि घरों के नाम कहता हूँ। विशेषज्ञ प्रस्तार में एक लघु लक्षण वाले को एक-भद्र कहते हैं और क्रम-संख्या के विभाग से एकभद्र आठ होते हैं—प्रागायत, प्राग्विलग्न, जय, संयमनप्रिय, प्रतीच्य, प्रास-विन्यास, सुभद्र तथा कलहोत्तर ये आठ भेद हैं ॥४०½-४३॥

द्विभद्र चतुश्शाल—अब द्विभद्रों को कहता हूँ। पूर्वभद्रा से पूर्वोत्तरोत्तर पहिली पूर्व की ओर और दूसरी दक्षिण की ओर होती है। इनके नाम हैं—ईर, सुनीथ, आग्नेय, द्वीप, आप्य, सुसंयम, अर्धचर्य, ऐभ, व्याकोश, नैऋंत्य, वृपभ, बिन, काव्य, विपास, आनीर, कान्त, सौभ, विपश्चिम, गवय, श्रीवह, श्लिष्ट, गण, भीम, अथोगम, वर्त, चल, शठ, क्रान्त ये अठ्ठाइस द्विभद्र चतुश्शाल भवनों की संख्या हैं ॥४४-४७॥

त्रिभद्र चतुश्शाल—अब तीन भद्राओं वाले भवनों की संख्या कहते हैं। ऐन्द्र, विलोम, आयाम, वध, एकाक्ष, अन्तिक, प्रकाश, पैत्र, आयस्त, भद्र, प्रान्त, प्रसाधक, क्षम, विघात, आयात, कान्त, चित्र, द्विमन्दिर, सुदक्षिण, भय, श्लिष्ट, प्रमोद, व्यायत, वियत, आप्य, सुनाग, नागेन्द्र, ईरित, शोभन, घन, शस्तोत्तर, कफ, कर्ण, कुष्ट, क्रान्त, क्रमागत, द्विशस्त, द्विभय, चक्र, मलय, आयत, वन,

भार, सुगार, आगार, वीर, व्यायाम, आयुत, व्याहित, दुर्गम, क्षोभ, कृत्रिम, क्षोभण, चारु, रुचि, ध्रुव ये त्रिभद्र चतुश्शालों की ५६ संख्याएँ हुईं ॥४८-५३॥

चतुर्भद्र चतुश्शाल—अब चार भद्राओं वाले भवनों की संख्या बताते हैं। कृत, अर्चायन, पौष्ण, उद्गत, मिश्र, उत्मुक, विघ्न, विपक्ष, आहूत, रुचक, वर्धन, पृथु, कलह, छल, आयास्य, त्रिनाभ, स्वस्तिक, स्थिर, शरल, द्विगुण, नाद्य, चित्र, प्रान्त, विधारण, साधारण, नत, त्र्यंश, ऋष, रोग, विशेषण, प्रतीच्य, त्रिसम, स्वैर, सुप्रतीक, नल, क्षय, व्यास, आक्रीड़न, व्यर्थ, ईशान, सुख, अव्यय, मगध, क्षिप्र, आगस्त्य, एकोज, द्विर्गत, लिह, पर्क, विलोम, उद्दण्ड, मुण्ड, मातंग, आखिल, खर्व, पिनाक, उद्यन्त, विशिख, प्रसभ, रज, रुचक, सफल, वाम, वर्धन, धावन, सह, चय, सेव्य, कल, तीर्ण, ये सत्तर चतुर्भद्रों की संख्याएँ हैं ॥५४-६०॥

पञ्चभद्र चतुश्शाल—अब क्रमशः पञ्चभद्र चतुश्शालों की संख्या कहते हैं—कानल, लोलुप, जिह्म, प्रगाल, सालिन, जिन, सुजय, विजय, याम, जय, ज्ञात, जप, तप, जम, वर, चर, वैर, विजिय, सुप्रभ, प्रभ, प्रतीक्ष, क्षमिण, युक्त, शान्त, त्रैत, विनोदन, संदोह, विप्रदोह, विद्रुन, मतन, तत, व्याकुल, लीन, आलीन, विचित्र, लम्बन, खर, शेखर, विबुध, चैत्र, व्यासक्त, सम्पद, पद, त्रिशिख, चतुर, प्रात, सुस्थित, दुस्थित, स्थित, चक्र, वक्र, लघ, लाभ, सम्पर्क, मूल तथा अव्यय ये ५६ पञ्चभद्र चतुश्शाल भवन हैं ॥६१-६५॥

षड्भद्र चतुश्शाल—अब अट्ठाइस षड्भद्रों की संख्याएँ जानो। किन्नर, कौस्तुभ, हर्म्य, धार्मिक, निषध, वसु, साटीक, वामन, गौर, अस्थिर, क्रमिण, खल, विवर, वालिश, क्षौम, त्रिकुट, मंदिर, भव, अशोक, भास्वर, चौप्य, लातव्य सुस्वन, मख, वाजि, नेत्र, भ्रम, तथा घोष ये २८ भेद हुए ॥६६-६८½॥

सप्तभद्र चतुश्शाल—इसके बाद सप्त भद्रों की संज्ञाएँ कहते हैं। भाण्डीर, वैसह, प्रस्थ, प्रतान, वामुल, कट, लक्ष्मीवास, सुगन्धान्त इन आठ नामों से सप्त भद्राओं वाले भवनों की संख्या हुई ॥६८½-६९॥

अष्टभद्र चतुश्शाल—सर्वतो-भद्र अर्थात् आठों भद्राओं से केवल एक ही भेद होता है। अब इन भेद-प्रभेदों के शुभाशुभ का वर्णन करता हूँ ॥७०॥

दक्षिण में मूषा शुभ मानी जाती है। इसके उल्टे होने पर अशुभ होती है। समवाय में फिर साधु और असाधु को जानना चाहिए और उसी प्रकार क्रमशः एकभद्र तथा सप्तभद्र भवनों की संख्या ८ होती है। दो भद्रों और षड्भद्रों वाले भवनों की संख्या २८ होती है। त्रिभद्र और पंचभद्र भवनों की संख्या ५६ होती है। चतुर्भद्र भवन ७० होते हैं। अष्टभद्र एक होता है। इस

प्रकार २५६ वेश्मों का यह चतुश्शाल पिंड हुआ ।।७१-७३।।

चतुःशाल की क्रियादि में भद्राग्रों के पूर्व विधान के द्वारा कुडय से उत्पन्न होने वाली इन चतुःशाला वाले घरों में मूपा करनी चाहिए। अनुवंश में आश्रित उससे पराङ्मुख स्वस्तिक और मुखायत मूपा में दो सामने अवकोसिम होने चाहिएँ। उसे उत्तर मुख में नहीं करना चाहिए। वर्धमान में भी वैसा ही प्राग्रीव संयुत करना चाहिए। मुखायत द्वारा मूपा में वर्धमान की तरह मूपा के दक्षिण में और बायें में अवकोसिम होने चाहिएँ। नन्द्यावर्त गृह में सब नन्द्यावंत होते हैं और रुचक में दो लम्बे अवकोसिम होते हैं। सर्वतोभद्र वेश्म में सर्वद्वारों पर मूपाएँ होती हैं। ।।७४-७९½।।

जिसमें एक आदि-मूपा होती है उसको प्रागायत गृह कहते हैं। दूसरी एक-मूपा से विलग्न, जय आदि वेश्मों में एक प्रदक्षिण से मूपा से योजना बताई गई है तो जय आदि गृह निष्पन्न होते हैं। क्रमशः उनके फल होते हैं—धन, अर्थ, विनाश, जय, अशुभ, प्रीति, उद्वेग, कल्याण और कलह। जहाँ पर पूर्व में दोनों मूपाएँ हों उसको ईर कहते हैं, जहाँ पर पहिली तीसरी से युक्त हों उस घर को सुनीत कहते हैं। आग्नेय में दूसरी और तीसरी मूपा होती है और द्वीप में पहिली और चतुर्थ, आप्य में दूसरी और चौथी, सुसंयम में तीसरी और चतुर्थ, अर्धचं में पहिली और पाँचवीं, ऐम में दूसरी और पाँचवीं, व्याकोश में तीसरी और पाँचवीं, नैर्ऋत्य में दूसरी और पाँचवीं, वृषभ में पहिली और छठी, विन में दूसरी और छठी, काव्य में तीसरी और छठी, विपास में चौथी और छठी, वानीर में पाँचवीं और छठी, विपास में चौथी और छठी, आनीर में पाँचवीं और छठी, कान्त में पहली तथा सातवीं, सौभ में दूसरी और सातवीं, विपश्चिम में तीसरी और सातवीं, गवय में सातवीं और चौथी, श्रीवह में पाँचवीं और सातवीं, श्लिष्ट में छठी तथा सातवीं, गण में पहली और आठवीं, भीम में आठवीं और दूसरी, अयोगम में तीसरी और आठवीं, वर्त में चौथी और छठी, चल में पाँचवीं और आठवीं, शठ में छठी और आठवीं, क्रान्त में सातवीं और आठवीं, इस तरह से दो भद्राग्रों वाले घरों की अट्ठाईस मूषाओं का विवरण हुआ ।।७९½-९०।।

अब तीन भद्रों को कहता हूँ। उन में ऐन्द्र पुष्टि-वर्धन है। उसका द्वार दक्षिण और पश्चिम में होता है और वह पहली तीन मूपाओं से अन्वित होता है। जिस का द्वार विपश्चिम होता है और जिसका नाम विलोम होता है, वह शूद्रों के लिए पुष्टि-वर्धन होता है। सर्वतोमुख आयाम में पहिली, दूसरी और चौथी मूपाएँ होती हैं। वध में दूसरी, तीसरी और चौथी होती हैं और

उसका द्वार उत्तर दिशा में होता है। जहां पर पहिली, दूसरी और चौथी मूपाएँ होती हैं उसे एकाक्ष कहते हैं। अन्तिक में पहिली, दूसरी और पांचवीं कही गई हैं। जहां पर दूसरी, तीसरी, पांचवीं होती हैं उसे सब वृद्धि करने वाला प्रकाश नामक गृह कहते हैं। जहां पर पहिली, चौथी और पांचवीं हों उसको पैत्र कहते हैं और जहां पर पांचवीं, दूसरी, चौथी हों उसे आयस्त कहा गया है। तीसरी, चौथी और पांचवीं से युक्त गृह को मनीषियों ने भद्र कहा है और जहां पर पहली, दूसरी और छठी हो उसे प्रान्त कहा है। प्रसाधक वेश्म में पहली, तीसरी, छठी मूपा होती हैं। उसमें सब ओर दरवाजे होते हैं और सर्वार्थ-साधक होता है। क्षय नाम वाले वेश्म में दूसरी, तीसरी और छठी मूपा होती है और उसके पश्चिम दिशा में द्वार होता है और यह शूद्रवर्ग के लिए इष्टदायक होता है। विघात नाम वाले वेश्म में छठी, चौथी और पहली मूपा होती हैं। जिसमें छठी, दूसरी और चौथी हो वह आयत कहलाता है और वह दक्षिणमुख होता है ॥६१-६६॥

क्रान्त छठी, चौथी और तीसरी मूपाओं से युक्त होता है और वह सर्वार्थ-साधक होता है। दक्षिण दिशा की ओर मुख वाला चित्र छठी, पांचवीं और पहली मूपाओं से युक्त होता है ॥१००॥

जिसमें दूसरी, पांचवीं, छठी होवें उसको द्विमन्दिर कहते हैं और जहां पर तीसरी, पांचवीं और छठी मूपाएँ होती है, उसे सुदक्षिण कहते हैं ॥१०१॥

चौथी, पांचवीं और छठी मूपा जिस में होती हैं वह वृद्धिकारक नहीं कहा गया है। जहां पर पहली, दूसरी, सातवीं होवें उसे श्लिष्ट संज्ञा से पुकारा जाता है। इसका द्वार दक्षिण की ओर होता है और यह मनुष्यों के लिए सुख और सर्वार्थ देने वाला होता है। प्रमोद में पहिली, तीसरी, सातवीं, मूपा होती है। जहां पर दूसरी, तीसरी, सातवीं मूपा हो उसे व्यायत वेश्म स्मृत किया गया है और जहां पर पहली, चतुर्थी और सातवीं हों उसे त्रियत कहा जाता है। दूसरी, चौथी और सातवीं मूपाओं से सुनाग वेश्म कीर्तित हुआ हैं, और वह दक्षिणमुख वाला धनधान्य सुखद कहा गया है। सातवीं, पांचवीं और पहिली मूपाएँ नागेन्द्र नाम वेश्म में कही गई हैं। वह धन, धान्य एवं सुख देने वाला होता है। दूसरी, पांचवीं और सातवीं मूपाएँ दक्षिण मुख वाले ईरित में होती हैं और तीसरी, पांचवीं, सातवीं मूपाओं से शोभित शोभन कहलाता है ॥१०२-१०७॥

चौथी, पांचवीं, सातवीं, मूषाओं से युक्त घन कहलाता है। पहिली, छठी और सातवीं मूपाएं शस्तोत्तर नामक प्रशस्त गृह में होती हैं। दूसरी, सातवीं और छठी जिसमें हों उसकी कफ संज्ञा कही गई है और दूसरा द्वार वरुण

(पश्चिम) दिशा में होता है और यह ब्राह्मणों के लिए हितकारक होता है ॥१०८-१०९॥

पश्चिम द्वार-कर्ण में पश्चिम द्वार होता है और वह तीसरी, छठी और सातवीं मूपा से युक्त होता है। कुष्ट-संज्ञा वाले गृह में चौथी, सातवीं और छठी मूपाएँ होती हैं ॥११०॥

कीर्तिवर्धक क्रान्त सातवीं, पांचवीं और छठी मूपा से युक्त होता है और क्रमागत में पहली, आठवीं और दूसरी मूपा कही गई हैं ॥१११॥

द्विशस्त भवन में पहली, आठवीं और तीसरी मूपाएँ बताई गई हैं और जहाँ पर आठवीं, तीसरी और दूसरी मूपाएँ हों उसको द्विभय कहा गया है ॥११२॥

जहां पर पहली, आठवीं और चौथी हों उसको चक्र संज्ञा दी गई है। जहाँ पर चौथी, आठवीं और दूसरी हों उसको आयत कहा गया है। और जिसमें पहली, आठवीं, पांचवीं हो उसको वन स्मृत कहा गया है ॥११३-११४॥

दूसरी, पांचवीं और आठवीं जहां पर मूपाएँ हों, उसको भार आख्या दी गई है। उसका मुख उत्तर दिशा की ओर यदि हो तो शुभ अन्यथा विघ्नकारी होता है। तीसरी, पांचवीं और आठवीं से सुगार परिकीर्तित किया गया है और जहां पर आठवीं, पांचवीं, चौथी मूपा हो उसको आगार कहते हैं ॥११५-११६॥

जिसमें पहली आठवीं, छठी हो उसको वीर कहते हैं। छठी, आठवीं, और दूसरी मूपा व्यायाम नाम वाले घर में होती हैं ॥११७॥

छठी, आठवीं और तीसरी मूपाओं से युक्त आयुत कहा गया है और जहां पर छठी, आठवीं और चौथी हो उस को व्याहृत कहते हैं ॥११८॥

छठी, आठवीं और पांचवी मूपाओं से युक्त व्याधि करने वाला दुर्गम माना गया है। पहली, आठवीं और सातवीं से युक्त क्षोभ कहा जाता है ॥११९॥

दूसरी, सातवीं और आठवीं से युक्त कृत्रिम संज्ञा वाला घर कहा जाता है। तीसरी, सातवीं और आठवीं मूपाओं से क्षोभण कहा जाता है ॥१२०॥

चौथी, सातवीं और आठवीं से समन्वित चारु-रुच्य कहलाता है। सातवीं और आठवीं से युक्त ध्रुव स्मृत किया गया है। छठी, सातवीं तथा आठवीं मूपा वाला सिद्धिप्रद कथ कहलाता है। इस प्रकार से तीन भद्राओं वाले मकान कहे गए। इनमें से जो प्रशस्त कहे गये हैं उनकी मनीषियों द्वारा मकान बनाने के लिए नित्य योजना करनी चाहिए ॥१२१-॥१२३½॥

आदि की चारों मूपाएँ जहां हों उस की कृत संज्ञा कही गई है। यदि उसका पूर्व अथवा पश्चिम में द्वार हो तो सब के लिए गुण-कारक होता है अन्यथा नहीं ॥१२३½-१२४½॥

पहली, तीसरी और पांचवीं मूषा जिसमें हो उसको अर्चायन कहते हैं और वह पश्चिम द्वार वाला घर सब गुणों से युक्त होता है। जिसमें पहली, दूसरी, चौथी और पांचवीं मूषा हो उस दक्षिणद्वार को पौष्ण कहते हैं और दक्षिण द्वार वाला वह घर मनुष्यों के लिए सब प्रकार की वृद्धि करने वाला होता है ॥१२४½-१२६½॥

दूसरी, तीसरी और पहली जिसमें हों उसको उद्गत गृह कहते हैं और उसका द्वार पश्चिम अथवा दक्षिण की तरफ़ यदि हो तो शुभ होता है। दूसरी और चौथी मूषाएँ जिसमें हों वह प्रीतिवर्धन मिश्र कहलाता है और वह क्षत्रियादिकों के लिए प्रशस्त कहा गया है। उसका दरवाज़ा पूर्व अथवा पश्चिम में होना चाहिए ॥१२६½-१२८½॥

आदि की तीन और छठी मूषाएँ जिसमें हों उसको उत्सुक कहते हैं। उसके पश्चिमद्वार होने पर प्रशस्त कहा गया है। ब्राह्मणादिकों के लिए यह जय-सूचक है ॥१२८½-१२९½॥

जहां पर पहली, दूसरी, चौथी और छठी मूषाएँ होती हैं वह दक्षिण और पश्चिम मुख वाला विघ्न नाम का गृह कुल की वृद्धि करने वाला प्रशस्त कहा गया है ॥१२९½-१३०½॥

पहली, तीसरी और चौथी और छठी मूषाएँ जिसमें हों वह शुभ है ॥१३०½-१३०॥

विपक्ष नाम का धाम वह होता है जिसका द्वार पश्चिम में होता है जिसमें पहले को दो, तीसरी और छठी मूषाएँ होती हैं तथा जिसका द्वार पश्चिम और दक्षिण में होता है और जिसमें पहली, दूसरी, पाँचवीं और छठी मूषाएँ होती हैं, उसे आहूत नामक गृह कहते हैं ॥१३१-१३२½॥

पहली, दूसरी, पांचवीं और छठी जहां पर हों वह दक्षिण और पूर्व द्वार वाला, सकलमनोरथ पूर्ण करने वाला, रुचक नाम का गृह विख्यात है ॥१३२½-१३३½॥

पहली, तीसरी, पांचवीं, छठी मूषाएँ जहां पर हों उसको वर्धमानक कहते हैं और उसका पूर्व, पश्चिम और उत्तर द्वार चारों वर्णों के लिये वृद्धिदायक होता है ॥१३३½-१३४½॥

जहां पर दूसरी, तीसरी, पांचवीं और छठी मूषाएँ हों वह पूर्व दक्षिण द्वार वाला घर पृथु संज्ञा वाला कहलाता है ॥१३४½-१३५½॥

जिसमें पहली, चौथी, पांचवीं और छठी हों उसको कलम कहते हैं। वह सब गुणों से युक्त उत्तर द्वार वाला निकेतन है ॥१३५½-१३६½॥

दूसरी, चौथी, पांचवीं, छठी मूषाएँ जिसमें हों उसको चल कहते हैं। इसका मुख दक्षिण अथवा पश्चिम में प्रशस्त कहा गया है ॥१३६½-१३७½॥

पहली चार जिसमें हों उस को आयास्य कहा गया है। इसको विज्ञ लोग अप्रशस्त, अधम भवन कहते हैं ॥१३७½-१३८½॥

आदि की तीन और सातवीं मूषाएँ जिसमें हों वह घर त्रिनाम संज्ञक कहलाता है। उसका द्वार उत्तर दिशा की ओर प्रशस्त कहा गया है और वह सब गुणों से युक्त होता है ॥१३८½-१३९½॥

पहली, दूसरी, चौथी और सातवीं जहाँ हों उसका नाम स्वस्तिक है। उसका द्वार पूर्व, पश्चिम अथवा उत्तर में हो। वह चारों वर्णों के लिए प्रशस्त कहा गया है ॥१३९½-१४०½॥

पहली, चौथी, सातवीं मूषाएँ जिस घर में हों उसको यहाँ स्थिर नाम दिया गया है और उसका द्वार दक्षिण की तरफ़ कहा गया है ॥१४०½-१४१½॥

दो आदि की, तीसरी तथा सातवीं मूषाएँ जहाँ पर हों उसको सरल कहते हैं। उसका द्वार पश्चिम की ओर होता है और ऐसा घर सब दोषों से रहित होता है ॥१४१½-१४२½॥

जहाँ पर पहली, दूसरी, पांचवीं और सातवीं हों उसे द्विगुण कहते हैं और वह इप्सित द्वार वाला वेश्म कहलाता है ॥१४२½-१४३½॥

पहली, तीसरी, पांचवीं और सातवीं मूषाएँ जिस घर में हों वह सब प्राणियों के लिए प्रशस्तशील आदि से युक्त नाद्य नामक गृह कहलाता है ॥१४३½-१४४½॥

दूसरी, तीसरी, पांचवीं और सातवीं मूषाएँ जिस घर में हों वह विविध गुणों से युक्त इष्टद्वार-चित्र नाम का गृह कहलाता है ॥१४४½-१४५½॥

पहली, चौथी, पांचवीं और सातवीं जहाँ पर हों वह वृद्धि देने वाला पूर्व और उत्तर दिशा में ऊपर द्वार वाला भ्रान्त नाम का भवन कहलाता है ॥१४५½-१४६½॥

जहाँ पर दूसरी, चौथी, छठी और सातवीं हों वह सब कामनाओं का विवर्धन करने वाला विधारण नाम का गृह कहलाता है ॥१४६½-१४७½॥

जहाँ पर तीसरी, चौथी, पांचवीं और सातवीं मूषाएँ हों उसे साधारण भवन कहते हैं। वह सब दिशाओं में द्वार वाला होता है और सुखकारक कहा गया है ॥१४७½-१४८½॥

जहाँ पर पहली, दूसरी, छठी और सातवीं मूषाएँ हों वह नत कहलाता है ॥१४८½-१४९॥

ध्वंश नामक भवन में पहली, छठी और सातवीं मूषाएँ होती हैं ।।१४६½।।

दूसरी, तीसरी, छठी और सातवीं मूषाओं वाला घर ऋघ कहलाता है। चौथी, छठी और सातवीं वाला रोग नाम घर होता है ।।१४६½-१५०½।

जहाँ पर दूसरी, चौथी, छठी और सातवीं हों वह विशोपण नाम का गृह दक्षिण-उत्तर मुख वाला होता है ।।१५०½-१५१½।।

तीसरी, चौथी, छठी और सातवीं जिस घर में हों वह ईप्सित-द्वार प्रतीच्य नाम का भवन सर्वकामद होता है ।।१५१½-१५२½।।

जहाँ पर पहली, पांचवीं, छठी और सातवीं हों वह त्रिसम नामक गृह प्रभूत वृद्धि देने वाला समस्त गुणों से युक्त वेश्म कहलाता है ।।१५२½-१५३½।।

दूसरी, पांचवीं, छठी और सातवीं मूषाएँ जिस घर में हों वह धनधान्य-सुखावह स्वैर नामक गृह कहलाता है ।।१५३½-१५४½।।

तीसरी, पांचवीं, छठी और सातवीं जहाँ पर हों वह वृद्धि करने वाला सुप्रतीक नामक वेश्म कहलाता है और उसका द्वार उत्तर या पश्चिम की तरफ़ होना चाहिये ।।१५४½-१५५½।।

पहले की चारों मूषाओं से युक्त उत्तर दिशा वाला नल नामक वेश्म कहलाता है। पहली, दूसरी, तीसरी, आठवीं से युक्त सब रोगों और सब भयों का जनक क्षय नामक गृह कहलाता है ।।१५५½-१५६½।।

और व्यास में पहली, दूसरी, चौथी और आठवीं मूषाएँ होती हैं ।।१५६½-१५६।।

पहली, तीसरी, चौथी और आठवीं मूषाएँ आक्रीड नामक गृह में होती हैं। आदि की दो, तीसरी और आठवीं मूषाएँ जहाँ पर क्रमशः हों उसे व्यर्थ कहते हैं ।।१५७।।

ईशान नाम वाले वेश्म में पहली, दूसरी, तीसरी, पांचवीं और आठवीं मूषाएँ होती हैं और मुख संज्ञा वाले वेश्म में पहली, आठवीं, तीसरी, पांचवीं मूषाएँ होती हैं और इसका मुख उत्तर या पूर्व की ओर हो तो वृद्धि अन्यथा हानि ।।१५८-१५९½।।

जहाँ पर आठवीं, दूसरी, तीसरी, पांचवीं मूषाएँ होवें वह अव्यय नाम का घर है और उसका द्वार वास्तु-विद्या-विशारदों ने यथेष्ट कहा है ।।१५९½-१६०½।।

जिसमें पहिली, आठवीं, चौथी और पांचवीं मूषाएँ होवें उसका नाम मगध है। उसके द्वार को विद्वान् लोग पूर्व, उत्तर और पश्चिम बतलाते हैं ।।१६०½-१६१½।।

जहां पर दूसरी, चौथी, पांचवीं और आठवीं मूपाएं हों उसे क्षिप्र नामक गृह कहते हैं। वह सुख करने वाला होता है और उसका द्वार यथेष्ट होता है। तीसरी, पांचवीं, आठवीं और चौथी मूपाएँ पश्चिम मुख वाले आगस्त्य नामक गृह में होती हैं ॥१६१½-१६२॥

दूसरी, पहली, आठवीं और छठी जहां पर हों उसे एकोज कहते हैं और जहां पर तीसरी, पहली, आठवीं और छठी होवें उसे द्विगंत गृह कहते हैं। दूसरी, तीसरी, छटी, आठवीं जिसमें हों उसको लिह कहते हैं और जहाँ पर पहली, चौथी, आठवीं, और छठी हों उसको पर्क कहते हैं ॥१६३-१६४॥

छटी, आठवीं, दूसरी और चौथी मूपाओं से युक्त विलोम संज्ञक घर कहलाना है और छटी, आठवीं, दूसरी और चौथी से युक्त गृह उद्दण्ड नाम से कीर्तिन किया गया है। जिसमें पहली, आठवीं, छटी, पांचवीं हों उसको मुंड कहते हैं और मातंग संज्ञक गृह में, दूसरी, पाँचवीं, आठवीं और छटी मूपाएँ होती हैं। अस्खल नाम वाले गृह में तीसरी, पांचवीं, आठवीं और छठी मूपाएँ होती हैं और जिस घर में चौथी, पहली, तीसरी और आठवीं हों उसका नाम खर्व है ॥१६५-१६७॥

पहली, दूसरी, सातवीं और आठवीं मूपाएँ पिनाक नामक भवन में होती हैं और तीसरी, सातवीं, आठवीं, पहली उद्यंत में होती हैं ॥१६८॥

आठवीं, दूसरी, तीसरी और पाँचवीं मूपाओं से विशिख नामक गृह होता है। पहली, चौथी, सातवीं और आठवीं मूपाएं प्रशम गृह में होती हैं ॥१६९॥

रज नामक घर में दूसरी, चौथी, सातवीं और आठवीं मूपाएँ होती हैं और जहां पर तीसरी. सातवीं, आठवीं और चौथी मूपाएँ हों उसको रुचक कहते हैं। इसका द्वार पूर्व अथवा पश्चिम में विहित है और यह शूद्रों के लिए विशेप वृद्धिकारक माना गया है।

संफल नामक गृह में सातवीं, पहली, आठवीं और पांचवीं मूपाएँ होती हैं तथा वाम नामक वेश्म में दूसरी, पाँचवीं, सातवीं और आठवीं मूपाएँ समझनी चाहिएँ। जहाँ पर तीसरी, पाँचवीं, सातवीं और आठवीं हों उसको वर्धमानक कहते हैं। यह वैश्यों के लिए विशेप वृद्धिकारक बनाया गया है ॥१७०-१७३½॥

चौथी, पाँचवीं, आठवीं और सातवीं जिसमें हों उसे धावन कहते हैं ॥१७३½-१७३॥

सातवीं, आठवीं, छठी जहाँ पर होती हैं उसको मह या सहम कहते हैं

तथा दूसरी, सातवीं, छठी और आठवीं मूषाओं से युक्त चयन नामक गृह निष्पन्न होता है ।।१७४।।

छठी, आठवीं, दूसरी और सातवीं जिसमें हों उसको सेव्य कहते हैं और जहाँ चौथी, आठवीं, छठी और सातवीं हों उसको कल कहते हैं ।।१७५।।

सर्व कामना पूर्ण करने वाले तीर्ण नामक भवन में छठी, आठवीं, पाँचवीं और सातवीं मूषाएँ होती हैं और जहाँ पर आदि की पाँच मूषाएँ होती हैं वह कामनाओं को पूर्ण करने वाला कानल गृह कहलाता है ।।१७६।।

पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी तथा छठी मूषाएँ जहाँ पर होती हैं उसे लोलुप स्मृत किया गया है और जहाँ पर आदि की तीन, पाँचवीं तथा छठी हों उसको जिह्म कहते हैं ।।१७७।।

प्रगाल में पाँचवीं, छठी, चौथी, पहली और दूसरी होती हैं और सालिन नाम वाले वेश्म में पहली के सहित तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी होती हैं ।।१७८।।

जहाँ पर दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, तथा छठी हों वह जिन कहा जाता है और सुजय में सातवीं सहित पहिली चार होती हैं ।।१७९।।

विजय नामक घर में पाँचवीं, सातवीं, दूसरी, तीसरी, पहली होती हैं और जहाँ पर पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं और सातवीं हों उसका नाम याम है ।।१८०।।

जहाँ पर पहली, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, सातवीं हों उसको जय कहते हैं और ज्ञात संज्ञा वाले भवन में दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं, तथा सातवीं मूषाएँ होती हैं ।।१८१।।

पहली, तीसरी, छठी और सातवीं जहाँ पर हों उसको जप कहते हैं और पहली, दूसरी, चौथी, छठी, सातवीं मूषाओं से तप होता है। छठी, तीसरी, चौथी, सातवीं और पहली मूषाओं से युक्त जय कहलाता हैं। तीसरी, चौथी, छठी, सातवीं से वर नामक गृह होता है ।।१८२-१८३।।

जहाँ पर पहली दो और पाँचवीं, छठी तथा सातवीं हों, उसको चर या चार कहते हैं। चैत्य में सातवीं, छठी, पांचवीं, पहली और तीसरी मूषाएँ होती हैं ।।१८४।।

विरोध में दूसरी, तीसरी, पांचवीं, छठी और सातवीं होती हैं और सुप्रभ में चौथी, पांचवीं, छठी, सातवीं और पहली होती हैं ।।१८५।।

प्रभ नामक घर में दूसरी, चौथी, पांचवीं, छठी और सातवीं होती हैं और प्रतीक्षक में तीसरी, चौथी, पांचवीं, सातवीं और छठी होती हैं ।।१८६।।

पहले की चार और आठवीं जिसमें हों वह क्षमिण नामक गृह कहलाता है। पहली, दूसरी, तीसरी, पांचवीं और आठवीं जहाँ हों उसका युक्त नाम है ॥१८७॥

शान्त में दूसरी, चौथी, पांचवीं, पहली, आठवीं होती हैं और त्रैत नाम वाले मकान में पहली, तीसरी, चौथी, पांचवीं, आठवीं होती हैं ॥१८८॥

विनोद में दूसरी, तीसरी, पांचवीं, चौथी, आठवीं और सन्दोह में पहले की तीन और आठवीं तथा छठी मूपाएँ विहित हैं ॥१८९॥

पहली, दूसरी, चौथी, छठी और आठवीं से विप्रदोहक होता है और जिसमें छठी, आठवीं, तीसरी, चौथी और पहली हों उसको विद्रुत कहते हैं ॥१९०॥

दूसरी, तीसरी, चौथी, आठवीं और छठी जहाँ हों उसको सतत कहते हैं। तत में पहली, दूसरी, पांचवीं, छठी और आठवीं होती हैं ॥१९१॥

व्याकुल नामक गृह में पहली, तीसरी, पांचवीं, छठी और आठवीं होती हैं और लीन संज्ञा वाले वेश्म में दूसरी, तीसरी, पांचवीं, चौथी और छठी होती हैं। आलीन में चौथी, पहली, पांचवीं, छठी और आठवीं होती हैं और विचित्र में दूसरी, चौथी, पांचवीं, छठी और आठवीं होती हैं ॥१९२-१९३॥

लम्बन नामक गृह में पहले की चार और आठवीं मूपाएँ होती हैं और खर में आदि की तीन, आठवीं और सातवीं होती हैं ॥१९४॥

शेखर में सातवीं, चौथी, दूसरी, पहली और आठवीं और विबुध में आठवीं, चौथी, तीसरी, पहली और सातवीं। चैत्र नामक वेश्म में दूसरी, आठवीं, चौथी, सातवीं और तीसरी और व्यासक्त नामक वेश्म में पहली, दूसरी, पांचवीं, सातवीं और आठवीं रहती हैं ॥१९५-१९६॥

सम्पद नामक गृह में पहली, तीसरी, पांचवीं, सातवीं और आठवीं और पद में दूसरी, तीसरी, आठवीं, पांचवीं और सातवीं होती हैं ॥१९७॥

त्रिशिख में चौथी, पहली, पांचवीं, छठी और सातवीं और चतुर नामक घर में दूसरी, पांचवीं, आठवीं, चौथी और सातवीं होती हैं ॥१९८॥

प्रान्त नामक गृह में तीसरी, सातवीं, आठवीं, चौथी और पांचवीं और सुस्थित में पहली, दूसरी, सातवीं, छठी और आठवीं। दुःस्थित में छठी, पहली, चौथी और सातवीं और स्थित में दूसरी, आठवीं, सातवीं, तीसरी, छठी मूषाएँ होती हैं ॥१९९-२००॥

चक्र में छठी, आठवीं, चौथी, सातवीं और पहली मूपाएं बताई गई हैं और वक्र में दूसरी, सातवीं, छठी और आठवीं के साथ चौथी भी ॥२०१॥

लघ में आठवीं, तीसरी, सातवीं, चौथी और छठी और लाभ में

पांचवीं, छठी, पहली और आठवीं ।।२०२।।

सम्पर्क संज्ञा वाले गृह में दूसरी, पांचवीं, सातवीं, आठवीं और छठी और मूल नामक वेश्म में तीसरी, पांचवीं, छठी, सातवीं और आठवीं मूपाएँ होती हैं ।।२०३।।

अव्यय नाम वाले गृह में आठवीं, सातवीं, छठी, पांचवीं और चौथी मूपाएं होती हैं और जिस घर में पहले की छं मूपाएँ होती हैं उस गृह का नाम किन्नर है ।।२०४।।

जहां पर सातवीं के सहित पहले की पांच हों उस को कौस्तुभ कहते हैं और हर्म्य संज्ञा वाले मकान में पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, छठी, सातवीं मूपाएँ होती हैं ।।२०५।।

धार्मिक में सातवीं, पांचवीं, छठी, दूसरी तथा तीसरी मूपाएँ विहित हैं तथा निपध में दूसरी, चौथी, पांचवीं, छठी, पहली और सातवीं मूपाएँ मानी गयी हैं ।।२०६।।

वसु नामक घर वह होता है जिसमें तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी, सातवीं और पहली मूपाएँ हों और साटीक में तीसरी, चौथी, पांचवीं, दूसरी, छठी और आठवीं मूषाएँ हों ।।२०७।।

वामन नामक घर वह होता है जिस में आदि की पांच और सातवीं और गौर नाम वाले घर में पहली दूसरी, तीसरी, चौथी, छठी और आठवीं मूपाएँ होती हैं ।।२०८।।

अस्थिर नाम वाले घर में पहली, दूसरी, तीसरी, आठवीं, छठी और पांचवीं होती हैं और क्रमिण में तीसरी, चौथी, पांचवीं, पहली, छठी और आठवीं मूषाएँ मानी गयी हैं ।।२०९।।

खल में पहली, आठवीं, छठी, तीसरी, चौथी और पांचवीं तथा विवर में तीसरी, चौथी, पांचवीं, दूसरी, छठी और आठवीं होती हैं ।।२१०।।

बालिश नामक गृह में पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, सातवीं और आठवीं तथा धौम नामक धाम में पहली, आठवीं, दूसरी, तीसरी, सातवीं, पाँचवीं होती हैं । त्रिकुष्ट में दूसरी, चौथी, पांचवीं, सातवीं, पहली और आठवीं और मन्दिर में तीसरी, चौथी, पांचवीं, सातवीं, पहली और आठवीं मूपाओं का विधान है ।।२११-२१२।।

भव में दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं, आठवीं और सातवीं तथा शोक में पहली के साथ दूसरी, तीसरी, छठी, सातवीं और आठवीं मूषाएँ मानी गयी हैं ।।२१३।।

भास्वर में दूसरी, चौथी, छठी, सातवीं, पहली और आठवीं मूषाएँ कही गई हैं। ओप्य में तीसरी, सातवीं, आठवीं, छठी, चौथी और पहली मूषाओं का विधान है ॥२१४॥

लातव्य में दूसरीं, तीसरी, चौथी, आठवीं, छठी और सातवीं और सुम्वन में दूसरी, सातवीं, आठवीं, छठी, पांचवीं और पहली होती हैं ॥२१५॥

मख में तीसरी, पांचवीं, आठवीं, छठी, सातवीं और पहली और वाजि में दूसरी, तीसरी, सातवीं, आठवीं, छठी और पाँचवीं मूषाओं का विधान बताया गया है ॥२१६॥

नेत्र में पहली, चौथी, आठवीं तक, भ्रम में दूसरी, चौथी, पांचवीं, छठी सातवीं और आठवीं मूषाएँ मानी गयी हैं ॥२१७॥

घोष में तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी, सातवीं और आठवीं मूषाएँ होती हैं ॥२१८½॥

यदि पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी और सातवीं मूषाएँ हों तो उस निवेशन को भाण्डीर कहते हैं ॥२१८½-२१९½॥

जहां पर पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं, छठी और आठवीं मूषाएँ हों उस को वास्तु-विद्या-विशारद वैसन नामक गृह कहते हैं। जिस घर में पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं, सातवीं, आठवीं मूषाएँ हों उसका नाम प्रस्थ जानना चाहिए ॥२१९½-२२१½॥

पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, छठी, सातवीं और आठवीं मूषाएँ जिस में हों उस को प्रतान नामक मन्दिर कहते हैं ॥२२१½-२२२½॥

चौथी मूषा को छोड़ कर और सब मूषाओं से युक्त वासुल नामक वेश्म कहलाता है। कट नामक निवेशन में तीसरी मूषा छोड़ कर अन्य सब मूषाओं की योजना विहित है। दूसरी मूषा को छोड़ अन्य मूषाएँ जहां पर हों उसको लक्ष्मीवास उदाहृत किया गया है ॥२२२½-२२३॥

आदि को छोड़ कर अन्य मूषाओं से सुगन्धान्त और आठों मूषाओं से सर्वभद्रक होता है। इस प्रकार से एकभद्रादि अष्टभद्रान्त सब घर दिये गये। इन चतुःशालाओं वाले घर के भेदों को जो जानता है वह इस लोक में पूजा जाता है ॥२२४॥

निम्नोच्च आदि फल

घर में दरवाज़े से नियत, अग्र और पृष्ठ ये दो शब्द आते हैं। उनमें जहाँ से द्वार होता है उसको अग्र कहते हैं तथा पीछे के भाग को पृष्ठ कहते हैं ।।१।।

जिस घर में शाला, द्रव्य, आयाम, उदय और व्यास के विहित प्रमाण से अधिक होती हैं और यह आधिक्य चाहे वाम भाग में अथवा दक्षिण भाग में हो, आगे हो अथवा पीछे हो, तो द्रव्य के आधिक्य से भृत्य का नाश और आयाम के आधिक्य से कुल का नाश, ऊँचाई के आधिक्य से पूजा का नाश और विस्तार के आधिक्य से संतति का नाश माना गया है ।।२-३।।

जिस घर के दक्षिण की स्थल-भूमि बायीं ओर निम्न होती है तो वह वास्तु बहु-दोष-कारक माना जाता है तथा पुत्र, पौत्र का विनाशकारक समझा जाता है ।।४।।

जिस घर की वाम-स्थला भूमि दक्षिण की ओर नीची होती है तो प्रयत्न करने पर भी स्वामी के लिए अल्प फल ही देने वाली होती है ।।५।।

जहाँ पर पश्चिम से नीची भूमि होती है और आगे स्थूल होती है वहाँ पर सब वर्णों के लिए सर्व-मनोरथ-दायक गृह निर्मित होता है ।।६।।

जब अग्र भाग से नीचा, पृष्ठ भाग से ऊँचा घर होता है तो स्वामी के लिए शीघ्र ही विराग और व्यसन उपस्थित करने वाला होता है ।।७।।

इस दृष्टि से चार प्रकार का भवन कहलाता है—सच्छत्र, सकक्ष, सपरिक्रम और सप्रभ। वाह्योदक (बाहर जल वाला) सच्छत्र होता है और उभयोदक (दो तरफ़ से जल वाला) सकक्ष होता है। सपरिक्रम वह वेश्म है जो सावश्याय अर्थात् हमेशा नमी वाला होता है। आगे की ओर से अथवा पीछे की ओर से अथवा दोनों ओर से इनमें एक तरफ़ से भी अलिन्द होने पर वह घर सप्रभ कहा जाता है। इनके लक्षण अलग-अलग कहे गये हैं ।।८-१०।।

अग्रभाग में अथवा दक्षिण भाग से एक अलिन्द अवश्य बनाना चाहिये। यदि अग्रभाग में होता है तो राजा के लिए सुखकारक और यदि दक्षिण भाग में होता है तो धन की वृद्धि करता है ।।११।।

वाम भाग में पृष्ठ भाग से एक भी अलिन्द नहीं बनाना चाहिये क्योंकि

वाम भाग से अर्थ का नाश और पृष्ठ भाग से गृहस्वामी की मृत्यु उपस्थित होती है ॥१२॥

जिस घर के दोनों तरफ़ दो-दो अलिन्द होते हैं तो उसमें प्रवेश करने पर कुटुम्बियों के लिए वह धन-लाभ करने वाला होता है ॥१३॥

जिस घर के आगे और पीछे भाग में दो-दो अलिन्द होते हैं तो उस घर का मालिक धन धान्य और सौभाग्य को प्राप्त करता है ॥१४॥

जिस घर के अग्रभाग में अथवा दक्षिण भाग में हलक संज्ञक अलिन्द होता है उसका स्वामी राजाओं की कृपाओं तथा धन धान्य से वृद्धि को प्राप्त होता है ॥१५॥

यदि वाम भाग से और मुख भाग से 'हलक' अलिन्द का निर्माण किया जाता है तो राजा से दण्ड का भय उपस्थित होता है और मकान मालिक की पत्नी मर जाती है ॥१६॥

यदि दक्षिण अथवा पश्चिम की ओर से 'हलक' अलिन्द का विधान किया जाता है तो उत्कृष्ट वृद्धि और परम सौभाग्य प्राप्त होता है ॥१७॥

पीछे अथवा बाएँ भाग से यदि 'हलक' अलिन्द का निर्माण किया जाता है तो स्त्री-मृत्यु और दुर्भाग्य आपतित होते हैं ॥१८॥

पीछे, बाएँ, आगे अथवा दाएँ यदि अलिन्द का निर्माण होता है तो उसका क्रमशः फल कहता हूँ। पीछे स्त्री नाश, दक्षिण में धन लाभ, मुख भाग में राज-प्रसाद और बाएँ भाग में अर्थ-विनाश ॥१९-२०॥

जो वस्तु समाप्त होने पर सब तरफ़ से परिशोधित की जाती है तो वह स्वामी के लिये धन्य और स्थपति के लिए यशस्कर होती है। उसका कमाया हुआ धन बढ़ता है और राजा की लक्ष्मी के द्वारा भी वृद्धि होती है। धर्म और काम बढ़ते हैं, कीर्ति, आयु, यश और बल का निवास भी रहता है। नाच और बाजे और गायन से वहाँ पर नित्य आमोद हों तो वहाँ रोग नहीं दिखलाई पड़ता। लक्ष्मी सदैव वहाँ सन्निहित रहती है ॥२१-२३॥

वहां पर एक ही प्रकार की त्रिशालाओं का उपलक्षण नहीं करना चाहिए और उन सभी प्रकारों में याम्य (दक्षिण) एवं अपरोज्झित अर्थात् पश्चिम-वर्जित निन्द्य माने गये हैं क्योंकि एक में स्वामी की मृत्यु और दूसरे में धन का क्षय आपतित होता है। पूर्वोज्झित तथा उत्तरोज्झित धन्य माने गये हैं और इनकी संज्ञाओं का प्रकार निम्न है—

उत्तर, पूर्व, दक्षिण तथा पश्चिम से शाला-हीन भवन क्रमशः हिरण्य-नाभ, सुक्षेत्र, चुल्ली और पक्षघ्न नामों से प्रसिद्ध होते हैं ॥२४-२६॥

अलिन्दों का विनियोग यथाप्रतिपादित अथवा यथेच्छ समझें। इस दृष्टि से दो शालाओं वाले वेश्मों की क्रमशः छै संज्ञाएँ अब बताई जाती हैं—

दिशाओं के कोनों पर दो शालाओं को अन्य कर्णों अर्थात् दूसरी दिशाओं में दो शालाओं वाले भवनों की व्यवस्था करनी चाहिये और सम्मुख में दो को एकत्रित करना चाहिये। इस तरह से इन छहों का उपलक्षण करना चाहिये ॥२७-२८॥

दक्षिण और पश्चिम वाला द्विशाल भवन सिद्धार्थ नाम वाला भवन होता है। वहाँ पर सब अर्थों की सिद्धि होती है। उत्तर और पूर्व की ओर द्विशाल भवन यमसूर्य के नाम से पुकारा जाता है और वहाँ सदैव मृत्युभय रहता है। पूर्व तथा उत्तर की ओर द्विशाल भवन दंड के नाम से पुकारा जाता है। वहाँ पर सदैव दंड रहता है। पूर्व और उत्तर की ओर वात संज्ञक वास्तु होता है। वह कलह-कारक होता है ॥२९-३०॥

उत्तर दक्षिण के सामुख्य यदि दो शालाओं वाला वास्तु विनिर्मित होता है तो वहाँ पर सदैव ज्ञाति-विरोध उपस्थित रहता है। अतः इस प्रकार का निर्माण कभी नहीं करना चाहिये ॥३१॥

पूर्व और पश्चिम के सामुख्य में चुल्ली नामक वास्तु निर्दिष्ट किया गया है। वहाँ घोर धन-नाश होता है। इसलिए उसे कभी नहीं बनवाना चाहिये ॥३२॥

प्राकार-वर्ती तीन शालाओं से निकटवर्ती चार शालाएँ जब होती हैं तो इन सात शालाओं में 'मणिच्छन्द' नामक विशेष निर्माण स्मृत किया गया है और भी इसी प्रकार के तीन कहे गये हैं—प्रान्त; परिधान और सपक्ष ॥३३-३४॥

जहां पर दोनों शालाएँ एक ही दीवाल में होती हैं तो उसे गृह-संघट्ट नामक निर्माण कहते हैं। उसे कभी नहीं बनाना चाहिये क्योंकि वह बन्ध, दोष और मृत्यु देने वाला होता है ॥३५॥

इस प्रकार से उच्च और नीच गृह-भाग का फल बताया गया और इसमें अलिन्दों का भी शुभ और अशुभ फल बताया गया है। दो और तीन शालाओं वाले घरों का जो लक्षण है वह भी साधारण रूप से बताया गया है और दो अवयवों के योग से होने वाला लक्षण भी अच्छी तरह बता दिया गया है ॥३६॥

त्रिशाल-भवन

अब बहत्तर संख्या वाले त्रिशाल-भवनों की संज्ञाएँ और उनके अलग-अलग सम्पूर्ण लक्षण बताये जाते हैं ।।१।।

उन में से चार मुख्य हैं जिनके नाम हैं—१. हिरण्यनाभ २. सुक्षेत्र, ३. चुल्ली तथा ४. पक्षघ्न ।।२।।

हिरण्यनाभ उत्तर शाला से हीन यदि हो तो उत्कृष्ट कहा गया है। वह मालिक के लिए धनप्रद्र होता है । सुक्षेत्र पूर्वशाला से हीन होने पर मालिक के लिये ऋद्धि एवं वृद्धिदायक होता हे। चुल्ली दक्षिण शाला से हीन वित्त का नाश करने वाली कही गई है। पश्चिम शाला से हीन पक्षघ्न वैर करने वाला और कुल-नाशकारी होता है ।।३-५।।

इनके अलिन्दों के योग से और लघुप्रस्तार के योग से और मूपाम्रों के योग से अलग-अलग १८ भेद होते हैं—१. जाम्बूनद २. हिरण्य ३. रुक्म ४. हेम ५. कनक ६. कांचन ७. स्वर्ण ८. सुवर्ण ९. संताप १०. सार ११. चामीकर १२. तपन १३. तापनीय १४. शातकुम्भ १५. हरिण्यनाम १६. कल्याण १७. भूपण १८. भूतिभूषण—ये अठारह हिरण्यनाभ के भेद होते हैं। ।।६-९½।।

१. नाग २. सूर्यप्रभ ३. मत्तवारणक ४. केसरी ५. वासव ६. इन्द्र, ७. हरि ८. हंस ९. सारस १०. कुञ्जर ११. तोयद १२. मेघमाल १३. धारासार १४. महोदर १५. कर्दम १६. प्रकर १७. धान्यपूरक तथा १८. सुक्षेत्र—ये १८ भेद सुक्षेत्र के भेद हुए ।।९½-१२½।।

अब चुल्ली के भेदों को कहता हूँ—१. भुजंगम २. निर्जीव ३. विहंग ४. नकुल ५. पन्नग ६. शतच्छिद्र ७. सर्प ८. कोप ९. भगन्दर १०. उद्वेजन ११. सन्यास १२. निष्तोप १३. करुणानन १४. वारण १५. दारण १६. चुल्ली १७. ककुद १८. कन्दर—ये अठारह भेद चुल्ली-संज्ञा वाले त्रिशाल भवन-भेद हैं ।।१२½-१५½।।

अब पक्षघ्न से सम्बन्धित घरों के नाम कहता हूँ—१. राक्षस २. ध्वान्त-संहार ३. देवारि ४. सुरदारुण ५. घोपण ६. व्याघ्र ७. शार्दूल

८. शोपण ९. विशोपण १०. मत्तद ११. निरानन्द १२. शाकुन १३. विघ्न १४. निर्घृण १५. रिपुसंहृद १६. पक्षघ्न १७. सुतघ्न १८. वैरिपूरण—ये अठारह भेद क्रमशः पक्षघ्न के हुए ।।१५½-१८½।।

हिरण्यनाभ के भेदों में जाम्बूनद नामक त्रिशाल-भवन बड़ा धन्य है। यह आदि की चार मूपाओं से उपलक्षित कहा गया है ।।१८½-१९½।।

जहाँ पर पहली, दूसरी, तीसरी, पाँचवीं मूपाएँ हों वह शुभ गृह हिरण्य नामक त्रिशाल भवन कहलाता है ।।१८½-१९।।

सोने को देने वाला स्वर्णिम रुक्म गृह पाँचवीं, पहली, दूसरी और चौथी मूपाओं से युक्त होता है और जहाँ पर पहली, तीसरी, चौथी, पाँचवीं हों उसकी हेम संज्ञा कही जाती है ।।२०।।

सुवर्ण-विपुल, कनक नामक गृह दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं मूपाओं से निष्पन्न होता है और कांचन-प्रद काँचन नामक गृह पहली, दूसरी, तीसरी और छठी मूपाओं से युक्त होता है ।।२१।।

स्वर्ण की वृद्धि करने वाला स्वर्ण नामक गृह पहली, दूसरी, चौथी और छठी मूषाओं से युक्त कहा गया है और सुवर्ण गृह पहली, तीसरी, चौथी और छठी से युक्त माना गया है ।।२२।।

ताप को शान्त करने वाला सन्ताप नामक गृह दूसरी, तीसरी, चौथी और छठी से और जहाँ पर पहली, दूसरी पाँचवीं और छठी हों उसको सार नामक उत्तम गृह कहा गया है ।।२३।।

तीसरी, छठी, पहली और पाँचवीं से चामीकर नाम का उत्तम गृह बताया गया है और तपन नाम का घर दूसरी, तीसरी, छठी, पाँचवीं मूपाओं से युक्त होता है ।।२४।।

छठी, चौथी, पहली और पाँचवीं से तापनीय नामक गृह उदाहृत किया गया है और शातकुम्भ नामक गृह दूसरी, छठी, पाँचवीं और चौथी मूपाओं से होता है ।।२५।।

हिरण्यनाभ तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी मूपाओं से निर्मित कहा गया है और कल्याण पहली, तीसरी, चौथी, पाँचवी और छठी से कहा गया है ।।२६।।

छठी, पांचवीं, दूसरी, तीसरी और चौथी मूपाओं से भूषण संज्ञक गृह होता है और भूतिभूपण पहली, दूसरी, तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी से होता है ।।२७।।

अब सुक्षेत्र के भेदों के लक्षणों को कहता हूँ। जहां पर पहली, दूसरी,

तीसरी, चौथी मूषाओं से मन्दिर का निर्माण हो उसका नाम नाग है ॥२८॥

जहां पर पहली, दूसरी, तीसरी, पांचवीं हों उसको सूर्यप्रभ कहते हैं और जहां पर पहली, दूसरी, चौथी और पांचवीं हों उस की संज्ञा मत्तवारण है ॥२९॥

जहां पर पहली, तीसरी, चौथी, पांचवीं हों उसको केसरी कहते हैं। और वासव पांचवीं, चौथी और दूसरी मूषाओं से उपलक्षित कहा जाता है ॥३०॥

छठी, पहली, तीसरी और दूसरी मूषाओं से इन्द्र ईरित किया गया है। हरि संज्ञा वाले भवन को पहली, दूसरी, चौथी और छठी मूषाओं से उदाहृत किया गया है ॥३१॥

हंस संज्ञक निवेशन पहली, तीसरी, चौथी और छठी से होता है और सारस नामक गृह छठी, दूसरी, तीसरी चौथी से बनता है ॥३२॥

पहली, दूसरी, पांचवीं और छठी मूषाओं के योग से कुंजर होता हैं और तोयद नाम का गृह पहली, तीसरी. पांचवीं और छठी से जानना चाहिये ॥३३॥

मेघमाल तीसरी, छठी, पांचवीं और दूसरी से उपलाक्षित है। चौथी, पांचवीं, छठी तथा पहली मूषाओं से धारासार नामक भँवन उपलक्षित होता है ॥३४॥

दूसरी, चौथी, पांचवीं और छठी से महोदर स्मृत किया गया है और कर्दम नाम का जयशील गृह छठी, पांचवीं, तीसरी, और चौथी मूषाओं से विहित होता है ॥३५॥

घनप्रद सुक्षेत्र छठी, पांचवीं, चौथी, तीसरी और पहली से होता है और ऋद्धिदायक प्रकर नामंक गृह दूसरी, तीसरी, छठी, पांचवी और चौथी से निष्पन्न होता है ॥३६॥

पहले की छै मूषाओं से धान्यपूरक जानना चहिए। इस तरह से सुक्षेत्र नामक मुख्य गृह के ये १८ भेद बताये गये हैं ॥३७॥

भुजंग पहली, दूसरी और चौथी मूषाओं से होता है और निर्जीव नाम का निवेशन पहली, पांचवीं, तीसरी, दूसरी से कहा गया है ॥३८॥

विहंगम पहली, दूसरी, पांचवीं और चौथी से होता है और नकुल को पांचवीं, पहली, तीसरी और चौथी से कहते हैं ॥३९॥

पन्नग नाम वाला गृह पांचवीं, दूसरी, तीसरी और चौथी से कहते हैं और शतच्छिद्र नाम का गृह छठी, पहली, तीसरी, दूसरी से होता है ॥४०॥

सर्प पहली, दूसरी, चौथी, और छठी से कहा जाता है और कोप पहली तीसरी, छठी और चौथी से संकीर्तित किया गया है ॥४१॥

भगन्दर नाम का वेश्म छठी, चौथी, तीसरी और दूसरी से होता है और उद्वेजन पहली, दूसरी, पांचवीं और छठी से उदाहृत किया गया है ॥४२॥

सन्यास नाम का अधम गृह पहली पांचवीं, तीसरी और छठी से होता है और निष्तोष को दूसरी, तीसरी छठी और पांचवीं से कहा जाता है ॥४३॥

करुणानन को चौथी, पहली, पांचवीं और छठी से कहा जाता है और मुखवारण वारण नामक गृह दूसरी, चौथी, पांचवीं और छठी मूपाओं से अभिहित होता है। श्रीविदारण दारण नामक गृह तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी मूपाओं से होता है ॥४४-४५½॥

चुल्ली पहली, तीसरी, चौथी, पांचवीं और छठी मूपाओं से वित्तनाशन (गृह) कहलाता है ॥४५½-४५॥

ककुद नाम का घर छठी, पांचवीं, दूसरी और तीसरी से होता है और कंदर नाम का अधम गृह छठी, चौथी, पांचवीं, तीसरी, दूसरी और पहली मूपाओं से होता है ॥४६॥

अब पक्षघ्न नामक तृतीय मुख्य गृह के १८ भेदों को कहा जाता है। उन में पहला राक्षस नामक गृह पहली, दूसरी, तीसरी और चौथी मूपाओं से कहा गया है ॥४७॥

ध्वान्त-संघात नामक गृह पांचवीं, पहली, दूसरी और तीसरी से ईरित किया गया है और देवारि पांचवीं, पहली, दूसरी और चौथी से कहा जाता है ॥४८॥

देवदारुण को पहली, तीसरी, पांचवीं और चौथी मूपाओं से जानना चाहिये तथा दुःखघोषण नामक गृह पांचवीं, तीसरी, दूसरी और चौथी मूपाओं से होता है ॥४९॥

व्याघ्र नामक गृह छठी, पहली, दूसरी और तीसरी से कहा जाता है तथा शार्दूल नामक निवेश पहली, दूसरी, चौथी और छठी से होता है ॥५०॥

पुत्र-शोषण शोषण नामक गृह पहली, तीसरी, चौथी और छठी से होता है तथा विशोषण नामक गृह छठी, चौथी, दूसरी और तीसरी मूपाओं से जाना जाता है ॥५१॥

मलद नामक घर पहली, दूसरी, पांचवीं, और छठी से तथा गिरानन्द नामक वेश्म पहली, तीसरी, पांचवीं और छठी से युक्त कहा जाता है ॥५२॥

शाकुन नामक गृह पांचवीं, छठी, दूसरी और तीसरी से तथा विघ्न-वर्धन विघ्न नामक गृह पहली, चौथी, पांचवीं और छठी मूषाओं से युक्त होता है ॥५३॥

असौख्यकारी निघृंण नामक गृह छठीं, चौथी, पाँचवीं और दूसरी से कहा गया है तथा रिपुसंहृद तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी मूषाओं से युक्त होता है ॥५४॥

सुत-नाशन पक्षघ्न गृह छठी, पाँचवीं, चौथी, तीसरी और पहली से तथा सुत-सूदन सुतघ्न नामक गृह दूसरी, तीसरी, चौथी, पाँचवीं और छठी से होता है ॥५५॥

जहाँ पर छठी, पाँचवीं, दूसरी, तीसरी और चौथी और पहली मूषाएँ हों उसे वैरिपूरण कहते हैं। इस प्रकार मे पक्षघ्न के क्रमशः ये १८ भेद हुए ॥५६॥

तीन शालाओं वाले घरों में पहले की चार मूषाएँ बाहर होनी चाहिएँ न कि बीच में तथा पहली और दूसरी के बिना तीन शालाओं वाला घर पंचभद्र कहलाता है। बाहरी क्रम को त्याग कर इस प्रकार से तीन शालाओं वाले घरों को विधि बताई गई है और इस प्रकार से चारों हिरण्यनाभ आदि निकेतनों के, पूर्ण रूप से उपदिष्ट प्रत्येक के १८-१८ भेदों से, बहत्तर प्रकार बताये गये ॥५७-५८½॥

टि०—त्रिशाल-भवन के रेखाचित्र पृष्ठ १४६ पर देखिये।

अध्याय २७

द्विशाल-भवन

द्विशाल-भवनों अर्थात् दो शालाओं वाले घरों की बावन संख्या है। उनमें से शुभ भी हैं और अशुभ भी हैं। अब उनके लक्षणों को क्रमशः कहते हैं ॥१॥

सिद्धार्थ, यमसूर्य, दंड, वात, चुल्ली, काच—ये दो शालाओं वाले घरों के मुख्य छे भेद हैं ॥२॥

छोटे प्रस्तार के योग से, मूपाओं के भेद-क्रम से और भेदाभेद-क्रम से अनेक भेदों से ये घर भिन्न-भिन्न होते हैं और निलीन-कर्णों से, वीथिकाओं और अलिन्दों के मार्गों से, प्राग्रीवादि के विधान से, दो शालाओं के विपर्यय से संक्षेप रूप से यथासम्भव वर्णन करता हूँ क्योंकि मूपाओं का निर्वाह सुशक है परन्तु मंज्ञाओं का निर्वाह सुशक नहीं। छन्द (पताकादि षट्छन्द जिनमें यहाँ पर उद्दिष्ट तथा नष्ट से अभिप्राय है), गुण, रूप आदि प्रस्तारों से अशुभ और शुभ निकाले जाते हैं। ये सब राजाओं, वर्णियों तथा लिङ्गियों के हित के लिये कहे गये हैं ॥३-६॥

जिस घर में हस्तिनी और महिषी ये दो शालाएँ हों उसे सिद्धार्थ नामक गृह समझना चाहिये ॥७॥

महिषी और गावी शालाओं से मृत्यु देने वाला यमसूर्यंक गृह कहलाता है तथा दंड-भय देने वाला दंड नाम वाला गृह छागली और गावी इन दो शालाओं से होता है ॥८॥

उद्वेगकारक वात नामक गृह हस्तिनी और छागली शालाओं से युक्त होता है। धन का अपहरण उपस्थित करने वाली और उद्वेग करने वाली चुल्ली नामक वेश्म महिषी और अजा इन दो शालाओं से युक्त होता है। मित्र की प्रीति का विनाश करने वाला काच नामक गृह करेणु और गावी नामक शालाओं से युक्त होता है। द्विशाल-भवनों में एक ही मूपा अथवा अमूपा (निर्मूपा) नहीं करनी चाहिए ॥९-१०॥

काच और चुल्ली के सब अथवा तीन मूपाओं के व्यत्यास से (उलट-फेर के कारण), संक्षिप्त प्रस्तार के योग से पहले के चार भेद होते हैं। उनके प्रत्येक के ग्यारह-ग्यारह भेद होते हैं और शेष दो के चार-चार भेद होते हैं

और उनमें हर एक में दो-दो कमरे होते हैं ॥११-१२॥

यह यहाँ पर स्मरणीय है कि इन सभी प्रधान भेदों में मूषा-भेद का निर्वहण अथवा अनिर्वहण ही इनके भेद का कारण होता है ॥१३½॥

सिद्धार्थ-भेद—पहला भेद वसुधार फिर सिद्धार्थक, कल्याणक, शाश्वत, शिव, कामप्रद, श्रीद, शान्त, निष्कलंक, धनाधीश, कुबेरक—इस प्रकार से सिद्धार्थ के क्रमशः ग्यारह भेद हुए ॥१३½-१५½॥

यमसूर्य-भेद—संहार, यमसूर्य, काल, वैवस्वत, यम, कराल, विकराल, कवंध, मृतक, शव तथा महिष ये यमसूर्य के ग्यारह भेद हुए ॥१५½-१६॥

दण्ड-भेद—प्रचंड, चंड, दंड, उद्दंड, कांड, कोटर, विग्रह, निग्रह, धूम्र, निर्धूम, दन्तिदारुण ये दंड और भय देने वाले दो शालाओं वाले दंड नामक भवन के ग्यारह भेद हुए ॥१७-१८½॥

वात-भेद—मरुत, पवन, वात, अनिल, प्रभञ्जन, घनारि, अम्बुद-विध्वंसि, प्रलय, कलह, कलि और कलि-चुल्ली—ये उद्वेगकर वात के भेद हैं ॥१८½-१९॥

चुल्ली-भेद, काच-भेद—रोग, चुल्ली, अनल, भस्म—ये चुल्ली के चार भेद हुए। काच के छल, काच, कुलघ्न (अथवा कुलह) और विरोधि—ये चार भेद हुए ॥२०॥

दो शालाओं वाले मकानों के ये बावन भेद हुए। पहले चार के ग्यारह और आखरी दो के चार-चार हैं। अब इनके पृथक् पृथक् लक्षणों को कहते हैं ॥२१॥

पहली और दूसरी धनप्रद मूषाओं को वहन करने वाला सर्वार्थ-सिद्धक वसुधार नामक गृह होता है ॥२२॥

जिसमें पहली और तीसरी मूषाएँ हों वह सिद्धार्थक कहलाता है। दूसरी और तीसरी मूषाओं को वहन करता हुआ सब उपद्रवों से रहित सिद्धि करने वाला, चिन्तित अर्थों को देने वाला, ऋद्धिकारी कल्याण नामक घर कहलाता है ॥२३-२४½॥

पहली और चौथी मूषाओं से युक्त सारस्वत नामक उत्तम गृह कहलाता है ॥२४½-२४॥

दूसरी और चौथी मूषाओं से युक्त सुखप्रद शिव नामक गृह होता है तथा चिन्तित मनोरथों को देने वाला कामद नामक गृह तीसरी और चौथी मूषाओं से युक्त होता है ॥२५॥

गृह-स्वामी के लिये शान्ति एवं सुख प्रदान करने वाला श्रीप्रद नामक

वेश्म पहले की तीन मूषाओं से उपलक्षित होता है और शान्ति-प्रदायक शान्त नामक घर पहली, दूसरी और चौथी से युक्त होता है ॥२६॥

समृद्धि देने वाला निष्कलंक पहली, तीसरी और चौथी से तथा धन-वर्धन करने वाला धनेश दूसरी, तीसरी और चौथी मूषाओं से उपलक्षित होता है। धन की वृद्धि करने वाला कुबेर पहले की चारों मूषाओं से युक्त होता है ॥२७-२८½॥

अब यमसूर्य के प्रभेदों के लक्षण और फल कहता हूँ ॥२८½-२८॥

स्वामी का नाश करने वाला संहार नामक वेश्म पहली और दूसरी मूषाओं से युक्त होता है तथा मृत्यु देने वाला यमसूर्यक गृह पहली और तीसरी से ॥२६॥

स्त्री का विनाश करने वाले काल नामक घर में दूसरी और तीसरी मूषाएँ होती हैं तथा रोग-कारक वैवस्वत चौथी और पहली मूषाओं का वहन करता है ॥३०॥

स्वामी को यम-दर्शन कराने वाला यमालय नामक गृह दूसरी और चौथी से तथा स्वामी के प्राण का विनाश करने वाला कराल तीसरी और चौथी मूषाओं से युक्त होता है ॥३१॥

स्वामि-नाशन विकराल नामक गृह पहले की तीन मूषाओं से युक्त होता है और भर्तृनाशन कबन्ध नामक गृह पहली, दूसरी और चौथी मूषाओं से उपलक्षित कहा गया है ॥३२॥

मालिक को मारने वाला मृतक नामक आलय पहली, तीसरी और चौथी से, मालिक को मरण देने वाला शव नामक गृह दूसरी, तीसरी और चौथी से और स्वामी को मारने वाला महिष पहली चारों मूषाओं से उपलक्षित कहा गया है ॥३३-३४½॥

दंड नामक दो शालाओं वाले मकान के भेदों में प्रचण्ड नामक गृह पहली और दूसरी मूषाओं से युक्त कहा गया है। इसे आदि में मालिक के लिए राजभय देने वाला घर समझना चाहिये। प्रचण्ड दंड का भय उपस्थित करने वाला चंड नामक गृह पहली और तीसरी मूषाओं से युक्त होता है ॥३४½-३५॥

राजदंड के लिए दारुण दंड नामक गृह दूसरी और तीसरी मूषाओं से युक्त होता है और स्वामी के लिये दंड तथा भयकारक उद्दण्ड नाम का घर पहली और चौथी मूषाओं से युक्त कहा गया है। काण्ड के समान भेद-कारक काण्ड नामक वेश्म दूसरी और चौथी से तथा स्वामी के लिये विग्रह उपस्थित करने वाला कोटर नामक गृह तीसरी और चौथी मूषाओं से युक्त होता है ॥३६-३७॥

वध और बन्धन देने वाला विग्रह पहली, दूसरी और तीसरी मूषाओं से; विग्रह-कारक निग्रह नामक गृह पहली, दूसरी और चौथी मूषाओं से बनता है ॥३८॥

सब धन का नाश करने वाला धूम्र नामक गृह पहली, तीसरी और चौथी मूषाओं से विनिर्मेय है। दूसरी, तीसरी और चौथी मूषाओं से निर्धूम बनता है जो धन-नाशक कहा गया है ॥३९॥

धन का हरण करने वाला दन्ति-दारुण पहले की चारों मूषाओं से युक्त कहा गया है ॥४०½॥

अब वात नामक मुख्य द्विशाल गृह के भेदों में मरुत संज्ञा उस मन्दिर की होती है जिसमें पहली और दूसरी मूषाएँ हों वहां पर बसने वालों में सदा लड़ाई रहती है ॥४०½-४१½॥

तीसरी और पहली मूषाओं से उपलक्षित उद्वेगकारक पवन नामक घर कहा गया है ॥४१½-४१॥

सदा संताप-कारक वात नामक मकान दूसरी और तीसरी मूषाओं से युक्त कहा गया है। संताप एवं उद्वासकारक अनिल नामक घर पहली और चौथी से युक्त कहा गया है; शोक एवं संतापकारक प्रभंजन दूसरी और चौथी से तथा उद्वेगकारक घनारि तीसरी और चौथी से ॥४२-४३॥

कार्य और अर्थ का नाश करने वाला रोग नामक गृह पहली और दूसरी तथा तीसरी मूषाओं से तथा चित्त में संताप उपस्थित करने वाला प्रलय पहली, दूसरी और चौथी से विहित है ॥४४॥

कलहकारी कलह नामक पहली, दूसरी और चौथी से और संताप-कारक कलि दूसरी, तीसरी और चौथी से ॥४५॥

धन का अपहरण करने वाली कलि-चुल्ली पहले की चार मूषाओं से युक्त होती है ॥४६½॥

चुल्ली के भेदों में शोक देने वाला रोग नामक गृह पहली और दूसरी मूषाओं से युक्त कहा गया है ॥४६½-४६॥

वित्त का विनाश करने वाली चुल्ली दूसरी और तीसरी से और अर्थ-नाशक अनल नामक निवेशन तीसरी और चौथी मूषाओं से उपलक्षित है ॥४७॥

स्वामी का वित्त-नाशक भस्म नामक गृह पहली और चौथी से युक्त होता है ॥४८½॥

काच के भेदों में छल नामक मन्दिर उत्तराभिमुखीन दो मूषाओं से

उपलक्षित होता है। यह नित्य बन्धुवर्ग के लिये अपमानकारी होता है। दक्षिण और उत्तर वाली मूषाओं का यदि पूर्व में वहन हो तो काच नाम का वेश्म सज्जनानन्दकारक होता है और दक्षिण की दोनों मूषाओं से तीनों कुलों का नाश करने वाला कुलह नामक घर कहा गया है। दक्षिण और उत्तर की मूषाओं का यदि पश्चिम में वहन हो तो विरोध नाम का वह वेश्म सब लोगों के लिए विरोधकारक होता है ॥४८½-५१॥

इस प्रकार से द्विशाल-भवनों के संक्षिप्त रूप में बावन भेद बताये गये और उनके मूषा-वहन और फल आदि का भी निर्देश किया गया। अब एक शाला वाले भवनों के सूचक उदाहरण दिये जाते हैं ॥५२॥

द्विशाल-भवन
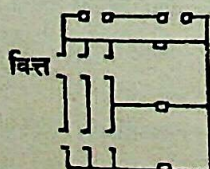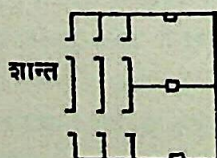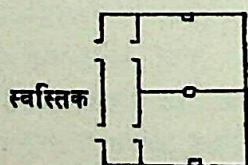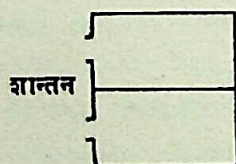
टि०—त्रिशाल, चतुश्शाल तथा पञ्चशाल भवनों के रेखाचित्र पृष्ठ १४६ पर देखिये।

एकशाल-भवन

अब एक शाला वाले घरों का लक्षण कहता हूँ। उनमें से कुछ पहले की तरह अनिन्दित और प्रशस्त कहे जाते हैं और कुछ निन्दित अर्थात् अप्रशस्त कहे जाते हैं ॥१॥

पहले की तरह चार यथावत् गुरुवर्णों का विन्यास करे अर्थात् प्रस्तार करे और इन्हीं से वेश्मों के १६ भेद प्रसूत होते हैं ॥२॥

गुरु के नीचे लघु का न्यास करे और शेष को ऊपर की तरह फिर गुरुओं से पूर्ण करते जाना चाहिये जब तक सब लघु न हो जावें ॥३॥

वास्तु-पण्डित लघु-स्थानों में अलिन्दों को समझें और इनको गृह के मुख से दाहिने तरफ़ विनियोजित करें ॥४॥

इन भवनों के अलिन्दों के संयोग से अलग-अलग नाम, गुण और दोष क्रमशः कहे जाते हैं ॥५॥

ध्रुव, धन्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुमुख, दुर्मुख, क्रूर, पक्ष, धनद, क्षय, आक्रन्द, विपुल और विजय ये १६* भेद हुए ॥६-७½॥

ध्रुव में जय प्राप्त होती है और धन्य में धान्य का आगमन होता है। जय से शत्रुओं पर विजय होती है, नन्द में सब समृद्धियां प्राप्त होती हैं। खर नाम का वेश्म आयासदायक होता है और कान्त में श्री प्राप्त होती है ॥७½-८॥

मनोरम में आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य और धन की सम्पदाएं और गृह के स्वामी की मनस्तुष्टि बताई गई है ॥९॥

सुमुख में राज्य-सन्मान, दुर्मुख में सदा कलह, क्रूर में व्याधि का भय और गोत्र वृद्धि करने वाला सुपक्ष नामक गृह होता है ॥१०॥

धनद में स्वर्ण एवं रत्न आदि के साथ-साथ गौओं को मनुष्य प्राप्त करता है और सर्वक्षय करने वाला घर क्षय कहा गया है तथा आक्रन्द स्वजातियों को मृत्युदायक कहा गया है ॥११॥

विपुल में आरोग्य और ख्याति तथा विजय में सब सम्पत्तियाँ प्राप्त होती हैं ॥११½॥

यदि धन्य में दूसरा भी मुखालिन्द प्रयुक्त किया जाए तो वह घर रम्य

---

* इनके रेखा-चित्र पृष्ठ ११४ पर देखिये।

नाम का होता है और वह स्वामी को सौभाग्यदायक होता है। दूसरे मुखालिन्द से योजना करने पर नन्द नाम का गृह श्रीधर की संज्ञा लेता है। उसमें लक्ष्मी सदैव निवास करती है। सुमुख के मुख में जब दूसरा अलिन्द विनिवेशित होता है तो उसे वर्धमानक कहते हैं और वह स्वामी की लक्ष्मी का वर्धन करने वाला कहा गया है ॥११½-१६½॥

दूसरे मुखालिन्द से युक्त क्रूर नामक मन्दिर कराल जानना चाहिये और उसका स्वामी विनाश को प्राप्त होता है ॥१६½-१७½॥

दूसरे अलिन्द से योजित किया गया फिर धनद नाम का गृह सुनाभ कहलाता है। उसमें उसका स्वामी पशुओं एवं पुत्रों को प्राप्त करता है ॥१७½-१८½॥

आक्रन्द के पुरोभाग में यदि दूसरा अलिन्द नियोजित किया जाता है तो उसको गृह-विद्या-विशारद ध्वांक्ष के नाम से पुकारते हैं और उसको निन्दित गृह बतलाते हैं ॥१८½-१९½॥

विजय के मुख में यदि दूसरी अलिन्द-घटना घटित होती है तो उसको समृद्ध कहा जाता है और वह पुण्य कर्मों का घर होता है ॥१९½-२०½॥

षड्दारु-योजना से अन्य भेद—ध्रुव आदि जो पहले सोलह वेश्म कहे गये हैं उनकी शालाओं का विभाग जान कर छे दारुओं का विन्यास करे तो उनके १६ और भेद होते हैं। उनके नाम क्रमशः निम्न हैं—सुन्दर, वरद, प्रमोद, भद्र, विमुख, शिव, सर्वलाभ, विशाल, विलक्ष, अशुभ, ध्वज, उद्योत, भीषण, शून्य, अजित, कुल-नन्दन—इन नामों से इन वेश्मों के गुणदोषों की प्रकल्पना करनी चाहिये २०½-२३॥

शाला के पुरोभाग-तिर्यक्-षड्दारु-संयोजना-भेद—विस्तार-भय से यथार्थ नाम वाले इन गृहों को संक्षेप में कहा गया है। इन्हीं से दूसरे अन्य १६ वेश्म उत्पन्न होते हैं और इनका कारण है—शालाओं के पुरोभाग में तिर्यक् छे दारुओं की विनियुक्ति। इनके नाम हैं—हंस, सुलक्षण, सौम्य, जयन्त, भव्य, उत्तम, रुचिर, संभृत, क्षेम, आक्षेम, सुकृत, वृष, उच्छ्रन्न, व्यय, आनन्द और सुनन्द। ये सोलह भेद परिकीर्तित किये गये हैं। इनके भी यथा नाम तथा गुण के हिसाब से गुणदोषों का निरूपण कर लेना चाहिये ॥२४-२७½॥

शाला-मध्य-विन्यस्त-षड्दारु-कल्पना-भेद—शालाओं के मध्य में टेढ़े-टेढ़े छे दारुओं का विनिवेशन कर ले और इस विनिवेशन में मर्मों का वेध छोड़ दे तो इन वेश्मों के भी दूसरे और सोलह भेद होते हैं जिनको क्रमशः समास अर्थात् संक्षेप से कहता हूँ। उनके भी जैसे नाम वैसे गुण और दोष

विभाव्य हैं। इनकी संज्ञाएँ हैं—अलंकृत, अलंकार, रमण, पूर्ण, अम्बर, पुण्य, सुगर्भ, ईप्सित, कलश, दुर्गत, रिक्त, सुभद्र, वन्दित, दीन, विभव तथा सर्वकामद ॥२७½-३०॥

शालान्त-विन्यस्त-षड्दारु-कल्पना-भेद—शालाओं के अन्त में स्थित षड्दारुओं के पश्चात् अपवरकों के निर्माण से वेश्मों के अन्य सोलह भेद निर्दिष्ट हुए हैं। वे हैं—प्रभव, भाविक, क्रीड़, तिलक, क्रीडन, सुख, यशोद, कुमुद, काल भासुर, सर्वभूषण, वसुधार, घनहर, कुपित, वित्तवृद्धि और कुलोदय। इनके भी गुण-दोष पहले के समान जान लेने चाहिएँ ॥३१-३३॥

यहाँ पर अनन्तर कहे गये वेश्मों के जो सोलह भेद हैं उनमें प्रत्येक में चारों दिशाओं में अलिन्दों का विनियोजन करना चाहिये। उनके भेदों से उत्पन्न भेदों का विधानपूर्वक अब वर्णन करते हैं। वे भेद हैं—चूड़ामणि, प्रभद्र, क्षेम, शेखर, अद्भुत, विकाश, भूतिद, हृष्ट, विरोध, कालपाशक, निराभय, सुशाल, रौद्र, मोघ, मनोरथ और सुभद्र। इन संज्ञाओं से ही घरों के गुणों का उपलक्षण करे। एक शाला वाले वेश्मों के इस तरह एक सौ चार भेद हुए और उनके संस्थानों एवं नामों का भी क्रमशः वर्णन हो चुका ॥३४-३८½॥

हस्तिनी, महिषी, गावी और छागली इनके क्रम से द्विपूर्व वाले वेश्मों के नामों को अब कहता हूँ—द्वि-हंसक, द्वि-चक्र, द्वि-सारस तथा द्वि-कोकिल। ये पण्डितों के द्वारा हस्तिनी आदि के क्रमशः संयोजन से निष्पन्न बताये गये हैं। पहले के तीन आयु, पशु और धान्य की वृद्धि के लिये कहे गये हैं और इन्हीं के नाश करने के लिये चौथा भेद द्वि-कोकिल कहा गया है ॥३८½-४१½॥

इस प्रकार से अलिन्द, षड्दारु, अपवरक, आवरण आदि भेद से एक शाला वाले भवन कहे गये और लक्षणों एवं फलों से इनकी संज्ञा भी कही गई और साथ ही साथ करिणी आदि शालाओं के दूसरे युग्मज अर्थात् जोड़े भी वर्णित किये गये हैं ॥४१½-४२॥

द्वार-पीठ-भित्ति-मान

कर्णशालाओं से निबद्ध बीच में स्थित मंडपों से खुले हुए आंगन (अजिर) वाले पन्द्रह हलक होते हैं—१. ईश्वर २. वृषभ ३. चन्द्र ४. रोग ५. पाप ६. भयप्रद ७. नन्दन ८. खादक ९. ध्वांक्ष १०. विकृत ११. विलय १२. क्षय १३. याम्य १४. विपरीत तथा १५. भद्रक । इन नामों से इन हलकों को यत्नपूर्वक वास्तु-कोविद समझ लें ॥१-३॥

अग्नि, राक्षस, अनिल, ईशान अर्थात् आग्नेय, याम्य, वायव्य तथा ऐशान्य कोणों के हलकों की क्रमशः एक, दो, तीन और चार नाम से प्रकल्पना करनी चाहिये । इसी क्रमयोग से छन्दोभेद भी होता है ॥४-५½॥

उनमें पहले हलक में ईश्वर नाम का गृह होता है । वह सब लक्षणों से युक्त एवं सब वृद्धियों तथा फलों का देने वाला कहा गया है ॥५½-६½॥

द्वितीय हलक से पुत्र और दारा का विवर्धन करने वाला घर वृषभ कहलाता है ॥६½-६॥

यदि गृह में पहला और दूसरा हलक होता है तो सर्व-लक्षण-युक्त मनुष्यों के लिये वृद्धिकारक चन्द्र नाम का घर होता है ॥७॥

जहाँ पर वायव्य हलक होता है वह रोग-विवर्धक रोग नाम का घर होता है ॥८½॥

यदि गृह में पहला और तीसरा हलक हो तो उस वास्तु को पाप कहते है और वह सब प्रकार के पापों का प्रयोजक होता है । वायव्य और पितृकोण से विनिविष्ट भयद नाम का घर रोग से मृत्युकारक बताया गया है ॥८½-९॥

पितृ तथा वायव्य (रोग) और अग्नि कोणों में नन्दन नाम का घर आदिष्ट किया गया है । यह शान्त, सुखद और अर्थप्रद हलक परिकीर्त्तित किया गया है ॥१०॥

चौथे हलक से ईशान कोण में खादक नामक गृह कहा जाता है । जब लांगलादि दूसरी शाला ईशान दिशा में होती है तो वह ध्वांक्ष नाम से दरिद्रों के लिये वास्तु-विनियोग में विहित है । पुनः लांगलक में दूसरी तथा चौथी शाला होवे तो उसको विकृत नाम का विकृतावास कहते हैं । इसमें वास करने से

कुटुम्ब वाला व्यक्ति प्रवास प्राप्त करता है ॥११-१३½॥

विलय नामक हलक गृह में पहली, दूसरी तथा चौथी शाला यदि निर्मित हों तो वह घर धननाशक तथा हानिप्रद कहलाता है। अथच ऐशानी दिशा में जब वायव्य हलक विनिर्मित होता है तो उसकी संज्ञा क्षय है और वह क्षयकारक कहा गया है। यदि हलक में आग्नेय, वायव्य, ऐशान्य कोणों में शाला विनियोजित हो तो उस हलक गृह की संज्ञा याम्य कही गई है और वह मृत्युकारक होता है। उसे कभी नहीं बनवाना चाहिये। मारुत, नैर्ऋत्य और ऐशान्य दिशाओं में यदि शाला के कोणों में लांगल होता है तो सब मनुष्यों के लिये नाशकारक, व्याधिकारक होकर विपरीत नाम का घर कहलाता है ॥१३½-१७½॥

जहाँ पर दक्षिण-मुख स्थित चार शालाएँ हलक में होती हैं वहाँ सर्व-मंगल-प्रयोजक भद्रक नामक भवन निष्पन्न होता है ॥१७½-१८½॥

घरों के दरवाज़ों की ऊँचाई और विस्तार तथा तल की ऊँचाई और पीठ का और दीवालों का विस्तार और गृहकर्म में लकड़ी का प्रयोग आदि जो एक शाला के विधान हैं उनके जो नाम हैं, उनका इस समय ठीक तरह से क्रमशः वर्णन करता हूँ ॥१८½-२०॥

पांच वर्गाधिप हैं—सोलह का समुदाय, बीस का समुदाय, चौबीस का समुदाय, अट्ठाईस का समुदाय, बत्तीस का समुदाय—ये पांच समुदाय वर्गाधिप माने गये हैं ॥२१-२२½॥

शाला के चतुर्थ भाग से दीवालों का विस्तार इष्ट माना गया है ॥२२½-२२॥

षोडश आदि पांचों वर्गों में दीवालों के चिह्नों को कह दिया गया है और जहाँ पर दीवाल, खम्भे और तुला आदि से मर्म पीड़ा होती है, मर्म की पीड़ा को त्यागते हुए वहाँ पर ह्रास अथवा वृद्धि करनी चाहिये। इसी प्रकार बुद्धिमान् जहाँ संक्षेप की आवश्यकता हो वहाँ संक्षेप करें तथा जहाँ विस्तार की आवश्यकता है वहाँ विस्तार करें ॥२३-२४॥

हीन भवनों में शाला-प्रवेशक अलिन्दक का निर्माण करना चाहिये। भूमि के भाग को बराबर करके चार भागों में उस ढीग या भिह को विभाजित करने पर तल से आधा उठा हुआ ऊपर से पीठ होता है। तदनन्तर पीठ-विनियुक्ति कर लेने पर वास्तु-विस्तार से प्रतिहस्त एक अंगुल समुद्धत कर सत्तर के साथ योजना करे। इस तरह से पांचों उक्त वर्गों में दरवाज़ों की ऊँचाई बताई गई है तथा आठवें अंश से छूटा हुआ ऊँचाई के आधे से वैपुल्य (चौड़ाई) होता है और द्वार के विस्तार के बाद अंश से पट्ट-विस्तार इष्ट होता है। विस्तार के आधे

भाग के साथ तल के ऊपर बाहुल्य जानना चाहिये और इस तरह शाखा-वश स्थापत्य-पंडितों को आगे-आगे वैपुल्य करना चाहिये ।।२५-२६।।

वेदी के विस्तार-बाहुल्य के विहित हो जाने पर और दोनों शाखाओं के विहित हो जाने पर द्वार-विस्तार के चौथे अंश से मूल में खम्भे का विस्तार कहा गया है ।।३०।।

दश भाग से विहीन अग्रभाग में स्तम्भों के बराबर पट्ट कहा गया है और स्तम्भ के अग्रभाग से तीसरे भाग से पट्टकोटि का विधान किया गया है ।।३१।।

स्तम्भ के अग्रभाग के चौगुने विस्तार से हीरकग्रहण होता है और इसी तरह व्यास और वाहुल्य से अन्य-अन्य पट्टों की उद्भावना करनी चाहिए ।।३२।।

पट्टकोटि का अर्धभाग उत्सेध के आधे भाग से निकला हुआ तंत्रक का प्रमाण होता है, यह शास्त्रज्ञों ने वताया है ।।३३।।

इसके पर और अपर के विभाग से ऊपर द्रव्यों को पट्टकोटि के चौथे भाग से घटा देवे ।।३४।।

पूर्व द्वार वाला जो घर होता है और जिसका द्वार महेन्द्र संयुक्त होता है और जिसकी शाला हस्तिनी होती है उस घर की संज्ञा भद्र है। यह भद्र स्वामी का कल्याणकारी, यश और बल का विवर्धन करने वाला होता है और इस घर में वसने वाले के सब कार्य सिद्ध होते हैं ।।३५-३६।।

जिस वेश्म का मुख दक्षिण की तरफ़ होता है, उसका द्वार गृहक्षत होता है तथा उसकी शाला महिषी होती है, उस घर को नंदपीठक के नाम से पुकारते हैं। यह नंदपीठ नाम का घर मनुष्यों के लिए नित्य आनन्दकारक बताया गया है। यह अखिल सम्पदाओं एवं गुणों से युक्त और धन-धान्य का विवर्धक बताया गया है ।।३७-३८।।

पश्चिम की तरफ़ मुख वाला और कुसुम नामक द्वार वाला जो घर होता है और जिसकी शाला गावी होती है उसको पण्डित लोग सौरभ के नाम से पुकारते हैं। इस सौरभ में बसने वाले गृहस्थों को सदैव प्रसन्नता, सफलता, कृषि एवं वाणिज्य तथा आज्ञाकारी पुत्र होते हैं ।।३९-४०।।

उत्तर की ओर मुख वाला और जिसका द्वार भल्लाट संयुत हो तथा जिसकी शाला छागली हो, उसे पुष्कर नाम से पुकारते हैं। इस पुष्कर नामक मकान में रहने वाला व्यक्ति शीलवान्, नित्य-सन्तुष्ट, सुहृदों एवं सुजनों का वत्सल होता है तथा वह सौभाग्यशाली, बहु-पुत्र एवं धन से युक्त कहा जाता है ।।४१-४२।।

भद्र, नन्दपीठ, सौरभ और पुष्कर प्रथम वर्ग के पहले आधे में प्रयुक्त

करे। सर्वभद्रादिक जो सब निवेश बताये गए हैं वे पाँचों विमानों से पाँच-पाँच करके उत्पन्न होते हैं ॥४३-४४॥

मन्दिरों में द्वार का, पीठ का, दीवाल का क्रमशः प्रमाण बतलाया गया है। उसी प्रकार से दारुकला और हीन-वास्तु का सम्पूर्ण लक्षण भी बता दिया गया है ॥४५॥
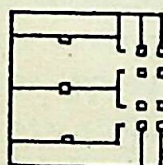
अध्याय ३०
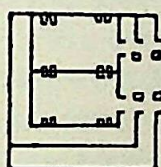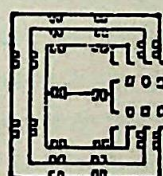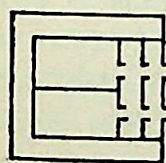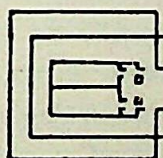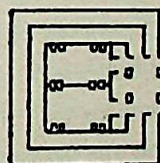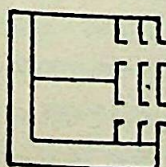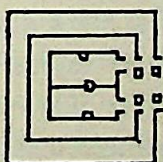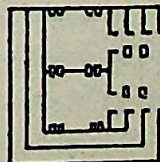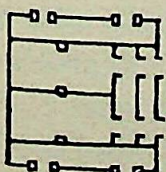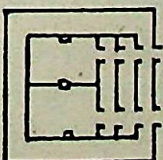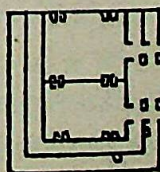
समस्त-गृह-संख्या

पंचशाल—अब पांच शालाओं वाले वेश्मों के लक्षण कहे जाते हैं। उनकी संख्या १०२४ है ॥१॥

दश संख्या वाले गुरुओं के प्रस्तार की कल्पना से पाँच शालाओं वाले मकानों के लघु विभाग से भेद कहे गये हैं ॥२॥

द्विशाल और त्रिशाल घरों के योग से पंचशाल घर बनता है अथवा चतुःशाल और एकशाल गृहों के योग से पंचशाल बनता है ॥३॥

यह पंचशाल गृह चारों वर्णों के लिये प्रशस्त कहा गया है। चारों वेश्मों के हिरण्यनाभ-प्रभृति सिद्धार्थ आदि के समायोग से आठ घर निष्पन्न होते हैं। हिरण्यनाभ के साथ सिद्धार्थ का योग होने पर हेमकूट नामक घर होता है। वात के साथ इसी का योग होने पर स्वर्णशेखर होता है, सुक्षेत्र का सिद्धार्थ के संयोग होने से श्रियावह नामक घर होता है और उसी का यमसूर्य के साथ संयोग होने पर महानिधि नामक वेश्म बताया जाता है। चुल्ली का यम-सूर्य के साथ संयोग होने से सदादीप्त उत्पन्न होता है और उसका दंड-संयोग से चित्रभानु नाम पड़ता है। पक्षघ्न का दंड के साथ संयोग होने पर सदादोष विनिर्दिष्ट होता है और पक्षघ्न को ही वात के साथ संयोग होने पर निर्विघ्न कहा जाता है और काच और चुल्ली का संयोग त्रिशालों में प्रशस्त नहीं माना जाता है इसीलिये यहाँ पर इनके सूक्ष्म भेदों का वर्णन नहीं किया गया ॥४-१०½॥

चतुश्शाल में एकशालों के हस्तिनी आदि चार शालाओं के योग से उन पंचशाल भवनों के २० भेद कहता हूँ। जब सर्वतोभद्र वेश्म की शाला अजा होती है तब उस पंचशालाओं वाले घर को सुदर्शन नाम से पुकारते हैं और वही सुदर्शन करिणी शाला के योग से सुरूप कहलाता है। महिषी का योग सुन्दर और गावी का योग शोभन कहलाता है। पुनः इन चारों हस्तिनी आदि शालाओं के योग से क्रमशः सुनाभ, सुप्रभ, योग्य और विनोद नाम के घर सम्पन्न होते हैं ॥१०½-१४½॥

नंद्यावर्त में भी इसी प्रकार से शालाओं की योजना करने पर सुखद,

नन्दन, नन्द, पुंडरीक नामक मन्दिर सम्पन्न होते हैं ॥१४½-१५½॥

रुचक के भी अजादि शालाओं के योग से क्रमशः भद्र, रुचिर, रोचिष्ण और प्रहर्षण नाम से घर बनते हैं ॥१५½-१६½॥

स्वस्तिक में भी इसी युक्ति से चार घर होते हैं। वे हैं—घोष, सुघोषण, नन्दिघोष, श्रीपद्म। इस तरह सर्वतोभद्र-प्रभृति आलयों के योग से २० भेद हुए ॥१६½-१७॥

राजाओं के योग्य पंचशाल-भवनों के पूर्वोक्त आठ घरों के साथ युक्त होने पर २८ भेद बनते हैं। इन २८ पंचशाल-गृहों के मध्य में जिस किसी एक का मूषा-भेद जितने रूप पैदा करता है, उनका क्रम अब बताता हूँ। वहाँ पर विभद्र एक और एक भद्राओं वाले १० और दो भद्राओं वाले ४५, तीन भद्राओं के १२०, चार भद्राओं के २१०, पांच भद्राओं वाले घरों के २५२, षड्भद्रों के २१०, सप्तभद्रों के १२० और अष्टभद्रों के ४५, नवभद्रों के १० और दस भद्रों के केवल १—इस प्रकार से मूषा-वहन-संख्या से पंचशाल भवनों के १०२४ भेद हुए ॥१८-२४½॥

षट्शाल—एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल तथा चतुःशाल, इन भवनों के पारस्परिक योजनाओं से षट्शाल भवनों के लक्षण और उनकी संख्याओं का वर्णन करता हूँ। द्विशाल, त्रिशाल और एकशाल के योग से षट्शाल वेश्म निष्पन्न होता है और उसके सोलह भेद होते हैं ॥२४½-२६½॥

पक्षघ्न और वात इन दोनों का एकशाल भवन से संयोग होने पर पंकजांकुर नामक उत्तम षट्शाल भवन होता है और एकशाल भवन के साथ हिरण्यनाभ और सिद्धार्थ जब संयुक्त होते हैं तो श्रीगृह नामक शुभ गेह बनता है। एकशाल के साथ सुक्षेत्र और यमसूर्य इन दोनों के संयोग से धनेश्वर नाम का घर धन-वृद्धि के लिये होता है। एकशाल गृह का जब दंड और चुल्ली के साथ संयोग होता है तो प्रभूत-कांचन-कारक कांचनप्रभ नाम वाला घर बनता है। इसी दिशा से द्वादश अन्य भवनों को जानना चाहिये ॥२६½-३०॥

इन्हीं के भेदों में अखिल वर्णियों के लिये शुभ त्रिशालाओं के बराबर जोड़ों से चार और षट्शाल भवन होते हैं और द्विशाल एवं चतुःशाल के योग से दूसरे चार षट्शाल भवन बनते हैं। सिद्धार्थ वेश्म के साथ जब चतुःशाल संयुक्त होता है, तब त्रैलोक्यानन्दक नामक शुभ षट्शाल गृह निष्पन्न होता है। यमसूर्य से संयुक्त विलासचय कहा जाता है। दंड से युक्त चतुःशाल सुखद नाम से संकीर्तित है और वात से युक्त चतुःशाल श्रीपद नाम वाला होता है ॥३१-३४॥

अन्य चौबीस षट्शाल भवन अन्यों के योग से होते हैं। राजाओं के लिये जो पांच उचित चतुःशाल भवन हैं उनके द्विशाल-योग से षट्शालों का वर्णन करता हूं। सर्वतोभद्र से सिद्धार्थ के साथ समायुक्त होने पर श्रीपुर नाम का घर होता है ।।३५-३६।।

यमसूर्य से युक्त सर्वतोभद्र के होने पर श्रीवास निष्पन्न होता है और भद्र से युक्त दंड में श्रीभूषण नाम का घर निष्पन्न होता है। सर्वतोभद्र के योग से वात को श्रीभाजन कहते हैं और वर्धमान से युक्त सिद्धार्थ के होने पर वह भूतिमंडन कहलाता है और उसी से यमसूर्य के युक्त होने पर भूतिभाजन होता है और दंड-युक्त भूतिमान, वात से भूतिभूषण बनते हैं ।।३७-३९।।

नन्द्यावर्त के योग से सिद्धार्थ आदि श्रीमुख, श्रीधर, श्रीकृत और श्रीकर, ये चार षट्शाल निष्पन्न होते हैं। सिद्धार्थ आदि चारों का रुचक नामक वेश्म से संयोग होने पर श्रियाकार, श्रियोवास, श्रीयान और श्रीमुख ये चार घर होते हैं ।।४०-४१।।

सिद्धार्थ आदि चारों का यदि स्वस्तिक नामक वेश्म से संयोग हो तो, धनपाल, धनानन्त, धनप्रद और धनाह्वय ये चार षट्शाल बनते हैं ।।४२।।

इस प्रकार से राजोचित पंचशाल वेश्मों की बीस संख्या होती है और पहले के चौबीस मिलाकर चौवालीस (४४) हुए। मूषाओं की संयोजना से अब एक भद्रादि का वर्णन करता हूं। विभद्र-१, एकभद्र-१२, द्विभद्र-६६, त्रिभद्र-२२०, चतुर्भद्र-४९५, पंचभद्र-७९२, षड्भद्र-९२४, सप्तभद्र-७९२, अष्टभद्र-४९५, नव-भद्र-२२०, दश-भद्र-६६, एकादश-भद्र-१२, द्वादश-भद्र-१, इस प्रकार से ४०९६ षट्शाल भवनों के भेद हुए ।।४३-४९।।

सप्तशाल—अब सप्तशाल-भवनों का वर्णन करता हूं। त्रिशाल के जोड़े और एकशाल के योग से जो सप्तशाल भवन बनते हैं उनके द्वादश भेद होते हैं। एकशाल और द्विशाल जब चतुश्शाल से युक्त होता है, तब सप्त-शाल वेश्म का दूसरा प्रकार होता है। यमसूर्य से एकशाल और चतुःशाल का जब संयोग होता है तब वह घर श्रीप्रदायक नाम का होता है और वात से संयुक्त होने पर श्रीपद और दंड के साथ संयुक्त होने पर श्रीप्रद होता है ।।५०-५३।।

सिद्धार्थ के साथ उसी तरह श्रीमाल निष्पन्न होता है। राजाओं के योग्य जो पांच चतुश्शाल वेश्म हैं, उनका एकशाल और द्विशाल के साथ संयोग होने पर सप्तशाल गृह बनते हैं ।।५४-५५½।।

जब सर्वतोभद्र और सिद्धार्थ एकशाल के साथ संयुक्त होते हैं, तो श्रीप्रद और श्रीपद वास्तु तैयार होता है ।।५५½-५६½।।

सर्वतोभद्र गृह का यमसूर्य और एकशाल से संयोग होने पर श्री-फलावह श्रीफल नाम का घर निष्पन्न होता ।।५६½-५७½।।

सर्वतोभद्र और दंड के साथ एकशाल जब संयुक्त होता है, तो लक्ष्मी का आस्पद श्रीस्थल नाम का वह भवन होता है ५७½-५८½।।

सर्वतोभद्र और वात में एकशाल के मिलने पर लक्ष्मी-निवास भवन श्रीतनु नामक घर निष्पन्न होता है ।।५८½-५९½।।

जब एकशाल से सिद्धार्थ और वर्धमान संयुक्त होते हैं, तब श्रीपर्वत नाम का उत्तम भवन कहलाता है ।।५९½-६०½।।

यमसूर्य के साथ वर्धमान और एकशाल के योग से श्रीवर्धन नाम का घर लक्ष्मी की वृद्धि करने वाला होता है ।।६०½-६१½।।

जब दंड और वर्धमान एकशाल सहित होते हैं, तब श्रीसङ्गम नाम का उत्तम भवन कहलाता है ।।६१½-६२½।।

जब वात और वर्धमान एकशाल-युक्त होते हैं, तो राजा के योग्य श्री-प्रसङ्ग नाम वाला भवन कहलाता है ।।६२½-६३½।।

एकशाल और नन्द्यावर्त से सिद्धार्थ के अन्वित होने पर भूपाल-सेवित श्रीभार नामक भवन होता है। यमसूर्य और एकशाल इन दोनों का नन्द्यावर्त के साथ जब योग हो तो राजाओं के लिए सुखावह श्रीभार नाम का दूसरा वेश्म स्मृत किया गया है ।।६३½-६५½।।

नन्द्यावर्त और दंड इन दोनों का एकशाल के साथ संयोग होने पर राजाओं के लिए भोग-भोग्य उत्तम सप्तशाल गृह श्रीशैल नाम का सम्पन्न होता है ।।६५½-६६½।।

नन्द्यावर्त और वात इन दोनों का एकशाल के साथ संयोग होने पर राजाओं के लिए ऐश्वर्यदायक श्रीखण्ड नाम का भवन होता है ।।६६½-६७½।।

सिद्धार्थ और रुचक का एकशाल के साथ संयोग होने पर राजाओं के योग्य श्रीषंड अथवा श्रीघंट भवन बनता है ।।६७½-६८½।।

रुचक से ही यमसूर्य और एकशाल इन दोनों के योग से श्रीनिधान नामक भवन होता है और उसका दंड और एकशाल इन दोनों के योग से श्रीकुण्ड नाम होता है। वात, एकशाल और रुचक इन तीनों के युक्त होने पर श्रीनाम नामक भवन कहलाता है और वह भवन राजाओं के लिए भूति-दायक होता है। एकशाल के साथ जब सिद्धार्थ और स्वस्तिक मिल जाते हैं तो लक्ष्मी-

देवी का संतत-वल्लभ श्रीप्रिय नाम का भवन निष्पन्न होता है ॥६८½-७१½॥

यमसूर्य और एकशाल के साथ जब स्वस्तिक मिलता है तब उसे राजाओं का हितकारक श्रीकान्त नाम का सप्तशाल भवन निष्पन्न होता है ॥७१½-७२½॥

दंड और स्वस्तिक इन दोनों का एकशाल के साथ जब संयोग होता है तब विजयशील वह वेश्म श्रीमत के नाम से पुकारा जाता है। वात और स्वस्तिक का संयोग जब एकशाल से होता है तब राजाओं का वह वेश्म श्री-प्रदत्त नाम से पुकारा जाता है। इस प्रकार से एक-एक के दो भेदों से चालीस हुए ॥७२½-७४॥

इस प्रकार से यहाँ तक ४८ भेद हुए आठ पहले के और ४० ये ॥७५½॥

जब त्रिशाल भवन चतुःशाल से युक्त होता है तब भी सप्तशाल चार प्रकार का होता है। पाँच राज-गेहों में से किसी एक का त्रिशाल से यदि मेल होता है तो २० प्रकार का सप्तशाल होता है। हिरण्यनाभ के योग से सर्वतो-भद्र मन्दिर राजाओं के लिए हितकारक श्रीवत्सनाभ नाम का वेश्म उत्पन्न करता है और सर्वतोभद्र और सुक्षेत्र के मिलने पर श्रीवृक्ष होता है। फिर उसमें चुल्ली के संयोग से श्रीपाल नाम का वेश्म पैदा होता है। सर्वतोभद्र से युक्त पक्षघ्न में श्रीकण्ठ कहा जाता है ॥७५½-७९॥

वर्धमान से युक्त हिरण्यनाभ में श्रीवास और वर्धमान से सुक्षेत्र के मिश्रित होने पर श्रीनिवास तथा वर्धमान और चुल्ली के साथ जो घर बनता है उसे श्रीभूषण कहते हैं ॥८०-८१½॥

इसी प्रकार वर्धमान के साथ जब पक्षघ्न संयुक्त होता है तब श्रीमण्डन नामक उत्तम भवन निष्पन्न होता है ॥८१½-८२½॥

हिरण्यनाभ का नन्द्यावर्त के साथ संगम होने पर लक्ष्मी का वह कुल-निकेतन श्रीकुल के नाम से प्रख्यात होता है ॥८२½-८३½॥

नन्द्यावर्त के साथ सुक्षेत्र के मिलने पर श्रीगोगुल नामक भवन निष्पन्न होता है ॥८३½-८३॥

नन्द्यावर्त और चुल्ली का योग होने पर श्रीस्थावर नामक गृह और नन्द्यावर्त का पक्षघ्न के साथ योग होने पर कुम्भ नाम का घर निष्पन्न होता है ॥८४॥

हिरण्यनाभ और रुचक के योग से श्रीसमुद्रक नामक भवन होता है और रुचक के साथ सुक्षेत्र के संयोग होने पर श्रीनन्द नामक गृह बनता है ॥८५॥

रुचक से जब चुल्ली संयुक्त होती है तब श्रीहृद नामक गृह होता है

ग्रौर पक्षघ्न का रुचक के साथ संयोग होने पर श्रीधर नामक गृह निष्पन्न होता है ॥८६॥

हिरण्यनाभ के साथ स्वस्तिक के संयोग में श्रीकरण्डक ग्रौर उसी में सुक्षेत्र के साथ संयोग होने पर श्रीभाण्डागार नामक गृह होता है। इसी प्रकार उसके चुल्ली से मिलने पर नरपति-प्रिय श्रीनिलय ग्रौर पक्षघ्न के साथ जब स्वस्तिक का योग होता है तब वह राज-मन्दिर श्रीनिकेतन के नाम से प्रसिद्ध होता है। इस प्रकार नाम ग्रौर लक्षणों से सप्तशालाग्रों का वर्णन हुग्रा ॥८७-८६॥

सार्वभौम राजाग्रों, मन्त्रियों ग्रौर सज्जनों के लिए ये सब भवन धन, यश ग्रौर विजय की वृद्धि के लिए होते हैं ॥६०॥

ग्रब इन सप्तशाल वेश्मों की एकादि मूपाग्रों के सन्निवेश-भेद से क्रमशः गणना करता हूँ ॥६१॥

सप्तशाल गृह में जब एक भी मूपा नहीं होती है, तो वह विभद्र कहलाता है ग्रौर उस विभद्र की संख्या १ एकभद्र—१४, द्विभद्र—६१, त्रिभद्र—३६४. चतुर्भद्र—१००१, पंचभद्र—२००२, षड्भद्र—३००३ ग्रौर सप्तभद्र की ३४३२, ग्रष्टभद्राग्रों वाले वेश्म षड्भद्र वाली संख्या के समान (३००३) होते हैं ग्रौर नवभद्राग्रों वाले घरों की संख्या २००२ होती है। दशभद्राग्रों वाले १००१ ग्रौर एकादश भद्राग्रों वाले ३६४, द्वादश-भद्रों की ६१ ग्रौर त्रयोदश-भद्रों की संख्या १४, चतुर्दश भद्रों से युक्त एक ही घर होता है। इस तरह सप्तशाल वेश्मों की संख्या १६३८४ हुई ॥६२-१००½॥

ग्रष्टशाल—ग्रब ग्रष्टशाल भवनों के भी भेद कहता हूँ। बाहर ग्रौर भीतर के दो चतुःशाल भवनों के संयोग से एक भेद हुग्रा, सर्वभद्रादिकों के दो-दो के संयोग से दूसरे ग्रौर दस भेद हुए।

उन्नतीस-पद-वास्तु से चौकोर क्षेत्र-विभाग का विभाजन करना चाहिए। दो भागों से मूषा का सन्निवेश ग्रौर चार भागों से शाला का सन्निवेश विहित है। पाँच भागों से उसके मध्य में ग्रांगन की वापी का न्यास विहित है ग्रौर उस वास्तु में प्रति दिशा में चार मूपाएँ होनी चाहिएँ ॥१००½-१०३॥

यह ग्रष्टशाल भवन कहीं पर एकशाल से कम सप्तशाल के रूप में, कहीं पर दो शालाग्रों से उज्झित पट्शाल के रूप में ग्रौर कहीं तीन शालाग्रों से विहीन पांच शालाग्रों के रूप में होता है ॥१०४॥

दो त्रिशाल भवनों में जब द्विशाल भवन मिलता है तो ग्राठ ग्रष्टशाल भवन निर्दिष्ट किये गए हैं ॥१०५॥

मूषाग्रों की संघटना-वश ग्रब ग्रष्टशालों की संख्या कहता हूँ ॥१०६½॥

उनमें एक विभद्र होता है जिसमें मूषा नहीं होती। एकभद्र १६, द्विभद्र १२०, त्रिभद्र ५६०, चतुर्भद्र १८२०, पंचभद्र ४३६८, षड्भद्र ८००८, सप्तभद्र ११४४०, अष्टभद्र १२८७०, नवभद्र ११४४०, दशभद्र-संख्या ८००८, एकादशभद्र की संख्या पंचभद्र के समान कही जाती है (४३६८), द्वादशभद्र-वेश्म की संख्या १८२० होती है। त्रयोदशभद्रों की संख्या ५६० और चतुर्दश-भद्रों की १२०, पंचदशभद्रों की संख्या १६, षोडशभद्र गृह की एक ही संख्या मानी गयी है। इस प्रकार यहाँ पर अष्टशाल गृहों की एकत्रित संख्या ६५५३६ होती है ॥१०६½-११७॥

नवशाल—चतुःशालाओं के युगल संयोग से संक्षेप में एक-एक एकशाल के योग से चार-चार नवशाल बनते हैं ॥११८॥

सर्वतोभद्र आदि मुख्य वेश्मों के जोड़ों के साथ और एक एकशाल के योग से, ४० भेद और होते हैं ॥११९॥

त्रिशाल के त्रितय (तिगुने) के योग से नवशाल गृहों के चार अन्य भेद पुरातनों ने बताये हैं ॥१२०॥

नवशाल गृहों का यह संस्थान कहा गया, अब मूषाओं के भेद से इनके भेद बताये जाते हैं ॥१२१॥

बिना मूषा वाला अर्थात् विभद्र	१
एकभद्र	१८
द्विभद्र	१५३
त्रिभद्र	८१६
चतुर्भद्र	३०६०
पञ्चभद्र	८५६८
षड्भद्र	१८५६४
सप्तभद्र	३१८२४
अष्टभद्र	४३७५८
नवभद्र	४८६२०
दशभद्र	४३७५८
एकादशभद्र	३१८२४
द्वादशभद्र	१८५६४
त्रयोदशभद्र	८५६८
चतुर्दशभद्र	३०६०
पञ्चदशभद्र	८१६

षोडशभद्र	१५३
सप्तदशभद्र	१८
अष्टादशभद्र	१

कुल मिलाकर २६२१४४ भेद हुए ॥१२२-१३६½॥

दशशाल—एक द्विशाल के साथ समान दो चतुःशालों के योग से संक्षेप में चार दशशाल वेश्म होते हैं और प्रधान वेश्म और सर्वतोभद्रादि के द्वितय (दो-दो) के परस्पर योग से और एक द्विशाल के योग से दूसरी संख्या ४० हुई। समान त्रिशालों के त्रितय और एकशाल से संयुक्त होने पर तब अन्य साधारण चार दशशाल होते हैं। सर्वभद्रादिकों से जब-जब दो तुल्य त्रिशाल युक्त होते हैं, तब दशशालों के बीस और भेद होते हैं ॥१३६½-१४०½॥

बिना मूषा वाला अर्थात् विभद्र	१
एकभद्र	२०
द्विभद्र	१९०
त्रिभद्र	११४०
चतुर्भद्र	४८४५
पञ्चभद्र	१५५०४
षड्भद्र	३८७६०
सप्तभद्र	७७५२०
अष्टभद्र	१२५९७०
नवभद्र	१६७९६०
दशभद्र	१८४७५६
एकादशभद्र	१६७९६०
द्वादशभद्र	१२५९७०
त्रयोदशभद्र	७७५२०
चतुर्दशभद्र	३८७६०
पञ्चदशभद्र	१५५०४
षोडशभद्र	४८४५
सप्तदशभद्र	११४०
अष्टादशभद्र	१९०
एकोनविंशतिभद्र	२०
विंशतिभद्र	१
	१०४८५७६

इस प्रकार से दशशाल-भवनों की मूपा-भेद-प्रसार से दस लाख अड़तालीस हज़ार पाँच सौ छिहत्तर संख्या हुई ॥१४०½-१५८॥

चतुश्शालों से लेकर दशशालों तक की जो संख्या अभी तक बताई गई है, उसकी चौगुनी संख्या प्रतिदिशि अलिन्द-दिशा से निर्देश्य है। एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल तथा चतुश्शाल इन चारों के परस्पर संयोग से दशशालान्त शाल-भवनों का सविस्तर वर्णन किया गया। अब चतुश्शाल-भवनों से लेकर दशशाल-भवनों तक की जो संख्या निकलती है उन सब का निर्देश करता हूँ। मूपा-भेद से तेरह लाख अट्ठानवे हज़ार सोलह भेद होते हैं। पुनश्च मूपाओं के अलग-अलग संस्थान-भेद से तो नाना अगणित करोड़ों भेद निष्पन्न होते हैं। अतः उनका विस्तारभय से वर्णन नहीं किया गया ॥१५९-१६३॥

इस प्रकार से प्रमुख चतुश्शाल और दशशाल जितने भी वेश्म-प्रभेद होते हैं, कह दिये गये। उनकी शालाओं के प्रभेद से परस्पर-संयोग से जो संख्या होती है वह भी यथावत् प्रतिपादित की गई है ॥१६४॥

अध्याय ३१

वन-प्रवेश

(दारु-आहरण)

घर बनाने के लिए यथाविधि, पूर्व से अथवा उत्तर से द्रव्य अर्थात् भवन-निर्माण में आवश्यक दारु लाना चाहिए और उस द्रव्य को लाने के लिए शुभ नक्षत्रों में (मृदु, क्षिप्र एवं चर नक्षत्रों में) जाना चाहिए ॥१॥

स्थिर चर लग्न में वन-प्रवेश तो विहित है ही; वन में जाकर वहां वृक्षों के निकट रहना अथवा उपवास रखना भी इन्हीं नक्षत्रों में विहित है। परन्तु लकड़ी का छेदन तथा भेदन आदि कार्यारम्भ दारुण नक्षत्र अथवा लग्न में विहित है ॥२॥

शुभ एवं पवित्र देश में जाकर वहां पर निवेश करना चाहिए और निवेशन करने के बाद कर्म के अन्त तक अन्न और जल से तर्पण करना चाहिए। सर्वविध पुष्ट एवं तुष्ट परिवार वाला व्यक्ति रात्रि में समुपोषित रह कर पुनः उसे वृक्ष की परीक्षा करनी चाहिए। अतः शस्त्र को त्याग कर घर के योग्य वृक्ष की परीक्षा करनी चाहिए ॥३-४॥

पुर के श्मशान, ग्राम के मार्ग, तालाब, चैत्य और आश्रम—इन स्थानों में उत्पन्न होने वाले, खेत तथा उपवन की सीमा के भीतर वाले तथा विषमस्थल और निम्नस्थल में उत्पन्न होने वाले, कटु, अम्ल, तिक्त तथा लवण भूमियों में उगे हुए, गड्ढों से ढके हुए तथा स्थिर भूमि में उगे हुए पेड़ों को छोड़ देना चाहिए। ऐसे वृक्ष गृह-योग्य नहीं होते ॥५-६॥

वृक्षों का रंग, तेल, वल्कल (छाल) आदि का अच्छी तरह से परीक्षण करके फिर उनकी अवस्था मालूम करनी चाहिए और उन में से बाल और वृद्ध वृक्षों को छोड़ देना चाहिए ॥७॥

सारद्रुम (शीशम) की अवस्था तीन सौ वर्ष मानी गई है और सोलह वर्ष से ऊपर डेढ़ सौ वर्ष के पुराने तक वृक्ष को चुने। जिस प्रकार से मनुष्यों में अवस्था के परिपाक से निर्बलता देखी जाती है तथा बाल झड़ने लगते हैं उसी प्रकार से वृक्षों की निर्बलता भी उनकी अवस्था से मानी गयी है और उनकी छिद्र-पत्रता भी यही सूचना देती है ॥८-९॥

जो कटे, पिटे, पोले, सकोलाक्ष एवं तीक्ष्ण वल्कल वाहों, जो ऊपर से सूख रहे हों उन वृक्षों को छोड़ देना चाहिए ।।१०।।

टेढ़े मेढ़े, सूखे, जले, बुरी जगह पर खड़े वृक्षों को और भग्न शाखा वाले तथा एक ही दो शाखा वाले, वृक्षों को भी छोड़ देना चाहिए ।।११।।

दूसरों से अधिष्ठित, विद्युत्पात से, आंधी से और नदियों से क्षत, गांठों वाले, रस बहाने वाले तथा भ्रमर और सर्पों से आश्रित, एक दूसरे से सटे, एक ओर भ्रष्ट, मीठी वलियों से अर्थात् चींटियों से आच्छादित, मांसाहारी पक्षियों से दूषित, मकड़ी के जालों से ढके हुए, जंगली जानवरों से उद्घृष्ट, हाथियों से क्षत, मूलतः (जड़ से) बहुत बड़े तना वाले, मार्ग के चिन्ह-भूत, अकाल में पुष्प तथा फल देने वाले, रोगों से पीड़ित, उल्लुओं के वास से युक्त—इसी तरह के अन्य वर्ज्य वृक्षों को भी छोड़ देना चाहिए ।।१२-१५।।

खदिर (खैर), बीजक, शीशम, मोहा, शाक, शिंशपा, सर्ज, अर्जुन, अञ्जन, अशोक, कदर, रोहिणी, विकङ्कत, देवदारु, श्रीपर्णी ये वृक्ष कुटुम्बियों के लिए पुष्टिकारक और जीवनदायक कहे जाते हैं। जिन वृक्षों की जल-सहिष्णुता एवं भार-सहिष्णुता लक्षित होती हो, वे गृह-कर्म में अच्छे कहे गये हैं ।।१६-१८।।

कड़ेल, धव, प्लक्ष, कपित्थ, विषमच्छद, शिरीष, गूलर, अश्वत्थ, शेलू, बरगद, चम्पक, नीम, आम, कोविदार, अक्ष, व्याधिघात— ये वृक्ष निन्दित कहे गये हैं और ये गृह-कर्म में इष्ट नहीं हैं, क्योंकि इन से अनिष्ट उत्पन्न होता है ।।१९-२०।।

कांटे वाले, स्वादु फल वाले और दूध वाले और सुगन्ध वाले जो वृक्ष हैं वे भी इष्ट नहीं हैं, क्योंकि उनमें पशुओं का नाश निश्चित है ।।२१।।

जिस प्रकार से प्राणियों की छाया नियत ही दिखाई पड़ती है उसी प्रकार से वृक्ष की छाया भी दिखलाई पड़ती है तो उसकी छाया ग्रहण करनी चाहिए, क्योंकि उसी के प्रमाण का वह पेड़ होता है ।।२२।।

वृक्ष में, उसकी पृथ्वी की पूर्व दिशा में, नक्षत्र का विचार करना चाहिए। उसके नक्षत्र के आदि अक्षर से उस वृक्ष की उत्पत्ति समझनी चाहिए अर्थात् उस पृथ्वी की पूर्व दिशा में वृक्ष पर जो नक्षत्र दिखलाई पड़े वही वृक्ष का नक्षत्र समझना चाहिए ।।२३।।

उस वृक्ष को स्वामी का क्षेमकारक और साधक समझ कर बिना गांठों और कोटर वाले, स्निग्ध और सीधे तथा सारयुक्त, मोटे तने वाले, हरे पत्ते वाले तथा गोल ऐसे वृक्ष की पूजा करके ब्राह्मणों को खिला-पिला कर उसके बाद उनसे स्थपति, स्वस्तिवाचन करावे ।।२४-२५।।

रात्रि के आने पर कच्चे-पक्के मांसों से भूतों के निमित्त भात व शराब और आसवों से तथा गन्धों, धूपों एवं मालाओं से बलि देनी चाहिये ॥२६॥

"वृक्षों पर आश्रय लेने वाले जो जीव हों, वे चले जायें ! अपना अड्डा हटाओ, मैं इसको काटूंगा !"—यह वचन उच्चारण करना चाहिये। पुनः वृक्ष को सम्बोधित कर—"हे वृक्ष ! तुम धन्य, शुभ, पुष्टिकर और प्रजाओं की वृद्धि करने वाले बनो। इन्द्र, पवन, यम, सूर्य, रुद्र, अग्नि कल्याण करें। दिशाएँ, सरिताएँ और पर्वत ऋषियों सहित तुम्हारी रक्षा करें ॥२७-२६½॥

जो वृक्ष मनुष्य-वाणी से बोलने लगे अथवा अभिमन्त्रित होने पर कांपने लगे, अथवा जिसके नूतन पल्लव और कुसुम म्लान होने लगें उसको छोड़ देना चाहिये ॥२६½-३०½॥

तदनन्तर सूर्य का दर्शन कर वृक्ष की प्रदक्षिणा करके ब्राह्मणों के स्वस्ति-वाचन के साथ काटने वाला उत्तर अथवा पूर्व मुख होकर पैने शस्त्रों से पेड़ को काटे। पेड़ के काटने पर यदि खून बहने लगे अथवा कम्पन होने लगे या ध्वनि सुनाई पड़े तो घर बनाने वाले की मृत्यु होती है। अथवा वृक्ष काटने पर यदि दही, शहद, दुग्ध या घृत बहने लगे तो कुटुम्बी के लिये बन्धन तथा व्याधियां उपस्थित होती हैं ॥३०½-३३॥

जिस वृक्ष से तैल-युक्त, सुगन्धित, कुछ मीठा और कसैला बड़ा काला-सा रस बहता है वह वृक्ष अच्छा माना जाता है ॥३४॥

पूर्व दिशा में यदि पेड़ गिरे तो वह कार्य-साधक होता है। यदि दक्षिण अथवा पश्चिम दिशा में गिरे तो शान्ति-समारोह करके उस पेड़ को त्याग देना चाहिये ॥३५॥

यदि दूसरे वृक्ष को मर्दन करते हुए वृक्ष का पात होता है तो ज्ञातियों से भय उपस्थित होता है। जड़ से कटा हुआ जो वृक्ष दूर तक दलन करता है तथा वायु के झोंकों से अधिक शब्द करता है वह पेड़ शुभ होता है ॥३६-३७½॥

गधे, ऊँट, गीदड़ या सर्प का दर्शन यदि वृक्ष को काटते समय होता है तो कार्य में विघ्न अथवा हथकड़ियों का बन्धन उपस्थित होता है ॥३७½-३८½॥

हल, चक्र, पताका, कमल, ध्वजा, छत्र आदि का दर्शन यदि होता है अथवा श्रीवृक्ष एवं वर्धमान आदि का यदि दर्शन होता है तो ये दर्शन शुभप्रद होते हैं ॥३८½-३६½॥

यदि काटने पर वृक्ष उछल कर गिरता है तो कुटुम्बी को ऋद्धि प्राप्त होती है। इसके विपरीत यदि काटने पर चरमरा कर बीच में ही रह जाता है

तो सब तरफ़ से क्षति की आशंका समझनी चाहिये ॥३९½-४०½॥

एक वृक्ष में पूर्वोक्त प्रकार से उत्क्षेप आदि के दर्शन से जो निमित्त बताये गये हैं उसी प्रकार दोष-रहित शेष वृक्षों को देख कर धीर स्थपति ठीक तरह से अनुलोम अर्थात् शास्त्र-विहित तथा प्रशस्त एवं कोमल तथा सीधे वृक्षों का संग्रह करे ॥४०½-४१॥

वृक्ष-मण्डल—वृक्ष के काटने पर आधे भाग पर अथवा दश भागों से कुछ अधिक काटने पर वृक्ष के भीतर स्थित जन्तु आदि की परीक्षा करे। इन्हीं को वृक्ष-मण्डल कहा गया है। इस प्रकार इसके मण्डलों को जानना चाहिये। मंजिष्ठ कान्ति वाले मण्डल में मेंढक, कपिल कान्ति वाले मण्डल में चूहा, पीली कान्ति वाले मण्डल में गोधा, अधिक धवल कान्ति वाले मण्डल में सर्प, गुड़की कान्ति-सदृश मण्डल में मधु, लाल में कृकलास (गिरगिट), कपोत कान्ति में गृह-गोधा (घरेलू गोह), घृतमण्ड की सी कान्ति वाले मण्डल में गोधेर, रसांजन-सदृश, शास्त्र की आभा के सदृश, कमल तथा उत्पल (नीले कमल) की आभा के सदृश, धोई हुई धवल तलवार की कान्ति वाले—इन मण्डलों में जल समझना चाहिये ॥४२-४६½॥

जिस वृक्ष का सर्प का-सा आकार अथवा वर्ण दिखलाई पड़े उस सर्प-गर्भित वृक्ष को बिना विचारे ही छोड़ देना चाहिये ॥४६½-४७½॥

क्षौद्र अर्थात् शहद में चोरों से भय, सलिल में सलिल से भय, सर्प में विष से भय, पाषाण में अग्नि से भय समझना चाहिये ॥४७½-४८½॥

बकरों, बैलों, भैंसों, ऊँटों, गधों आदि से निष्पीडित, गोधा, गोधेर, मंडूक तथा कृकलास से गर्भित, मूषकों से दूषित वृक्ष वास्तु-विज्ञ स्थपति का मरण बताता है ॥४८½-४९॥

इसी तरह विद्वान् लोग अन्य गृह-पीड़ा बताते हैं। कुशलतापूर्वक दारु आहरण यदि निष्पन्न होता है तथा बिना बाधा यदि सामग्री प्राप्त हो जाती है तो दूसरे वनों में सब प्रकार की कुशलता तथा सुभिक्ष समझना चाहिये ॥५०-५१½॥

विधान को जानने वाला गृह-पति अर्घ-दान आदि विधि से आये हुए द्रव्य की अर्चना करे और लौटे हुए काटने वाले कुलिश, आयुध एवं ध्वजा आदि द्रव्य की राजा पूजा करे ॥५२॥

गृह-द्रव्य-प्रमाण

अब उपादेय और परित्याज्य जो गृह-द्रव्य हैं, उन गृह-द्रव्यों का प्रमाण कहता हूँ ॥१॥

गृह-द्वार—दरवाज़े की ऊँचाई गृह-विस्तार के हस्त-तुल्य अंगुलों में सात जोड़ने से होती है और उसका विस्तार उसके आधे परिमाण से विहित है। यदि घर का विस्तार २४ हाथ है तो दरवाज़े की ऊँचाई २४+७ अंगुल होगी ॥२॥

छोटे भवनों का गृह-द्वार इसी क्रम से प्रकल्पन करे और मध्यों का त्रैराशिक से बारहवां अंश छोड़कर करना चाहिए ॥३॥

इस प्रकार से ऊँचाई और उसके आधे से विस्तार सभी का होता है; परन्तु उत्तमों की ऊँचाई आठवें अंश से वर्जित कही गई है ॥४॥

बहुत छोटों का विस्तार अंगुलों से युक्त करना चाहिए। ६४ अंगुल की गृह-द्वार की ऊँचाई और उसका आधा विस्तार विहित है ॥५॥

विस्तार के हस्तों के तुल्य ६० अथवा ५० से संयुक्त अंगुल ऊँचाई होती है और उसके आधे से विस्तार ॥६॥

दूसरी विधि यह है—तीन अंश से हीन गृह की ऊँचाई से दरवाज़े की ऊँचाई और उसके आधे से विस्तार कहा गया है ॥७॥

पेद्या-पिंड—दरवाज़े की ऊँचाई के करों के तुल्य अंगुलों में यदि चार का विनिक्षेप किया जाय तो पेद्या-पिंड होता है। उसका विस्तार सवाया अथवा ड्योढ़ा, पौने दुगुना (१$\frac{3}{4}$) अथवा दुगुना बनाना चाहिए और इससे अधिक नहीं होना चाहिए। ऐसा करने पर द्वार की पेद्या का विस्तार स्फुट है ॥८-९॥

उदुम्बर—पेद्या-पिंड के आधे पिंड का उदुम्बर होता है। पेद्या के आधे विस्तार से उदुम्बर का विस्तार होता है ॥१०॥

द्वार-शाखा—पेद्या-पिंड के समान शाखा का विस्तार शुभ माना जाता है और उसके आधे से ही रूप-शाखा का भी विस्तार होता है ॥११॥

पेद्या के आधे विस्तार से खल्व-शाखा का विधान किया गया है और रूप-शाखा के समान अथवा रूप-शाखा से आधी बाह्य-मंडला नामक शाखा कही गई है ॥१२॥

एक पाद से कम अथवा तीन अंश से हीन अथवा विस्तार से आधा प्रासादों में भार-शाखा विनिर्गम तुल्य होता है ॥१३॥

पहली शाखा को देवी कहते हैं और दूसरी को नन्दिनी। तीसरी सुन्दरी के नाम से और चौथी प्रियानना के नाम से पुकारी जाती है। भद्रा नाम की पांचवीं शाखा होती है। इस तरह से ये पाँच शाखाएँ होती हैं और ये पाँच शाखाएँ वेश्म में प्रशस्त कही गई हैं। इनसे अधिक जो शाखाएँ होती हैं वे घर के दरवाज़े पर शुभ नहीं होतीं ॥१४-१५॥

तल की ऊँचाई—घर के विस्तार का सोलहवाँ भाग चार हस्तों से समन्वित होने पर तल की ऊँचाई प्रशस्त कही गई है। उसकी ऊँचाई ज्येष्ठ गृह में सात हस्त की, मध्य में छे हाथ की और कनिष्ठ में पाँच हस्त की करनी चाहिए ॥१६-१७॥

शाला-विस्तार—ज्येष्ठ भवन में १७ हाथ से विस्तृत शाला होती है। मध्यम में दस हाथ की और कनिष्ठ में पाँच हाथ की विस्तृत शाला विहित है॥१८॥

तल-न्यास—उदुम्बर के बाहुल्य से तल का न्यास कराना चाहिए और तल के न्यास के बराबर अलिन्द के परिग्रह में पट्ट-न्यास होता है ॥१९॥

स्तम्भ-विन्यास—दरवाज़े के विस्तार के चौथाई से खम्भे की कोटि का विधान किया गया है। आठ अंशों के साथ अथवा अधिक से या तीन भाग अथवा ग्यारह अंश से इसकी प्रणालिनी बनवाना चाहिए। आठ अंश को छोड़कर नौ अथवा बारह अंशों से स्तम्भों को बनाना चाहिए। तदनन्तर अपने आधे भागों के समान अर्ध भागों से, समन्वित भागों से, नीचे से, आठ भाग वाली स्तम्भ की प्रतिपालना होती है ॥२०-२२॥

स्तम्भ-मूल के विस्तार के आधे से स्थल-निर्गम, पुनः उसके आधे से मसूरक-निर्गम माना जाता है ॥२३॥

उत्कालक की ऊँचाई स्तम्भ-पिंड के समान शुभ होती है। उत्कालक के समान ही कुम्भिका पिंड में होती है; परन्तु विस्तार में वह आठ अंशों से युक्त होती है ॥२४॥

पद्मक-स्तम्भ—पहले कहे गए स्तम्भ-भागों में सवाये से आद्य-पत्रों की दीर्घता निर्माण करनी चाहिए और शेषों की पाद-रहित निर्मिति विहित है। पत्रों की रसना की ऊँचाई में एक-एक पाद कम करते जाना चाहिए। इस प्रकार आधे भाग से कण्टक के समान रसना की ऊँचाई करनी चाहिए। इसी प्रकार आधे पाद से ऊँचाई जंघा की भी और शेष जैसा पहले कहा गया है। इस प्रकार युक्तिपूर्वक और युक्त-स्वरूपों से युक्त पद्मक-स्तम्भ का निर्माण कहा गया है ॥२५-२७॥

घट-पल्लवक-स्तम्भ—स्तम्भ-सूत्रों के परिक्रमों से अथवा उसे अष्ट-कोण बनाना चाहिए। उसके विस्तार के बराबर ऊँचाई को छोड़कर अन्य भागों का विभाजन करे। आठ अश्रों (कोणों) के विभागों के मान से बाह्य-सूत्रों से व्याप्त मध्यम भाग में तो पल्लिकाओं से व्याप्त कोणों का निर्माण करना चाहिए। घटिका (अर्थात् कुम्भ) पुष्पमालाओं से और पत्तों से सुशोभित होनी चाहिए। छेद-भाग बाहरी भाग से रहित बराबर बनाना चाहिए। इस प्रकार यह घट-पल्लवक-स्तम्भ वर्णित किया गया। यह भवनों के स्वामी के कल्याण के लिए शुभ कहा गया है ॥२८-३१॥

कुबेर नामक षोडशाश्र-स्तम्भ—सोलह अश्रों (कोणों) की क्रियाओं से युक्त कुबेर का निर्माण करना चाहिए। यह ऊपर पत्तों से आकीर्ण होता है और इसकी जंघा चौकोर होती है ॥३२॥

श्रीधर-नामक वृत्त-स्तम्भ—श्रीधर-नामक स्तम्भ गोल होता है—इसकी कल्पना कुबेर के समान कही गई है। इस तरह गृहों के चार खम्भों का लक्षण प्रतिपादित किया गया ॥३३॥

स्तम्भाङ्ग—स्तम्भ-मूल के विस्तार से तल-पट्ट का सपाद विस्तार कहा गया है और इसका बाहुल्य पादहीन करना चाहिए। विस्तार में स्तम्भ के समान और बाहुल्य में पद से युक्त, आयाम (विस्तार) में स्तम्भ के अग्रभाग से तिगुना हीर-ग्रहण होता है। हीर-ग्रहण का विस्तार सात भाग से प्रकल्पित करना चाहिए। वह सृष्टोत्तर भाग होता है और उसका प्रवेश एक भाग से इष्ट कहा गया है। उसके नीचे तीन भागों से त्रिकण्ट और लम्बित दोनों तरफ दो अर्धचन्द्रों का विन्यास करे। खल्व का निर्माण करके नीचे के मध्य दो भागों में सुन्दर त्रिकण्टक तथा मनोरम और लटकती हुई तुम्बिका का निर्माण करना चाहिए। फिर दोनों के मध्य में दो भागों वाला दूसरा कण्टक निर्माण करे। जाती नामक पुष्प-वृक्ष के पत्तों से विभूषित लटकती हुई लम्बिका का निर्माण विहित है। उसका ऊपरी छोर पद्म-पत्रों से विभूषित करना चाहिए ॥३४-४०॥

अन्य भवनाङ्ग—पेद्र का विस्तार और आयाम तल-पट्ट के समान होता है। पट्ट के तीन अंशों से छोर में इस पट्ट-पिंड का आधा निर्गम होना चाहिये। स्तम्भ के अग्र-भाग के समान तुला की मोटाई और विस्तार करना चाहिए। उसके आधे से जयन्तियों का पिंड और विस्तार बनाना चाहिये। उनसे एक पाद कम इच्छापूर्वक सन्धिपालों का निर्माण करना चाहिये ॥४१-४२॥

निर्यूहों में जो पट्ट होते हैं उनको एक पाद से कम बनवाना चाहिये और तुला-पट्ट एक पाद से कम और उनके आधे से कम जयन्तियों का निर्माण

उचित है ।।४३।।

तुला के आधे से प्रतिमोक का विस्तार करना चाहिये। पट्ट के ऊपर रूप-कर्म से विभूषित कंठ होता है। निर्यूह में वेदिका की जाली रूप आदि प्रशस्त कहे गये हैं। आँगन की वापिका छत्र-सहित होनी चाहिये अर्थात् ढकी बनानी चाहिये। स्तम्भ-पट्टों को विस्तार में पाद-युक्त बनाना चाहिये। सुदृढ़ संग्रहों से युक्त तुला का पिंड बराबर बनाना चाहिये ।।४४-४६।।

तल-विन्यास - वेदिका आदि जाली से सम्पन्न मनोरम तल बनाना चाहिये। एक भूमि से दूसरी भूमि पर वह द्वादश अंशों से विवर्जित होना चाहिये अर्थात् कम होना चाहिये। सब तरफ़ से मूल-ग्राहाग्र-निर्गम अर्थात् मकरों के मुख से जिनसे पानी बह रहा हो ऐसी प्रणालियाँ बनवानी चाहिएँ ।।४७-४८½।।

छाद्य-प्रकार—घरों में जो दंड-छाद्य होता है वह चार प्रकार का कहा गया है—भूत, तिलक, मंडल और कुमुद। उनमें ऊँचाई भी चार प्रकार की होती है ।।४८½-४९।।

भूत-च्छाद्य—क्षेत्र के चार अंश से छाद्य-दंड का दैर्घ्य, उसके आधे से मुष्टि का याम, पुनः दंड के तीन अंश से लम्बन (लम्बाई) कही गई है। चौकोर बराबर, कान्त, मधुर तथा घना, वेश्मों का सपूजित भूत-नामक छाद्य बनाना चाहिये ।।५०-५१।।

तिलक-च्छाद्य—भूत की ही ऊँचाई से अठारहवाँ भाग की यदि अधिक ऊँचाई हो तो उसका नाम तिलक है और वह गृह-कर्म में प्रशस्त कहा गया है ।।५२।।

मण्डल तथा कुमुद छाद्य—पहला दोनों से अधिक ऊँचा मंडल और तीनों से अधिक ऊँचा कुमुद नामक छाद्य कहे गये हैं। ये चारों छाद्य बिना दिवाल के निर्मेय हैं और उनको चन्दोवों (चन्द्ररेखाओं) से अलङ्कृत करना चाहिये। जहाँ चमकीली, भड़कीली, घनी चुनी जो दीवार होती है उस छाद्य की अव-धारण संज्ञा होती है.। यह पांचवाँ प्रकार हुआ ।।५३-५४।।

सिंह-कर्ण, कपोताली, घंटा, कर्ण, अर्ध-पक्ष्ग, ध्वज, छत्र, कुमार, इनको घर में वर्जित करें। मंगलार्थी न पक्षियों की पंक्ति और न ध्वजा और न सिंह-कर्ण, न कुमार, न घंटा अथवा समराल-पल्ली, न अर्धपक्ष्ग और न पत्रों को ही वेश्मों में कभी भी योजना करें ।।५५-५६।।

अध्याय ३३

चय-विधि

(भवन-रचना-विधि)

अब चय अर्थात् चुनाई के गुणों और दोषों का इस अध्याय में वर्णन किया जाता है। सुविभक्त, बराबर, सुन्दर और चौकोर चुनाई शुभ कही गई है ॥१॥

चय-गुण—असंभ्रान्त, असंदिग्ध, अविनाशि, अन्यवर्हित, अनुत्तम, अनुद्वृत्त, अकुब्ज, अपीडित, समान-खंड, ऋजु-अन्त, अन्तरंग, सुपार्श्व, सन्धि-सुश्लिष्ट, सुप्रतिष्ठ, सुसन्धि तथा अजिह्म ये बीस-गुण (चार प्रथम-श्लोक-प्रतिपादित और ये सोलह) चय के कहे गये हैं। वैपरीत्य से अर्थात् इनके उलटे दोष भी बीस कहे गये हैं ॥२-४॥

दक्षिण की तरफ़ जब दीवाल बहिर्मुख चुनी जाती है तो वह व्याधि-भय की उत्पादक या मृत्यु-दंड की निर्देशक होती है। पश्चिमी दिवाल जब बहिर्मुख चुनी जाती है तब धन-हानि तथा दस्युओं से भय प्राप्त होता है ॥५-६॥

जब स्थपति उत्तर दिशा में दीवाल का बहिर्मुख चयन करता है तो बनाने वाले तथा गृह-स्वामी दोनों को व्यसन प्राप्त होता है ॥७॥

जब स्थपति प्राची दिशा में कुड्य का बहिर्मुख निवेशन करता है तो विशेषज्ञों ने राज-दंड के भय का निर्देश किया है। यही फल कुड्य के गिर जाने पर या फट जाने पर कहा गया है ॥८-९½॥

जिस दीवाल का प्राग्दक्षिण कर्ण बहिर्मुख होता है वहाँ पर घोर अग्नि-भय और गृह-स्वामी का संशय (जीवन-संशय) आपतित होता है। दक्षिण-पश्चिमाभिमुख कर्ण जब बहिर्मुख होता है तो वहाँ पर लड़ाई के उपद्रव और भार्या का संशय उपस्थित होते हैं। पश्चिमोत्तर कर्ण जब बहिर्मुख हो जाते हैं तो वहाँ पर पशु, वाहन और कुत्तों का संशय होता है। जब प्रागुत्तर कर्ण (पूर्व तथा उत्तराभिमुख) बहिर्मुख जाता है तो वहाँ पर गुरुओं का संशय और गाय बैलों का संशय पैदा होता है ॥९½-१३½॥

चुनाई के कुछ पारिभाषिक शब्द—जब सब बाहुओं (पूर्वोक्त चारों दीवालों के कोनों) में चुनाई करते हुए यदि विशाल हो जायें तो वह कर्णिका

के समान संस्थान मक्षिकाकृति नामक चुनाई कही गयी है। वहाँ पर जितना व्यय होता है, उतनी आय नहीं होती। चय के उस दोप से गृह-स्वामी क्षीण होकर भाग जाता है ॥१३½-१५½॥

यदि चुनाई करते हुए दीवाल बहुत ही संक्षिप्त हो जावे तो उस चय की ब्रह्म संज्ञा कही गई है और वहाँ पर राज-भय अवश्यम्भावी है ॥१५½-१६½॥

यदि चुनाई करते हुए बाहर से विस्तार और बीच में संक्षेप आपतित हो जाता है तो उसका नाम तनुमध्य उद्दिष्ट किया गया है और वहाँ क्षुधा का भय समझना चाहिये ॥१६½-१७½॥

कर्णों में यदि उच्छ्रत और मध्य से परिहीन जो दीवाल चुनने से बनती है तो उसे निर्णत नाम दिया गया है और वहाँ पर चोर का भय कहा गया है ॥१७½-१८½॥

इसके विपरीत कर्णों में परिहीन और मध्य से उच्छ्रत यदि चुनाई होती है तो उसे कूर्मोन्नत (अर्थात् कछुवे की पीठ के समान उठी हुई) नाम की चुनाई समझना चाहिये और उसको सर्व-दोपमयी भयावह कहा गया है। विषमोन्नत कर्णों में द्रविण-क्षय (धननाश) का निर्देश किया गया है और जहां पर कर्ण बराबर-बराबर चुने जाते हैं वहाँ पर खूब भक्ष्य और पान उपस्थित होते हैं। इस प्रकार से ये चीयमान के गुण दोप बताये गये हैं। इसलिये पूर्ण प्रयत्न करके चय-कर्म अर्थात् चुनाई का निर्वाह करना चाहिये ॥१८½-२१½॥

चय-प्रकार—अर्थात् चुनाई कैसे करनी चाहिये। पानी के साथ ही चुनाई का सम्यक् निश्चय कारण हो सकता है क्योंकि बिना पानी की चुनाई के निश्चयार्थ और कोई साधन नहीं। इसीलिये जल के साथ वलय को आदर-पूर्वक ग्रहण करना चाहिये। फिर सुताड़ित सूत्र में विचक्षण राज को चुनाई प्रारम्भ करनी चाहिये। फिर क्षेत्रमान से दुगने प्रमाण से डोरी बनाकर दोनों अन्त के भागों पर दो खूंटियाँ गाड़ देनी चाहियें, फिर उन दोनों प्रान्त-स्थित खूंटियों पर सूत्र को बांध देना चाहिये। पुनः उस पर इष्टानुमान से चिह्न देना चाहिये; इससे दीवाल का कर्ण ठीक-ठीक चुना जा सकेगा और इस प्रकार से दोषों का प्रसाधन करे ॥२१½-२६॥

चुनाई की दूसरी विशेषता यह है कि गारा बहुत नहीं देना चाहिये और न ईंटों का ही अधिक भेदन करना चाहिये। विपम ईंटों को वसूली से काट कर सम कर देना चाहिये। इस प्रकार से दीवाल की चुनाई करनी चाहिये। दीवाल की चुनाई (बांधी हुई) डोरी का स्पर्श न करे। पुनः दीवाल पर आदि, मध्य और अन्त पर एक दृष्टि डालनी चाहिये (देखिये सूत्राष्टक में दृष्टि का स्थान)।

जब चारों ओर का तल उद्‌घाटित हो गया अर्थात् कुछ ऊँचा हो गया हो तो फिर बारी-बारी से चारों ओर चुनाई करनी चाहिये। एक ही स्थान पर पूरी चुनाई नहीं करनी चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से स्तरों का उद्‌घाटन नहीं होगा। इसलिये चुनाई सब ओर थोड़ी-थोड़ी करके उठानी चाहिये, क्योंकि चारों ओर पाढ़ बांध कर चुनाई करना कठिन होगा। विचक्षण स्थपति ऊपर से बग़ल पर बराबर कर चुनाई करता है और चारों ओर दीवालों का दाढ़ा छोड़ देता है। इसीलिये यत्न से चय-कर्म में प्रयत्नशील होना चाहिये। इस प्रकार से वर्णित एवं निरूपित चय-कर्म-विधि इस भूतल पर यशकारक होती है और गृह-स्वामी के लिये प्रचुर विभवकारक होती है ।।२७-३३।।

अध्याय ३४

अप्रयोज्य-प्रयोज्य

(भवन-भूषा)

राजाओं के, सेनापतियों के तथा वर्णियों के घरों में, वास्तु-कक्षाओं में, सभाओं में और देवमन्दिरों में, शय्यागृह, आसन, यान, वर्तन, अलंकार, छत्र, ध्वजा और पताका आदि सभी उपकरणों में जो वस्तुएँ अप्रयोज्य कही गई हैं और जो प्रयोज्य हैं उन सब का प्राणियों के हित के लिये विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाता है ॥१-३॥

अप्रयोज्य—पूर्वोक्त राजा आदि लोगों के वेश्मों में जो वस्तुएँ अप्रयोज्य बताई गई हैं केवल उनको ही पहले यहाँ पर कहता हूँ ॥४॥

उनमें समस्त देवताओं को प्रयोज्य नहीं कहा गया है। दैत्य, ग्रह, तारा, यक्ष, गन्धर्व, राक्षस, पिशाच, पितर, प्रेत, सिद्ध, विद्याधर, नाग, चारण और भूतसंघ तथा उनकी स्त्रियाँ और पुत्र, पुरुष-प्रतिहार तथा स्त्री-प्रतिहारिणी तथा उनके अधिकारी-वर्ग, उनके शस्त्र और अस्त्र और सब अप्सराओं के गण इत्यादि सब-के-सब प्रयोज्य नहीं कहे गये हैं ॥५-७॥

दीक्षित, व्रती, पाखंडी, नास्तिक, क्षुधा से व्याकुल, व्याधि, बंधन, शस्त्र, अग्नि, तैल, रुधिर, पंक, धूलि, शूल और ज्वरादि से पीड़ित लोग, मत्त, उन्मत्त, जड़, नपुंसक, नंगे, अंधे और बहिरे आदि भी प्रयोज्य नहीं होने चाहिएँ ॥८-९॥

दोला की क्रीड़ाएँ, हाथियों का ग्रहण, देवासुर आदि के संग्राम, राजाओं की लड़ाइयां—ये भी भवन-भूषा में प्रशस्त नहीं कहे गये हैं ॥१०॥

प्राणियों का युद्ध और उनका विमर्दन तथा मृगया भी प्रशस्त नहीं कहे गये हैं। रौद्र, दीन, अद्भुत, त्रास, वीभत्स और करुण—ये रस भी प्रयोज्य नहीं कहे गये हैं तथा हास्य और श्रृंगार को छोड़ कर प्राणियों में अन्य रसों का प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥११-१२½॥

हस्ति-यान, अश्व-यान, रथ-यान, विमान और आयतन, प्रचंड अग्नि से जलते हुए भवन और वन, पुष्प और फलों से रहित वृक्ष तथा पक्षियों के वास से दूषित, एक शाखा अथवा दो शाखाओं वाले, रुक्ष, भग्न, टूटे हुए, सूखे हुए,

कोटर वाले ऐसे वृक्षों के साथ-साथ कदम्ब, शाल्मली, शेलु, तार, छार और लुक आदि वृक्ष भी भूतों के घर होने के कारण इष्ट नहीं कहे गये हैं। कड़ुवे तथा कांटेवाले पेड़ भी प्रशस्त नहीं कहे गये हैं। पक्षियों में गीध, उल्लू, कबूतर, बाज़, कौवा और कंक आदि प्रशस्त नहीं कहे गये हैं। रात्रिचर पक्षी भी इष्ट नहीं कहे गये हैं। वनचरों में हाथी, घोड़ा, भैंसा, ऊँट, बिल्ली, गधा, बन्दर, सिंह, व्याघ्र, तरक्षु, सुअर, हिरण, सिआर प्रशस्त नहीं कहे गये हैं और जो क्रव्याद (मांस-भक्षी) पशु-पक्षी हैं इन सब का घरों में प्रयोग नहीं करना चाहिये और जो पर्वत और जंगल में रहने वाले हैं उनको भी नहीं करना चाहिये क्योंकि इनके करने से आचार्य अर्थों से वियुक्त हो जाता है अर्थात् आचार्य को अर्थ-हानि उपस्थित हो जाती है। साथ ही साथ उसे घोर व्याधि एवं बन्धन भी उपस्थित होते हैं। जहाँ पर ऐसे प्रयोग होते हैं उस घर के गृह-स्वामी को भी धन-हानि, पराजय, प्रवास, बन्धन, नाश तथा मृत्यु शीघ्र प्राप्त होती है। इस प्रकार गृहस्थों के घरों में इन अप्रयोज्य वस्तुओं का वर्णन किया गया है ॥१२½-२०॥

प्रयोज्य—अब जो वहाँ पर प्रयोज्य हैं उनका वर्णन किया जाता है। जिसकी जिसमें भक्ति हो और जो जिसकी कुल-देवता हो उसको एक हाथ के प्रमाण से बनाता हुआ दोष को प्राप्त नहीं होता और भवन के दरवाजों के दोनों पार्श्वों पर दो अलंकृत प्रतिहारों का निवेश करना चाहिये। वे दोनों बेंत की छड़ी को हाथ में लिये हों; तलवार और उसकी म्यान को धारण किये हों; रूप और यौवन से युक्त तथा चित्र-विचित्र वस्त्रों और आभूषणों से सजे हुए हों। इस प्रकार दोनों प्रतीहारों को योजित करना चाहिये ॥२१-२३॥

सखियों से घिरी हुई, हंसाने वाले विदूषकों और कंचुकियों से अनुगत सुन्दर नारी-प्रतिहारियों को दरवाज़े के दोनों तरफ़ निवेशित करना चाहिये ॥२४-२५½॥

अपने अनुरूप, शंख और कमल के उज्ज्वल लक्षणों से चित्रित, मुख से निकलते हुए रत्न और अशर्फ़ियों के ढेरों को धारण करते हुए निधि (खजाने) प्रयोज्य हैं। इसी प्रकार पद्म पर बैठी हुई, पूर्ण कुम्भ वाली, रत्नों और वस्त्रों से विभूषित, टेढ़े एवं ऊँचे उठे हुए पुष्प, फल और पल्लव से भरे हुए पूर्ण कुम्भ, अंकुश, छत्र, श्रीवृक्ष (बेल), आदर्श (शीशा) और चामरों से उपलक्षित शंख और मछलियों की मालाओं से विभूषित **अष्टमंगला** गौरी का द्वार पर निवेशन करना चाहिये ॥२५½-२८½॥

द्वारमण्डल के मध्य भाग में स्थित, उत्तम गजों से स्नान कराई जाने

वाली, पद्मों पर बैठी हुई और पद्मों को हाथ में लिये हुए खूब सजी हुई लक्ष्मी का निवेश करना चाहिये ।।२८½-२९½।।

बैल को अपने बछड़े के साथ अथवा छत्र और माला से विभूपित धेनु की योजना भी विहित है। बाहरी और भीतरी भूमियों पर चित्र-विचित्र पत्र-लता का आलेख्य करना चाहिये जिसमें आहारार्थ निवेदित भक्ष्य फल वाले तथा नाना पुष्पों एवं फलों से झुके हुए एवं तिरछे स्थित वृक्ष दिखाई पड़ रहे हों। साथ-ही साथ उस पत्र-लता में दूसरे चित्रण हों जैसे कमलिनियों के पत्तों पर रहने वाले हंस, कारंड और चक्र आदि। अपनी सुन्दर बाहुओं से खेलते हुए कुमारों का भी उसमें चित्रण हो। विचित्र आभूषण और वस्त्र धारण किये हुए और रतिक्रीड़ा में संलग्न नारियाँ चित्रित हों। नायक को इच्छानुसार चित्रित करे और नारियों के चित्रण में उन्हें पीले शरीर की कान्ति वाली, थोड़े लेकिन सुन्दर भूपणों से सजी हुई, थोड़ी-सी शरम से झुकी तथा सुरतालस चित्रित करना चाहिये ।।२९½-३४½।।

उन्नत और ऊँची शाखा वाले पेड़ों से चलायमान लाल पत्ते वाले चम्पक, अशोक, पुन्नाग तथा नाना प्रकार के आम और तिलक आदि वृक्षों से एवं अन्य छाया-वृक्षों, पुष्पों और फलों से युक्त इसी प्रकार अन्य वृक्षों से भी उद्यान की भूमियाँ बनानी चाहियें, जहाँ पर कोयलें और भौंरे कूजन एवं गुञ्जन कर रहे हों ।।३४½-३६½।।

फल और पुष्पादि के अपने-अपने चिह्नों से अलंकृत तथा सुन्दर समयोचित विशेष पक्षियों से युक्त ऋतुओं का आलेख्य करना चाहिये। कादम्ब, हिरण, क्रौंच, हंस और सारस की मानों जंजीर पहने हुए, किनारे पर उगे हुए वानीर (बेंत) और केतकी के समूहों से मंडित, जल के भीतर लीन मछलियों से और नलनी-वनों से संच्छन्न (ढकी हुई) दीर्घिकाओं (वापियों) का, घर की दीवालों के नीचे के भागों पर, आलेखन करे ।।३६½-३९½।।

पान-भूमियों का ऐसा आलेख्य करे—उत्पल-सहित जहाँ पर पद्मिनी के पत्र बिछे हों और जहाँ पर ईक्षु-रस तथा फलादि भोग मणि अथवा कांचन के बर्तनों में रक्खे हों ।।३९½-४०½।।

विचित्र प्रकार से बाजे बजाने वाली, नृत्य गीत में विचक्षण, प्रसन्न-मुख, ललनाओं का प्रेक्षा (नाट्य-गृह) की भूमियों पर लेखन करना चाहिये ।।४०½-४१½।।

पिंजड़े में बैठे हुए चकोर, तोते और सारिकाएँ, प्रहृष्ट परपुष्ट (कोकिल) मयूर और मुर्गे भी प्रकल्प्य हैं। ये सब चीज़ें जो बतायी गई हैं वे सब प्रयोज्य

कही गई हैं तथा ये सभी उपकरणों में प्रशस्त मानी गई हैं ।।४१½-४३½।।

जैसा पहले अप्रयोज्यों में बताया गया उसी प्रकार विनिन्दित तथा चिल्लाते हुए देवयोनि-गण और पुरुष-गण पीठों, शय्याओं और आसनों पर प्रयोज्य नहीं ।।४३½-४४½।।

पहले कही गयी जो प्रयोज्य वस्तुएँ हैं वे कक्षाओं में और सभी देव-कुलों में भी शुभ मानी गई हैं ।।४४½-४५½।।

दिव्य-मानुष से सम्बंधित आख्यान और आख्यायिका आदि में जितने आलेख्य आदि शुभ कहे गये हैं, वे यहाँ सब शुभ कहे गये हैं ।।४५½-४६½।।

इस प्रकार से भवन, शयन-कक्षा और देवमन्दिरों आदि में प्रयोज्य तथा अप्रयोज्य का अपनी बुद्धि से वर्णन कर दिया । जो स्थपति इस कहने के अनुसार प्रयोज्य का निर्माण करता है और अप्रयोज्य का वर्जन करता है वह राजाओं का और कारीगरों का पूज्य होता है ।।४६½-४७½।।

द्वार-गुण दोष

इस प्रकार से अखिल कर्मोपजीवियों के गृहों* का वर्णन करने के बाद अब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र गृहस्थों के घरों का वर्णन किया जाता है ॥१॥

भल्लाट, धनद, चरक अथवा पृथिवीधर—इन पदों पर माहेन्द्र-द्वार उत्तम वेश्म ब्राह्मण के लिये बनाना चाहिये ॥२॥

माहेन्द्र, अर्क (सूर्य) अथवा सत्य या आर्यक—इन पदों पर गृहक्षत-द्वार शुभ निकेतन क्षत्रिय के लिये बनाना चाहिये ॥३॥

याम्य, वैवस्वत अथवा गन्धर्व या गृहक्षत—इन पदों पर पुष्प-द्वार शुभ भवन वैश्य के लिये बनाना चाहिये ॥४॥

वारुण, पौष्पदन्त अथवा मंत्र अथवा आसुर पदों पर भल्लाट-द्वार उत्तम सदन शूद्र के लिये बनाना चाहिये ॥५॥

ब्राह्मणों का वास्तु प्राङ्मुख और घर दक्षिणाभिमुख होवे तो धन और धान्य से तथा पुत्र और पौत्रों से उनकी वृद्धि होती है ॥६॥

क्षत्रियों का वास्तु दक्षिणाभिमुख तथा भवन पश्चिमाभिमुख यदि हो तो उनका धन, धान्य और पराक्रम बढ़ता है ॥७॥

वैश्यों के वास्तु का द्वार पश्चिम और भवन का द्वार उत्तर में यदि हो तो वहाँ पर वे धन, धान्य तथा पुत्र और पशु आदि से वृद्धि को प्राप्त होते हैं ॥८॥

यदि वास्तु उत्तर-द्वार वाला हो और गृह पूर्वाभिमुख हो तो शूद्र के लिये उसकी कर्मवृत्ति धन धान्य के साथ बढ़ती है ॥९॥

उत्सङ्गादि चार निवेश्य—एक ही शाला में शुभ तथा अशुभ चार निवेश्य-द्वार-भाग बताये गये हैं। वे हैं—उत्संग, हीनबाहु, पूर्णबाहु और प्रत्यक्षाय। उत्संग नामक द्वार-निवेश वह कहलाता है जहाँ पर एक ही दिशा वाले वास्तु और वेश्म के दरवाज़े हों। यह उत्संग सौभाग्य, संतान-वृद्धि, धन, धान्य और जय का देने वाला होता है। जहाँ पर प्रवेश करने पर वास्तु का घर बायें होता है, उस वास्तु को हीन-बाहुक नाम से वास्तु-विद्या-

* देखिये—वास्तु-मातृका, अ० १९

विशारदों ने निन्दित कहा है। उसमें रहने वाला व्यक्ति अल्प-वित्त (थोड़े धन वाला), स्वल्प-मित्र और अल्प-बान्धव तथा स्त्री-जित (स्त्री के द्वारा जीता गया) कहा गया है। वह वहाँ नित्य विविध व्याधियों से पीड़ित रहता है। वास्तु में प्रवेश करने पर यदि घर दायें होता है तो उसका प्रदक्षिण प्रवेश होने के कारण उसे पूर्ण-वाहुक जानना चाहिये। उस वास्तु में रहने वाले मनुष्य निश्चय ही पुत्र, पौत्र, धन, धान्य और सुख को प्राप्त करते हैं। घर के पीछे के भाग का आश्रय लेकर यदि वास्तु-द्वार होता है तो बायें भाग से इसका प्रवेश होने के कारण यह प्रत्यक्षाय नामक निन्दित वास्तु कहा गया है ॥१०-१७॥

ब्राह्मण मुख्य नामक पद-वास्तु में निवास करे और द्वि-नामक वास्तु में क्षत्रिय वास करे। वितथ में वैश्य और सुग्रीव में शूद्र निवास करे। ये सब वर्णों के अनुरूप क्रमशः विशेष भेद हैं। इस प्रकार वास्तु-द्वारों एवं निवेशों का वर्णन किया गया ॥१८-१९॥

भवन-भूमि-कल्पना—अब इसके बाद शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय एवं विप्र वर्णों तथा विजयाभिलाषी राजाओं के भवनों की भूमि-कल्पना का वर्णन किया जाता है ॥२०॥

शूद्रों का साढ़े तीन भूमि वाला भवन कल्याण के लिये होता है। इससे बढ़कर जो होता है वह कुल का क्षय करता है ॥२१॥

साढ़े पांच भूमि वाला भवन वैश्य का घर वृद्धि करता है और इस प्रमाण को अतिक्रमण करने पर धन और बन्धु का नाश कहा गया है ॥२२॥

साढ़े छे तल वाला क्षत्रिय का श्रेष्ठ घर सम्पत्ति, बल और समृद्धि का करने वाला होता है और इस प्रमाण के अतिरिक्त बनाया गया मकान उस सम्पत्ति और बल का नाश करता है ॥२३॥

साढ़े सात खंड वाला श्रेष्ठ मकान विप्र (ब्राह्मण) का होता है। वह स्वाध्याय, आचार और भोग के लिये अच्छा माना गया है और अधिक ऊँचा भयावह माना गया है ॥२४॥

राजसूय आदि यज्ञों से जो राजा यज्ञ करते हैं अर्थात् राजसूय आदि यज्ञ करने वाले राजाओं के उत्तम भवन साढ़े आठ तलों के बनवाये जाने चाहियें। जो अनेक यज्ञों का करने वाला राजा अथवा राजाधिप हो उसका भी उत्तम भवन साढ़े आठ खंड का ही बनवाना चाहिये ॥२५-२६॥

जो द्विज (ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य) वाजपेय यज्ञ का समाहित-चित्त होकर करने वाला है अथवा जो द्विज एक कोटि गौवों का दाता होता है वह भी उसमें (साढ़े आठ तल वाले भवन में) निडर निवास करे ॥२७॥

जैसा प्रमाण बताया गया है उसी प्रमाणानुकूल भवनों में राजा आदि लोग बड़ी भारी वृद्धि को प्राप्त होते हैं। इसके प्रतिकूल अवृद्धि के भागी बनते हैं। पीठ और तल सहित वेश्म का साधारण मान सम्प्रकीर्तित किया गया है। अब इन भवनों की ऊँचाई के सम्बन्ध में बताया जाता है। साधारण हस्त के प्रमाण से शूद्र का भवन २० हाथ ऊँचा विहित है। वैश्य के ४०, क्षत्रिय के ६०, ब्राह्मण के ८० और राजा के १०० हाथ के प्रमाण की भवन की ऊँचाई प्रशस्त मानी गयी है। इससे अधिक ऊँचा प्रमाण मनुष्यों के लिए प्रशस्त नहीं कहा गया है ॥२८-३१½॥

देवों, दानवों, दैत्यों, पिशाचों, नागों, राक्षसों, सिद्धों, गन्धवों और यक्षों के भवन इस प्रमाण से अधिक प्रमाण वाले बनाने चाहिएँ ॥३१½-३२½॥

शूद्र का मकान एक खंड से कम नहीं होना चाहिए और दो खंड से कम क्षत्रिय का, ढाई से कम विप्र का और तीन से कम राजा का नहीं होना चाहिए ॥३२½-३४½॥

इन प्रतिपादित नियमों से हीन प्रमाण से यदि किसी अनभिज्ञ स्थपति के द्वारा यथाकथंचित भवन निष्पन्न भी हो जाता है तो वह घर गृह-स्वामी के भय के लिए, सिद्धि-विनाश के लिए तथा उत्तमशील आदि के विपर्यय के लिए होता है। सब वास्तुओं में द्वारों के गुणों एवं दोषों का अब वर्णन करता हूँ। वह द्वार ऋद्धिदायक कहलाता है जो सुस्थित, चोकोर, सुन्दर, अपने द्रव्य से योजित, ऋजु, अपने दिग्भाग में न छोटा, न ऊँचा, न कम, न टेढ़ा और न पिण्डित और न वहिर्गत, न आध्मात और न कृश, न मध्य भाग में और न अन्तर कुक्षियों में गत और न वह विस्तृत हो न संक्षिप्त हो ॥३४½-३७॥

पद के मध्य भाग में दक्षिण, पद के बारहवें भाग में संस्थापित द्वार वृद्धि को प्राप्त होता है और पुष्टि करता है ॥३८॥

द्वार-वेध—गली, चबूतरे, शृङ्गाट, वापी, कूप, कुम्भकों, कोणों, वृक्षों भवन-स्यन्दन आदिकों से जो दरवाजा वेध को प्राप्त होता है वह शुभ नहीं होता ॥३९-४०½॥

मकान के एक द्वार के भीतर दूसरे द्वार का प्रवेश नहीं करना चाहिए। दूसरे दरवाजे पर एक पेद्या का प्रवेश कभी न करे। सीढ़ी और खिड़की इन दोनों की पेद्या में द्वार का प्रवेश न करे। बुद्धिमान स्थपति किसी प्रकार भी पक्ष-द्वार की एक पेद्या में तथा दरवाजे के भीतर बाहर कहीं पर प्रवेश न करावे। यदि ऐसा किया जाता है तो बड़ा दोष होता है। लोगों के घर में तोरण, गोपुर-द्वार, अट्ट (अटारी) हों और उन घरों में मौलिक द्वार तथा इन

सवों को श्रोत्र में प्रवेश करावे ।।४०½-४४½।।

ऊपर-ऊपर खंडों में द्वार पर द्वार बनाना चाहिए अन्यथा नहीं । अथवा प्रदक्षिण से ही यह करना चाहिए । इसके अतिरिक्त पुनः और किसी प्रकार से नहीं विहित है ।।४४½-४५।।

खंडों के ऊपर-ऊपर मुख दाहिने करना चाहिए और बायें से द्वार और सीढ़ियाँ नहीं बनानी चाहिएँ ।।४६।।

जिस दीवाल पर पहले दरवाज़ा बनाया गया हो उसी दीवाल पर ऊपर भी बनाना चाहिए तथा दूसरी दीवाल पर वह दरवाज़ा दायीं ओर (प्रदक्षिण) बनाना चाहिए ।।४७।।

घर के मध्य भाग में और पद के मध्य भाग में द्वार नहीं बनाना चाहिए । न स्थूल में, न पद में, न सिरापात में वह इष्ट है ।।४८।।

विना अंश स्थित, कुछ टेढ़े, क्रान्त द्रव्यों से मर्मवेध दोषावह नहीं होता और द्वारवेध भी कहीं ऐसी अवस्था में दोषावह नहीं माना जाता ।।४९।।

यवन की अटारी की छाया और पुर के देवकुल की छाया, सोम और सूर्य की रश्मियाँ गृह-द्वार पर प्रवेश नहीं करनी चाहिएँ ।।५०।।

न प्राकार से और न कुड्य और न फिर विटंक से द्वार-मर्मों को अन्तर्हित करना चाहिए क्योंकि ऐसा करने से कहीं-कहीं दोष हो जाता है ।।५१।।

द्वार-दोष—वेधादि—द्वार के बहुत उच्च होने पर राजा से भय और नीचा होने पर चोर से भय और टेढ़े होने पर कुल को पीड़ा और बाहर निकल जाने पर पराभव, आध्मात होने पर अत्यन्त दारिद्रय और मध्य भाग में कृश होने पर रोग, रथ्या से वेध होने पर रोग, चबूतरे से वेध होने पर मरण, शृङ्गाटक से विद्ध होने पर पुत्रियों का वैधव्य, वापी अथवा कूप से विद्ध होने पर अतिसार रोग से भय, कोने से विद्ध होने पर मृत्यु-भय, वृक्षों से वेध होने पर रोग-भय, खम्भे से स्वामी का मरण, भ्रम से विद्ध होने पर धन-हानि, पनाले से बड़ा दुःख, बड़ा भय, बड़ा कलि—ये सब वेध-दोष उपस्थित होते हैं। इसलिए सब प्रयत्न करके द्वार-वेध नहीं होने देना चाहिए ।।५२-५६।।

जिस घर के आगे और पीछे से दोनों दीवालों के दरवाजे दोनों आपस में विद्ध होते हैं उस वास्तु को **भिन्न-देह** के नाम से कहा जाता है और वह स्वामी के लिए अशुभ करने वाला होता है। वहाँ पर स्थापित किसी भी वस्तु की वृद्धि नहीं होती ।।५७-५८।।

गृह की कुक्षि में निर्मित द्वार सर्वरोग-भयंकर कहा गया है ।।५९½।।

माहेन्द्र-संज्ञक, सब मनोरथों को देने वाला, पूर्वाभिमुख द्वार प्रशस्त

कहा गया है। दक्षिण-द्वार गृहक्षत शुभ कहा गया है। गन्धर्व नामक द्वार भी कल्याण के लिए सदा बनाना चाहिए। जयावह पुष्पदन्त नामक द्वार पश्चिम में प्रशस्त कहा गया है। भल्लाट नामक उत्तराभिमुख गृहस्वामी का द्वार प्रशस्त कहा गया है ॥५६½-६१॥

एकाशीति पद वाले उस चौकोर वास्तु में जो अपदक द्वार हैं उनके आदि से अन्त तक सब फलों का वर्णन करता हूँ। यदि पूर्व से विपरीत दिशा में द्वार तथा दक्षिण से विपरीत दिशा में द्वार-सन्निवेश हो तो सुत और पराक्रम का नाश होता है। आनुकूल्य में सुत की प्राप्ति प्रेष्य आदि लाभ, अग्निभय, स्त्रीजय, ऐश्वर्य, राजा से प्रियता, क्रोध में असत्यता और मनुष्य की क्रूरता क्रमशः पूर्ववत कही गई है ॥६२-६३॥

इसी प्रकार पुत्र की प्राप्ति, नौकरों की नीचता हो। भोजन, वाहन व पुत्र की सम्पत्ति करने वाला हो। ईशान में कृतघ्न और अवश हो और दक्षिण में पुत्र व बल की हानि करने वाला हो। अपरोन्मुखों में सुत की पीड़ा, रिपु की वृद्धि, अर्थ और सुत का अलाभ तथा अर्थनाश बताये गए हैं। इसी प्रकार नैर्ऋत्य दिशा के प्रातिकूल्य में बन्धु-व्यसन रिपु-वृद्धि, स्त्री-क्लेशादि उत्पन्न होते हैं। द्वार-समाश्रित जो गुण और दोष हैं उनका ठीक तरह से निरूपण कर दिया गया। उन गुण-दोषों को शास्त्रज्ञ तथा शिल्पज्ञ स्थपति जान कर संसार में पूजा को प्राप्त करते हैं ॥६४-६७॥

द्वार-भंग-फल

जो यहाँ पर नवकर्म प्रतिपादित किया गया है वह यज्ञ में, गृह में, ग्राम में, पुर में तथा नगर और पत्तन में भी जानना चाहिए ॥१॥

इन सब में अर्थात् सर्वत्र ही बाहुओं में (मान-दण्डों में) संस्थान, आकार, मान और ह्रास तथा वृद्धि विचक्षण स्थपति एक ही समान जाने ॥२॥

यूप (यज्ञ-स्तम्भ) की ही लकड़ी के समान गृह-दारु-कर्म में निमित्तों को देखना चाहिए। पात में पात और तक्षण में तक्षण जानना चाहिए ॥३॥

यूप की ऊँचाई के समान लकड़ियों की भी ऊँचाई समझनी चाहिए। उनके भंग से भंग और समाधि से समाधि निर्दिष्ट की जानी चाहिए ॥४॥

नवीन कर्म में जो चीज स्निग्ध अर्थात् सुश्लिष्ट, सुगन्धित तथा प्रियदर्शन हो वह मनुष्यों के लिए धन्य कही गयी है। यदि पुर या ग्राम अथवा गृह निष्प्रभ मालूम हो तो उसे इस प्रकार के लक्षणों से आयास-बहुल समझना चाहिए ॥५-६॥

नवीन कर्म में जो वास्तु परिध्वस्तोपम तथा रुक्ष प्रतीत होती है तो उस वेश्म में श्रम, रोग तथा शोक अवश्यम्भावी समझना चाहिए ॥७॥

मनुष्यों से व्याप्त होने पर भी जो भवन निश्छाय अर्थात् कान्ति-विहीन दिखलाई पड़े वहाँ पर गृहस्वामी छे महीने तक भी जीवित नहीं रहता है, इसमें संशय नहीं ॥८॥

जो वेश्म अथवा पुर शून्य होता हुआ भी अशून्य-सा लगता हो वह सब कामनाओं और गुणों से युक्त धन्य समझना चाहिए ॥९॥

नगर का पूर्व भाग यदि रम्य तथा प्रिय-दर्शन दिखलाई पड़े तो राजा के लिए प्रिय-भार्या, मनःस्वास्थ्य, धन और धान्य प्राप्त होते हैं ॥१०॥

पुर का यदि पूर्व-दक्षिण भाग प्रिय-दर्शन हो तो राजा को महद् यश और पुष्कल हेम की प्राप्ति होती है ॥११॥

पुर का दक्षिण भाग जब रमणीय प्रतीत होता है तो राजा को सेना-पति की प्राप्ति तथा पुष्कल धन-धान्य प्राप्त होता है ॥१२॥

पुनः पुर का दक्षिण-पश्चिम भाग यदि रमणीय प्रतीत होता है तो राजा

की अर्थ-सम्पत्ति और प्रजा-वृद्धि निश्चित है ॥१३॥

पुर के पश्चिम भाग के रमणीय होने पर राजा पुत्रों, बन्धुओं एवं धान्य आदि से सम्पन्न होता है और उत्कृष्ट उन्नति को भी प्राप्त करता है ॥१४॥

पश्चिमोत्तर भाग के रमणीय होने पर राजा की, नौकरों, पुत्रों और वाहनों से, उत्तरोत्तर वृद्धि होती है ॥१५॥

पुर के उत्तर भाग के रमणीय होने पर राजा सब शत्रुओं पर विजय प्राप्त करता है और पुरोहित की वृद्धि होती है ॥१६॥

यदि पुर का पूर्वोत्तर भाग सुन्दर हो तो वहाँ पर राजा का शीघ्र उत्तरोत्तर आनन्द समझना चाहिए ॥१७॥

पुर आदि के बन जाने पर जो भाग सुन्दर न दिखाई पड़े उसके उसी भाग की क्षति समझनी चाहिए ॥१८॥

यदि नवीन पुर-द्वार में किवाड़ टूट जाता है तो उससे स्त्रीनाम वाली किसी वस्तु का अथवा स्वयं स्त्री का नाश समझना चाहिए ॥१९॥

देव-मंदिर में, पुर-द्वार में, प्राकार में, अट्टालिकाओं में, हस्ति-शालाओं में, अश्व-शालाओं में, रथ-शालाओं में, कोष्ठागार और आयुधागार में यदि कोई शुभ अथवा अशुभ निमित्त दिखाई पड़े तो वह राजा को बता देना चाहिए ॥२०-२१॥

जहाँ ऊर्ध्ववंश का भंग दिखलाई पड़े वहाँ राजा विनाश को प्राप्त होता है ॥२२½॥

नवीन कर्म में अर्गला, पीलिका और कुंची के भंग होने पर यदि ग्राम में इनका नाश होता है तो ग्राम नष्ट होता है। जो राष्ट्रों अर्थात् राज्यों के लिए दिगुत्थित अशुभ है वही कुटुम्बियों के लिए गृह-निर्माण में भी अपशकुन है। नवीन कर्म में यदि कोई चीज़ टूट जाती है अथवा नम जाती है अथवा विध्वस्त हो जाती है या फट जाती है तो कुटुम्बी का मरण निश्चित है ॥२२½-२४॥

नव-निर्मित गृह में सब निमित्तों में शुभ अथवा अशुभ फल अधिक से अधिक एक साल लेना चाहिए। एक साल के बाद तो उसे पुराना निर्दिष्ट कर देना चाहिए ॥२५-२६½॥

नवीन कर्म के सम्पन्न हो जाने पर जहाँ पर तुम्बिका टूट जाती है वहाँ की श्रेष्ठ महिला छे महीनों में विनाश को प्राप्त होती है ॥२६½-२७½॥

इसी प्रकार से जिसका नवीन सदन विनष्ट हो जाता है, वह नौकर, प्रेष्य तथा दास आदि के विश्वास से नाश को प्राप्त हो जाता है ॥२७½-२८½॥

जिस भवन के नव-कर्म में नवीन पृष्ठ-वंश फट जाता है वहाँ पर कुटुम्बी एक साल के अन्दर मर जाता है और उसके विशेष रूप से फट जाने पर नौकर मर जाता है ।।२८½-२९।।

लुमाओं के टूटने पर कन्या का मरण आदिष्ट किया गया है और मुंडकों के नष्ट होने पर मित्र का नाश कहा गया है ।।३०।।

अनुपूर्वों के फट जाने पर पुत्रों का मरण ध्रुव समझना चाहिए और मुंड-गोधाओं की विपत्ति में कुटुम्बी की माता का विनाश कहा गया है ।।३१।।

नाग-पाशक के भंग होने पर भृत्यों का मरण बताया गया है। कपाट में भ्रातृ-मरण और अर्गला में स्त्रीमरण होता है ।।३२।।

अर्गला के पार्श्व के विनष्ट होने पर पुत्र का मरण कहा गया है और द्वार-वंध के विनष्ट होने पर तो शीघ्र कुलक्षय समझना चाहिए ।।३३।।

जिसका दृढ़ इन्द्रकील मूल से फट जाता है उसके पुत्र सहित पशुवर्ग की कुल-क्षति बतायी गयी है ।।३४।।

जिसका तोरण टूट जाता है उसका द्रव्य नष्ट होता है और गृह-स्वामी का मरण तेरह दिन में समझना चाहिए ।।३५।।

वास्तु के मध्य भाग के विनष्ट होने पर कुल का वृद्ध विनाश को प्राप्त होता है। जहाँ पर नव कर्म के सम्पन्न होने पर सोपान भिन्न हो जाता है, उसके नौकर, गौवें और सोना विनाश को प्राप्त होते हैं ।।३६-३७½।।

जिसकी वेदिका फट जाती है उसकी भार्या विनाश को प्राप्त होती है ।।३७½-३७।।

गवाक्ष यदि नष्ट हो जावे अथवा दृढ़ पट्ट-स्तम्भ या गज-शुण्ड नष्ट हो जावे अथवा अश्व या नवीन कपोतालियां और स्थपनी-पट्टिकाएँ फट जावें तो स्त्री का विनाश समझना चाहिए ।।३८-३९½।।

विटंक के अथवा तुला के किसी प्रकार भंग होने पर अथवा शाला-स्तम्भ के विनाश होने पर गृहस्वामी की भार्या नष्ट हो जाती है ।।३९½-४०½।।

स्तम्भ का शीर्ष यदि नष्ट हो जावे अथवा फट जावे अथवा वह मजबूत खंभा ही टूट जावे अथवा प्रतिमोक का भंग उपस्थित हो तो स्वामी का वध होता है। भंगवाहिनी अर्थात् जल-निर्गम-मार्ग के नष्ट होने पर कुल के वृद्ध का वध समझना चाहिए। इसी प्रकार आकाश-तलक के प्रति छिद्र होने पर पुत्र और कुटुम्बी छे महीने के अन्दर नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई संशय नहीं ।।४०½-४२।।

प्रासाद-मंडल के भग्न होने पर और बलभियों के भग्न होने पर गृह-स्वामी की भार्या का निस्संदेह नाश होता है ।।४३।।

प्रलीन अथवा विलीन प्रासाद जब नष्ट हो जाता है तो प्रलीन में भृत्य की मृत्यु और विलीन में धनक्षय कहा गया है ॥४४॥

मिश्र प्रासाद के नष्ट होने पर सब वृद्धियां नष्ट हो जाती हैं अथवा वहीं पर मरण होता है अथवा कुष्ट की व्याधि निर्दिष्ट की गयी है ॥४५॥

जिन जिन स्थानों में भंग अथवा विनति प्रकीर्तित हुई वहाँ पर उसका फल यह है कि कोई-न-कोई उपद्रव अथवा विघात उपस्थित होता है ॥४६॥

दृढ़ता से युक्त यदि वे स्थान सुन्दर दिखलायी पड़ते हैं तो धन, आयु, तथा हर्ष समझना चाहिए ॥४७॥

कर्णिका के बीच की स्थूणा अथवा शालापाद यदि नष्ट हो जाता है तो गृह-स्वामी अवश्य दुःख को प्राप्त होता है—इसमें संशय नहीं ॥४८॥

इसलिए सचेत एवं बुद्धिमान् स्थपति इस बलाबल का संप्रधारण करके ही बल, धन, आयु और यश की प्राप्ति करता है ॥४९॥

इस प्रकार से सूचित किये गए निमित्तों के बलाबल को समझकर जो मतिमान तथा शास्त्रज्ञ व्यक्ति स्पष्ट आदेश करता है वह यश तथा धन को प्राप्त करता है तथा भवनों का भोग करता है ॥५०॥

तोरण-भङ्गादि-शान्तिक

पुराना अथवा नया बनाया गया अथवा अर्ध-निर्मित देवताओं का अथवा राजाओं का तोरण, यदि गिर जावे, टूट जावे, जल जावे अथवा लच जावे, सट जावे या दावाग्नि, बिजली और जल आदि से वह कदाचित् नष्ट हो जावे तो उनके दोषों का वर्णन करता हूँ और साथ ही साथ शान्ति का उपाय बताता हूँ ॥१-३½॥

यदि सम्पूर्ण तोरण गिर जावे अथवा किसी का शिर किसी तरफ़ गिर जावे तो राजाओं के लिए, सेनापतियों के लिए, प्रतीहारों और पुरोहितों के लिए, प्रधान घोड़ों और हाथियों के लिए, ब्राह्मणों और पुरवासियों के लिए मृत्यु-भय समझना चाहिए और इस शकुन से दुर्भिक्ष भी निर्दिष्ट किया गया है। इसलिए उसकी शान्ति के लिए विद्वान् को यह विधान करना चाहिए—धीर स्थपति, यज्ञकर्ता ब्राह्मणों और पुरोहितों के साथ, नगर की चारों दिशाओं में रात में सहोम बलि देवे। कोनों पर, चत्वरों पर, शृङ्गाटों में, राजवेश्म में, इन स्थानों में ब्राह्मणों आदि से अक्षत सहित सुगन्धित द्रव्यों से, कलशों से, सफ़ेद मालाओं और वस्त्रों से ढकी हुई वेदी का निष्पादन करवा कर वहाँ पर शान्ति-कारक होम और बलि करवाना चाहिए। इस प्रकार से जो कुछ पाप अथवा दोष उत्थित होता है वह सब शान्त हो जाता है ॥३½-९½॥

तोरण का भङ्ग राष्ट्र-भङ्ग निर्देश करता है अतः इसकी शान्ति के लिए पूर्व-प्रतिपादित विधान करवाना चाहिए ॥९½-१०½॥

यदि नगर में कोई एक तोरण भी जल जावे तो राष्ट्र और नगर के लिए अग्निभय समझना चाहिए और बाहर तथा भीतर ब्राह्मणों को इसी विधि का प्रयोग करना चाहिए ॥१०½-११॥

तोरण के नत अथवा शीर्ण अथवा भग्न होने पर व्याधि एवं पीड़ा विनिर्दिष्ट होती है। अतः पुनः संस्कार के लिए होम और बलि करना चाहिये ॥१२॥

हवा से अथवा बिजली से यदि तोरण टूट जावे तो उसमें रोग प्रवर्तित होते हैं और कुल की पीड़ा और धन का क्षय भी आपतित होता है। अतः

शान्ति-कर्म करना चाहिए जिससे वह शान्तिकर हो जावे। इस प्रकार से पहले शान्ति करने के बाद फिर संस्कार करना चाहिए ॥१३-१४॥

संस्कार में यह आवश्यक है कि पूर्व तोरण से इस तोरण का विशिष्ट निर्माण होना चाहिए। दृढ़ द्रव्यों से युक्त, दृढ़ सन्धियों से निगूढ़, विविध रूप-कर्म से युक्त, मनोरम, सुस्थान वाला, अकुब्ज, अनत और पहले से उत्कृष्टतर बना कर उसका न्यास करे और फिर ब्राह्मणों से शान्ति-पाठ करावे ॥१५-१७½॥

पुराने अथवा नये बनाए हुए अथवा आधे बनाए हुए प्रासाद में अथवा घर में यदि कबूतर प्रवेश कर जावे तो दोष पैदा होते हैं और उसी प्रकार से शान्ति-कर्म करना चाहिए ॥१७½-१८॥

चतुर्विध कपोत तथा तत्प्रवेश-दोष—यह कपोत पाप की जड़ है वह नीच पक्षी कहलाता है। यह साक्षात् काल-मूर्ति माना गया है। तपोधन मुनियों के द्वारा यह चार प्रकार का कबूतर बताया गया है—श्वेत, विचित्र-कण्ठ, विचित्र तथा कृष्णक। यदि भवन में कहीं पर श्वेत कबूतर प्रविष्ट कर जावे तो कीर्ति, विद्या, धन, पुण्य शीघ्र नष्ट हो जाते हैं और नित्य रोग बढ़ते हैं तथा शिशु-पीड़ा होती है। विचित्र-कंठ कबूतर स्त्री को नाश करता है और विचित्र सब पुत्रों को नष्ट करता है। सब सिद्धियों को खराब कर कृष्णक कबूतर कुल का नाश करता है। सब प्रकार के रोग बढ़ते हैं, विपदाएँ और व्यसन तथा बन्धन आदि इस कपोताधम के प्रविष्ट होने पर आपतित होते हैं। इसलिए यत्नपूर्वक प्रायश्चित्त करना चाहिए ॥१९-२४॥

कपोत-प्रवेश पर प्रायश्चित्त-विधान—स्नान कर, त्रैकालिक सन्ध्योपासन से शुद्धात्मा होकर, उपवास रखकर, इन्द्रियों को वश में रखकर, देवताओं के पूजार्चन में रत, नित्य दान देता हुआ पवित्र, केवल यवान्न का भोजन करता हुआ, नित्य हवन करता हुआ, गुरुओं और ब्राह्मणों में भक्ति रखता हुआ, सफ़ेद वस्त्र और माला पहने हुए गृह-स्वामी को अपनी गृहिणी के साथ इस व्रत का आचरण करना चाहिये—श्वेत कपोत में पाँच रातें, चित्र-कंठ में दस रातें, विचित्र में पन्द्रह दिन और कृष्णक में बीस दिन तक व्रत में स्थित होकर मनोरम अग्निकार्य करना चाहिए। फिर यथालाभ उसका सपिच्छ शरीर लाकर उसके खंड-खंड काटे और उसके ८०० टुकड़े करे और फिर उसी से होम करे। घी में सान कर पुण्य मधु अर्थात् शहद से और लाजाओं से युक्त कर पञ्चवारुण संज्ञा वाले मन्त्रों से, अक्षतों से, अग्नि-कार्य सम्पादन करके वह मन्त्रवित, तदनन्तर हव्य मात्रा से मांस की आहुति देवे। मांस की आहुति देने के उपरान्त दूध, दही, शहद और घृत से आहुति देवे और फिर सब ग्रहों की

पूजा करें तथा फिर ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन करावे। तदनन्तर अपने धन का श्वेत कपोत की शान्ति में एक चौथाई भाग ब्राह्मणों को अर्पण करे, चित्र-कंठ में आधा, सर्व-चित्रक में तीन चौथाई और कृष्णक में सब धन ब्राह्मणों को दे देवें। इस प्रकार से घर में सब दोषों का निराकरण करने वाली शान्ति होती है। गृह-स्वामी महती श्री को प्राप्त करता है और उसे धन-लाभ भी होता है। पुत्रों तथा पौत्रों से वृद्धि को प्राप्त करता है और वह संयत आत्मा दीर्घायु को प्राप्त करता है तथा वह इस प्रकार की शान्ति करके, जिस प्रकार शरत्कालीन चन्द्र मेघों से मुक्त होकर उज्ज्वलता को प्राप्त करता है, उसी के समान वह सब पापों से विमुक्त होता है ॥२५-३५॥

गृह-दोष-निरूपण

अब गृह आदि के अप्रशस्त-समुच्छ्रित दोषों का संग्रह किया जाता है; क्योंकि एक ही जगह कहा हुआ सुन्दर होता है। इसलिए ये सब हम यहाँ एक स्थान पर कहते हैं ॥१॥

सर्वप्रथम भूमि-प्लव पर विचार करते हैं। नैऋत्य, वारुण, याम्य, वायव्य, आग्नेय इन दिशाओं की ओर जो भूमि निचली होती है वह निन्दित कही गई है। इसी प्रकार मध्य-प्लवा अर्थात् बीच में निचली भूमि व्याधि देती है। अरकावही भूमि दारिद्र्य लाती है। वह्नि-प्लवा भूमि अग्नि का भय लाती है, दक्षिण-प्लवा मृत्यु लाती है, रक्ष-प्लवा रोग लाती है और पश्चिम-प्लवा धान्य और धन का नाश करती है ॥२-३॥

मरुत्प्लवा भूमि कलह, प्रवास और रोग को लाती है तथा मध्य-प्लवा जो भूमि होती है वह सर्वनाश का कारण बनती है ॥४॥

तुषा (भूसी), हड्डी, केश, कीड़ों की खाल, शंख, भस्म, ऊपर आदि से युक्त तथा कर्परों और अंगारों वाली, दुष्ट जन्तुओं एवं मनुष्यों वाली भूमि त्याज्य कही गई है ॥५॥

चैत्र में भवन-निर्माण करने पर वह शोक-कारक वेश्म कहा गया है। ज्येष्ठ में मृत्यु-प्रदायक, आषाढ़ में पशु-नाश करने वाला, भाद्रपद में सूना, आश्विन में लड़ाई-झगड़ा वाला, कार्तिक में नौकरों का नाश करने वाला और माघ में अग्निभय देने वाला होता है। अतः इन महीनों में वेश्म का निर्माण नहीं कराना चाहिए ॥६-७॥

वह्नि के पद में तथा पृष्ठ-वंश के पश्चिम भाग में तथा पूर्व-प्रासाद-कर्ण में कील (स्तम्भ) आदि की योजना पूर्व दिशा में विहित है ॥८॥

पूर्व-पश्चिम-दिङ्मूढ वास्तु स्त्री-नाश करने वाला होता है और उत्तर-दिङ्मूढ-वास्तु निर्माण-समाप्ति को प्राप्त नहीं होता है। वह मृत्यु-दायक कहा गया है, अतः पुर में प्रासाद एवं मन्दिर का निर्माण पूर्वाभिमुख प्रशस्त माना गया है ॥९-१०॥

वलित, चलित, भ्रान्त तथा विमूत्र वास्तु त्याज्य कहा गया है। जो

वास्तु मुख-विनिष्क्रान्त होता है उसे वलित कहते हैं ॥११॥

पृष्ठ-विनिष्क्रान्त-वास्तु को चलित कहते हैं। भ्रान्त-संज्ञक वास्तु दिङ्मूढ होता है और कर्ण-हीन प्रासाद विसूत्र कहलाता है। अब इनका फल कहता हूँ ॥१२॥

वलित में स्थान-चलन, चलित में लड़ाई-झगड़ा, भ्रान्त में स्त्री-विनाश तथा विसूत्र भूरि-शत्रु-कारक कहा गया है ॥१३॥

मूषकोत्कर तथा बांबी वाली और सर्प के समान टेढ़ी, छिन्न, भिन्न और विकर्ण भूमि वास्तु-कर्म में शुभ नहीं मानी गई है ॥१४॥

मूषकोत्कर भूमि अर्थ का नाश करती है; वल्मीकिनी (बांबी वाली) सुत का नाश करती है; विकर्ण-भूमि कर्ण-रोग पैदा करती है। छिन्ना विनाश करने वाली, भिन्ना भेद करने वाली तथा कुटिला भूमि मति में वक्रता लाने वाली कही गई है ॥१५॥

पाद सहित अथवा तीन भाग सहित या डेढ़ और दुगुना ही जो मुखायत वेश्म होता है वह अनिष्ट-फल-दायक कहा गया है। जो द्विशाल, त्रिशाल अथवा चतुःशाल भवन मूषा-रहित होता है वह भी अनिष्ट-फल-प्रदायक कहा गया है। सामने से, पीछे से अथवा बग़ल से यदि अलिन्द-वर्जित शाला होती है तो वह गृह में प्रशस्त नहीं कही गई। हाँ, देव-मन्दिर में ठीक है ॥१६-१८॥

दूसरे घर के पृष्ठ पर स्थित द्वार वाला वेश्म खावक कहा गया है। ऐसा वह वेश्म दोनों गृह-स्वामियों के लिए परस्पर विरोध के लिए होता है ॥१९॥

वेश्म-मर्म-दोष-चतुष्टय—वेश्मों के चार मर्म-दोष कहे गए हैं—सशल्य, पादहीन, समसन्धि तथा शिरोगुरु। वास्तु-क्षेत्र के जिस अंग में जिसका रास्ता प्रवर्तित होता है उस वास्तु का उस भाग मे वह अंग छिन्न निर्दिष्ट किया गया है। उस छिन्नांग भवन को विकल कहते हैं और वह भयदायक तथा सर्वदोषकारक कहलाता है। वह गृह-स्वामी के उसी अंग का भंग करता है जिससे वह स्वयं छिन्न अथवा विकल है। उसका वेध भी अन्यथा फल वाला होता है ॥२०-२२॥

यदि मार्ग का अपने दोनों घरों के मध्य से निर्वाह होता है तो द्वार-वेध प्रतिपादित दोषों को निश्चय ही वह प्राप्त होता है ॥२३॥

दोनों घरों के पार्श्वों में जब एक ही मार्ग जाता है तो उसे मार्गवेध-कहते हैं और वह शोक एवं सन्ताप-कारक होता है ॥२४॥

उत्सङ्गादि-प्रवेश-चतुष्टय—प्रवेश चार बताये गए हैं—उत्संग, पूर्णबाहु, हीनबाहु और प्रत्यक्षाय ॥२५॥

जहाँ पर वास्तु का द्वार गृह के सम्मुख होता है उसको उत्संग कहते हैं। प्रदक्षिण (गृह के दक्षिण भाग में) प्रवेश से पूर्णबाहु, बायें से हीनबाहु और पीछे से वास्तु-प्रवेश को विद्वानों ने प्रत्यक्षाय नाम से समुद्दिष्ट किया है ॥२६-२७॥

उत्सङ्ग नामक प्रवेश में कुटुम्बी की सन्तान-हानि होती है अथवा उसके धन, धान्य का नाश होता है या उसकी निश्चय मृत्यु कही गई है। पूर्ण-बाहु वास्तु में बसने वाले स्वामी को पुत्र-पौत्र एवं नित्य धन-धान्य सुख प्राप्त होते हैं। हीनबाहु-प्रवेश में घर का मालिक अल्प-मित्र, अत्यल्प-बान्धव वाला अथवा अल्प-वित्त होता है। वह स्त्रियों से जित और रोगों से पीड़ित रहता है। जिस वेश्म में प्रत्यक्षाय प्रवेश विहित होता है उसमें रहने वाले मनुष्यों का निश्चित धन-नाश होता है ॥२८-३१॥

मूषाओं की अ-स्थान-योजना से शाला-भेद दोष प्राप्त होता है। वहाँ पर रहने वाला मनुष्य मृत्यु-दुःख एवं रुग्णता को प्राप्त करता है ॥३२॥

उत्तर-दक्षिण शालाओं में और पूर्व-पश्चिम-अभिमुख शालाओं में अन्यथा-स्थित द्वार वध-कारक एवं बन्धन-कारक होता है ॥३३॥

मूषागत भ्रमों को तो करना चाहिए परन्तु शाला का भेदन नहीं करना चाहिए क्योंकि भ्रम-भग्न शालाओं में कुटुम्बी विपत्ति प्राप्त करते हैं। जहाँ पर पीछे से अथवा बग़ल से शाला-भेद होता है वहाँ पर निश्चित रूप से गृह-स्वामी का धन-नाश कहा गया है ॥३४-३५॥

जहाँ पर पश्चिमाभिमुख दो शालाएँ होती हैं उसे विकोकिल संज्ञक भवन कहते हैं; वहाँ पर रहने वालों की आयु, पशु तथा धान्य नाश को प्राप्त होते हैं ॥३६॥

सीमा-शाला में प्रभिन्न प्रासाद और गृह की ऋद्धि अस्थिर होती है और उसकी स्थिति चिरकाल तक सम्भव नहीं है ॥३७॥

गर्भ में चन्द्रावलोकना सर्व-दोष करने वाली समझनी चाहिए। वहाँ पर मूषा के बिना वह स्थान विनाश के लिए और गवाक्ष के होने पर मनोरथों के उच्छेदन के लिए कहा गया है ॥३८॥

जब गंड अथवा कुक्षि, पृष्ठ और कक्षा भेद को प्राप्त होते हैं तब गृह-स्वामी कठोर दारिद्रय को प्राप्त होता है ॥३९॥

गर्भ-भाग से दोनों तरफ़ दोनों गण्डों का तथा कर्ण-भित्ति तक जाने वाले दोनों कक्षों का विधान है। दक्षिण और उत्तर में दोनों कुक्षियाँ पीछे से पीछे की ओर आदिष्ट हैं। स्थापित द्वार के संरोध होने पर कोगृह-स्वामी

अपस्मार रोग (मिरगी) होता है और वहाँ पर द्वार के बनाने पर उसका अनर्थ होता है ।।४०-४१।।*

जहाँ पर कटे-पिटे गवाक्ष और अवलोकन बनाये जाते हैं वहाँ पर प्रसूति नहीं होती है और यदि वह होती भी है तो नष्ट हो जाती है ।।४३।।

दक्षिण की दीवाल के चुनने पर यदि वह बाहर चली जाती है तो वहाँ व्याधि का भय, नृप-दंड-भय समझना चाहिए। जब पश्चिम दीवाल बाहर निकल पड़ती है तो धन-हानि समझनी चाहिए और चोरों से भय भी आपतित होता है ।।४३-४४।।

जब उत्तर की दीवाल चुनने पर बाहर निकल जाती है तो गृह-स्वामी और राज (स्थपति) दोनों के लिए बड़ा भारी व्यसन उपस्थित होता है। जब पूर्वाभिमुख भित्ति के चयन में उसका अग्रभाग बाहर निकलता है तब गृह-पति के लिए तीव्र राज-दंड-भय कहा गया है। जब चीयमान प्राग्दक्षिण कर्ण बाहर निकल पड़ता है तो वहां पर भीषण अग्नि-भय और प्रभु का संशय समुपस्थित होता है। दक्षिण-पश्चिम कर्ण जब बहिर्मुख होता है तो वहां पर कलह आदि उपद्रव और भार्या का संशय कहा गया है। जहां पर उत्तर-पश्चिम कर्ण चुने जाने पर बाहर निकल पड़ता है तो वहां पर पुत्र, वाहन और नौकरों के लिए उपद्रव पैदा होता है। जब पूर्वोत्तर कर्ण बहिर्मुख हो जाता है तब गऊओं का, बैलों का और गुरुओं का नाश होता है ।।४५-५१।।

जिस भवन की चीयमान चारों दिवालें बाहर निकल जाती हैं तो वहां पर उसे **मल्लिका-कृति** मन्दिर की संज्ञा से पुकारा जाता है। उस प्रकार के घर में जैसा व्यय होता है वैसी आय नहीं होती है और उसके ही दोष से दुःखित होकर उसका मालिक भाग जाता है। चुना हुआ जो वेश्म चारों तरफ़ से संक्षेप को प्राप्त करता है उसको संक्षिप्त कहा गया है और वह मध्य से विस्तृत होता है। उसको **मृदंगाकृति-संस्थान** की संज्ञा से पुकारते हैं और वहां पर व्याधि का भय उपस्थित होता है।

आदि से और अन्त मे विस्तृत तथा मध्य से संक्षिप्त जो वेश्म होता है वह वेश्म मृदु-मध्य के नाम से उद्दिष्ट किया गया है और वहां पर क्षुधा का भय उपस्थित होता है। विषम, उन्नत, कर्णों से घर क्षयकारी होता है। दीवालों के समान पूर्व-प्रतिपादित कर्णों में भी यही फल विहित है ।।५२-५७।।

मनुष्यों के भवन में द्वार व मध्य में कभी भी नहीं करना चाहिए। मध्य में द्वार करने से कुल का नाश होता है। एक द्वार दूसरे द्वार से विद्ध होने पर

*टि०—४२वां श्लोक भ्रष्ट है अतः अनुवाद नहीं दिया गया।

अशुभकारक होता है और अनिष्ट द्रव्य से संयुक्त वह धन-धान्य का विनाशकारी होता है ॥५८-५९॥

नवीन द्वार पुराने द्वार से संयुक्त होने पर दूसरे स्वामी की इच्छा करता है। नीचे से ऊपर विद्ध द्वार राज-दंड देने वाला होता है और वह निन्दित कहा गया है ॥६०॥

नया द्रव्य पुराने से संयुक्त होने पर कलि-कारक अर्थात् झगड़ा करने वाला होता है और न मिश्रजाति के द्रव्य से निर्मित द्वार अथवा वेश्म शुभ कहा गया है ॥६१॥

घर के स्थानों में जो द्रव्य अधिवासित कर प्रतिष्ठित किया जाता है, उसके चालन से गृह-स्वामी का भी चलन उत्पन्न होता है। दूसरे वास्तु से च्युत द्रव्य दूसरे वास्तु में प्रयुक्त नहीं करना चाहिए। ऐसे प्रासाद में पूजा नहीं होती है और न गृह में गृह-पति बस पाता है ॥६२-६३॥

देव-दग्ध द्रव्य से जो-भवन बनाया जाता है उसमें गृह-स्वामी निवास नहीं कर पाता है और यदि निवास करता है तो नाश को प्राप्त होता है ॥६४॥

सूर्य से उत्पन्न वृक्ष की छाया और ध्वज की छाया निन्दित कही गई है। द्वार के अतिक्रमण से यह छाया क्षुधा, व्याधि और कलहकारक होती है ॥६५॥

प्रासाद के शिखर की छाया को ध्वज-छाया कहते हैं ॥६६½॥

तीसरी, पांचवीं, सातवीं गृह-ताराएं गृहपति के लिये शुभ नहीं कही गई हैं ॥६६½-६६॥

निम्न, उन्नत, कराल, सम्मुख, पृष्ठ-देशग, बामावर्त, अग्रतर द्वार घर में शुभ नहीं कहा गया है। निम्न में गृह स्वामी स्त्रीजित होता है। उन्नत में दुर्जन की स्थिति कही गयी है। सम्मुख में सुत-पीड़ा और पृष्ठाभिमुख द्वार में स्त्रियां चपल हो जाती हैं। वाम-द्वार में धन-नाश और अग्रतर द्वार में प्रभु का नाश होता है। अतः इस प्रकार का द्वार विचक्षणों को नहीं बनवाना चाहिए ॥६७-६९॥

नाग-दंत, तुला, स्तम्भ, भित्ति, मूषा और गवाक्ष—इनको न तो द्वार के मध्य भाग में देना चाहिए और न इनको विषम में स्थित करना चाहिए ॥७०॥

इतिहासों और पुराणों में प्रतिपादित वृतान्तों के प्रतिरूपक चित्रित आलेख्य गृह में निन्दित हैं तथा इष्ट नहीं कहे गए हैं। देवकुलों में वे प्रशस्त माने गये हैं। जो इन्द्रजाल के समान झूठे तथा भीषण प्रतिरूपक हैं वे भी वेश्मों में नहीं करने चाहिएँ ॥७१-७२॥

अपने आप उद्घाटित द्वार उच्चाटनकारी होता है। वह धन-क्षय, बन्धु-वैर अथवा कलह करने वाला होता है ॥७३॥

जो द्वार अपने आप बंद हो जाता है वह बड़ा दुःखदायी होता है। आवाज़ के साथ बन्द होने वाला द्वार भी भयकारक, पाद-शीतल और गर्भ-पातक होता है ॥७४॥

द्रव्य अधोमुख नहीं करना चाहिए और न पश्चिम-दक्षिणाभिमुख ही करना चाहिए; क्योंकि पश्चिमाभिमुख में परिक्लेश और दक्षिणाभिमुख में शून्यता प्राप्त होती है ॥७५॥

स्तम्भ द्वार और दीवार को विपरीत नहीं बनवाना चाहिए क्योंकि इनके वैपरीत्य से मनुष्यों को बहुत दोष होते हैं ॥७६॥

मूलसूत्र के अनुसार ऊपर की भूमि का निर्माण करना चाहिए जो वेश्म नीचे से ऊपर तक बराबर है वह सन्ताप-कारक है। नीचे की भूमि में जो क्षण होते हैं उनके समान ऊंचे की भूमि में भी वे होने चाहिएँ ॥७७-७८½॥*

जिस भवन में शाला नीची होती है और अलिन्द अधिक होता है वहां पर निधन, शोक और भय समुपस्थित होते हैं ॥७८½-७९॥

मूल-द्वार के अनुसार ऊपर के खंडों में दरवाज़ों को बनाना चाहिए। इसके विपरीत द्वारों के सन्निवेश भय-प्रदायक माने गए हैं ॥८०॥

द्वार के आध्मात होने पर क्षुधा का भय उपस्थित होता है। टेढ़ा होने पर कुल-विनाश आपतित होता है, अतिपीडित द्वार पीडा करने वाला और अन्त-नत (झुका हुआ) द्वार क्षयकारी कहा गया है। बाहर से झुका हुआ द्वार प्रवास-कारक होता है एवं दिग्भ्रान्त द्वार से दस्युओं से भय कहा गया है ॥८१-८२½॥

मूलद्वार यदि दूसरे द्वार से विद्ध हो जाता है तो क्षय करता है ॥८२½-८२॥

चैराहे की गली से विद्ध द्वार प्रवास और नौकरों से द्वेष समुपस्थित करता है। ध्वजा से विद्ध-द्वार द्रव्य का नाश करता है तथा वृक्ष से विद्ध होने पर शिशुओं का दोप-दायक होता है ॥८३॥

कीचड़ से विद्ध होने पर शोक, जल से व्यय, कूप से अपस्मार (मिरगी) और दैवत (देवमंदिर) से विद्ध होने पर विनाश, खंभों से विद्ध होने पर स्त्रियों का दूषण, ब्रह्म से विद्ध होने पर कुल का नाश—ये दोष कहे गये हैं ॥८४-८५½॥

प्रमाण से अधिक द्वार-निर्माण राजा का भय उपस्थित करता है। मान से कम द्वार व्यसन और चोरों से भय उपस्थित करता है। अभ्र

* आगे का चरण भ्रष्ट है।

से विद्ध होने पर द्वार व्याधियां लाता है और धन का क्षय करता है। देव-ध्वज से वन्धन और भय के साथ ऐश्वर्य का नाश बताया गया है। वापी-वेध से सन्निपात-भय बताया गया है। कुलाल-चक्र से हृदय रोग, जल से दारिद्र्य, कचकूट से रोग और व्याधियां तथा आपाक से पुत्र-नाश, उदूखल से निर्धनता और शिला से अस्मरी रोग (मिरगी), जल के घड़े से दुर्मन्त्री और भस्म से बवासीर आदि दोष बताये गये हैं। इसी प्रकार छाया से विद्ध द्वार में गृहस्वामी के लिए दारिद्र्य उपस्थित होता है और स्थल-स्यन्दन तथा बांबी आदि से विदेश-गमन प्राप्त होते हैं ॥८५½-९०॥

कृश, विकृत, अत्युच्च, कराल, शिथिल, पृथु, वक्र, विशाल, उत्तान, स्थूलाग्र, स्वकुक्षिक, स्वपाद-चलित, ह्रस्व, हीन-कर्ण, मुखानत, पार्श्वग, सूत्र-मार्ग-भ्रष्ट—ऐसे द्वार शुभ नहीं कहे गये हैं। ऐसे द्वार घोर नाश करने वाले एवं स्वामी की संपदाओं का विनाश करने वाले कहे गये हैं और उसमें रहने वालों के लिए सदैव कलह उपस्थित रहता है। अतः ऐसे दरवाज़े का सदैव त्याग करना चाहिए ॥९१-९३॥

भीतर के द्वार से बाहर का द्वार न तो ऊँचा करे और न सँकरा करना चाहिए। उच्च अथवा विसंकट वह द्वार कल्याण-कारक नहीं होता है। जब द्वार के मध्य-भाग में पट्ट-सन्धि किसी तरह उपस्थित हो जाती है तो बनाने वाले का विनाश और कुल का नाश समुपस्थित होता है। दरवाज़े पर तुला अथवा उपतुला यदि टेढ़ी बना दी जाती है तो स्वामी के लिए दारिद्र्य, व्याधि एवं सन्ताप आपतित होते हैं ॥९४-९६॥

यदि भवन में जयन्तियां अनुवंश को प्राप्त होती हैं तो वित्त और आयु की अल्पता और अनारोग्य उपस्थित होते हैं। उदुम्बर में विनिहित तुला का नाम ललाटी होता है। वह कन्याओं का दूषण अथवा मरणकारक होती है ॥९७-९८॥

ललाटी के बराबर उत्तरांग के उदर में यदि तुला का न्यास किया जाता है तो उसको भी ललाटिका कहते हैं। वह कुल का क्षय करने वाली होती है। तुला-पिंड के साथ विन्यस्त तुला यज्ञोपवीतिनी समझनी चाहिए। उसमें रहने वाले कुटुम्ब के लिए बढ़ा हुआ व्यसन और असुख उपस्थित होता है ॥९९-१००॥

यदि किसी प्रकार भी मध्य भाग में एक भी भार-तुला विद्ध हो जाती है तो वरांग भग्न होता है और धन घट जाता है ॥१०१॥

सम्पूर्ण तुलाग्र-भागों के द्वारा भित्ति-भेद नहीं करना चाहिए। ब्रह्मपद

पर भार-पट्ट का न्यास कुलक्षय करता है। अयुक्तों और युक्तों की यदि भार-पट्ट में सन्धि होती है तो बनाने वाले का ज्येष्ठ पुत्र विनाश को प्राप्त होता है ॥१०२-१०३॥

अनुवंश में न तो कभी भोजन करना चाहिए और न कभी शयन करना चाहिए। भोजन करने वाले का अर्थनाश और सोने वाले को महारोग होता है। अनुवंश में नाश और रोग तथा उसके तिर्यक् स्थित होने पर राक्षस-भय आपतित होते हैं। शयनागार में नागदन्त (खूंटी) के विन्यास में मरण कहा गया है ॥१०४-१०५॥

कर्ण, पक्षिराज गरुड़, घंटा, ध्वज, छत्र, कुमार, सिंह-कर्ण तथा कपोतालि—ये घर में वर्जित हैं। इनके अतिरिक्त इन्द्र-कील, शुक, तुम्बी और अर्धवंश भी वेश्म में नहीं रखना चाहिए और यदि निर्मित होते हैं तो सर्व-दोप-कारक कहे गए हैं ॥१०६-१०७॥

गृह पाँच प्रकार से नमता है—अतिक्षिप्र, चिरोत्पन्न, कृश-द्रव्य, अपाहित तथा अप्रतिष्ठित-संस्थान। जिस प्रकार से बहुत मोटे और बौने शरीर से मनुष्य कुरूप और दुर्बल होता है उसी प्रकार अतिस्थूल एवं छोटे द्रव्य से भवन भी विरूप तथा अशक्त होता है ॥१०८-१०९॥

जीर्ण, घुणक्षत, मिश्र, हीन, वक्र, चंड, तुंड, वक्रकोण, सन्धिविद्ध, अल्पमूलक, वज्रमध्य, स्थूलमूल, कुक्षिभिन्न, भिन्नमूल, कूर्मपृष्ठ तथा पक्षहीन जो लकड़ी होती है वह गृहद्रव्य में प्रयोज्य नहीं है ॥११०-१११॥

हाथी, घोड़े, अग्नि, जल, वायु के द्वारा गिराये गए वृक्षों को काम में नहीं लाना चाहिए। इसी प्रकार बहुत से पक्षियों के घोंसले वाले, कौवे और उल्लू से सेवित, मधुगृह, पिशाच एवं सर्प से दुष्ट, चैत्य और श्मशानों में पैदा होने वाले, चौराहों, तिराहों तथा महानदियों के संगमों एवं मार्गों पर पैदा होने वाले, मन्दिरों में पैदा होने वाले, अपर भाग से सूखे, क्षत-पत्र वाले, वल्ली-पिनद्ध, सूखे, कोटर तथा ग्रन्थियों से संकुल, दक्षिण तथा पश्चिम दिशा में पतित, तथा कांटेदार—ऐसे वृक्षों का भी वर्जन करना चाहिए। साथ ही साथ कपित्थ, उदुम्बर (गूलर), अश्वत्थ, शिरीप, वट, चम्पक, कोविदार, धव, अरिष्ट, श्लेष्मातक, विभीतक तथा सप्तच्छद और दूध तथा पुष्प-फल देने वाले ऐसे वृक्षों का भी वर्जन कहा गया है ॥११२-११६॥

दरवाज़ों से अथवा दीवालों से जहाँ मर्म पीड़ित होते हैं वहाँ गृहस्वामी को दारिद्रय एवं कुलहानि आपतित होते हैं। स्तम्भों से मर्म-पीडन स्वामी का विनाश, तुलाओं से ध्रुव स्त्रीवध, संग्रहों से बन्धुनाश और जयन्तियों से स्नुपा

(बहू) का नाश कहा गया है। मर्म-स्थानों में स्थित कार्यों से गृहपति का कार्य निपीडित होता है। मर्मस्थ सन्धिपालों से मित्र-वियोग उपस्थित होता है। नागदन्तों से गृह-पीडा, नागपाशों से धनक्षय तथा मर्मस्थित कपिक्षकों से नौकरों की हानि होती है। षड्-दारुक, अनुसर, गवाक्ष और आलोकन यदि मर्मस्थान में विनिविष्ट होते हैं तो महाभय होता है ॥११७-१२१॥

स्तम्भों के द्वारा अथवा द्वार-मध्यों के द्वारा अथवा तुलाओं, नागपाशकों, वातायनों और नागदन्तों के द्वारा, द्वार-मध्य निपीडित होने पर व्याधियाँ बढ़ती हैं तथा धन-नाश, कुलक्षय, राज-दण्ड-भय और पुत्रों का दुःख उपस्थित होता है। षड्-दारुकों के मध्य भागों में अथवा द्वार के मध्य भागों में कर्ण-द्रव्यादि द्रव्यों के विद्ध होने पर ऐसा ही फल होता है ॥१२२-१२४॥

नागदन्तों से, स्तम्भों से तथा वातायनों से विद्ध शय्या गृह-स्वामी के लिए शस्त्र और चोरों से भय उपस्थित करती है ॥१२५॥

गृह के मध्य भाग में निर्माण किया गया द्वार द्रव्य-कोश का नाश करता है तथा मालिक के लिए लड़ाई-झगड़ा लाता है अथवा उसकी स्त्री के लिए दोष उपस्थित करता है ॥१२६॥

एकोत्तर द्रव्य से भी महामर्म के पीडित होने पर गृहस्वामी का सर्वस्व नाश तथा ध्रुव मरण उपस्थित होता है ॥१२७॥

द्वार, स्तम्भ, तुला, अलिन्द और चय के पूर्वोक्त दोषों से घर शून्य होता है तथा विसूत्र नागदन्त में भी ऐसा ही फल होता है ॥१२८॥

विभाग-हीन, पद-हीन ऐसे रूपस्थान वास्तुओं में तथा यक्षों, मातृकाओं आदि की क्रियाओं में रोग से निस्सन्देह मृत्यु होती है ॥१२९॥

कड़वे, काँटे वाले, दुर्गन्धि, गुह्यक आदि देवयोनियों से आश्रित पेड़ों को पुर, प्रासाद और वेश्म के समीप न लगावें। बेर, केला, अनार, नींबू जिस घर में उगते हैं उस घर का उत्थान नहीं होता ॥१३०-१३१॥

उचित प्रमाण से अधिक द्रव्य से द्रव्य का नाश होता है। विहित प्रमाण से अधिक प्रमाण कुल का नाश करता है। ऊँचाई की अधिकता, पूजा का और विस्तार का आधिक्य सन्तान का नाश करता है ॥१३२॥

स्तम्भाङ्गों, दीवालों, पट्टों, शीर्षकों तथा भवनों, आलोकनों, तोरणों, छाद्यकों, कंदों, कूटकों, हीरग्रहणों, शालाओं एवं उत्तमांगों, तुलाओं, सन्धि-पालकों, अर्गला के अग्रभागों, वेदिकाओं, व्यालों एवं नूतन जालों के द्वारा घात-प्राप्त आदि के दोषों से गृहस्वामी का ध्रुव नाश कहा गया है तथा रोग, दारिद्रय, दुःख, पीड़ा, निर्धनता उत्पन्न होती है ॥१३३-१३५॥

गृह-सामान्य-दोष—उच्चच्छाद्य, छिद्रगर्भ, भ्रमित, नमित-मुख, हीनमध्यं, नष्टसूत्र, शल्यविद्ध, शिरोगुरु, भ्रष्टालिदंक-शोभ, विषमस्थ, तुलातल, अन्योन्य-द्रव्य-विद्ध, कुपद-प्रविभाजित, हीन-भित्ति, हीन-उत्तमांग, विनष्ट, स्तम्भ-भित्तिक, मिश्रशाज, त्यक्तकण्ठ, निष्कंद, मानवर्जित और विकृत—ये दोष गृह-स्वामी के लिए अनिष्ट-फल-दायक होते हैं। इसलिए इन दोषों को त्याग कर शुभ गृह का निर्माण करना चाहिए ।।१३६-१३९।।

इस प्रकार का गृह (भवन) स्वामी और राज (स्थपति) दोनों के लिए दोषावह होता है। इसलिए इन दोषों से बचने के लिए कारीगरों को प्रमाद नहीं करना चाहिये। कीर्ति की कामना रखने वाले उन लोगों को इन्हें ठीक तरह से समझकर गृह-निर्माण करना चाहिए ।।१४०।।

गृह-शान्ति-कर्म-विधि

अब शान्ति-कर्म का विधान कहेंगे। ठीक तरह से दिक्पालों की पूजा करके और क्रमशः शान्ति-मन्त्रों के द्वारा आहुति देकर विचक्षण स्थपति स्वर्णिम घटों से कर्णिका का स्नान करावे। उसे सब गन्धों से अनुलिप्त कर, माला आदि से विभूषित तथा विवासित कर और मूल में मधु से लेप कर दोष-प्रशमनार्थ शान्ति के लिए उसको मूल में ही निखातन करना चाहिए ॥१-३॥

मधु, कुम्भ और अरिष्ट तथा शैवाल के साथ-साथ विधिज्ञ स्थपति श्रेष्ठ ब्राह्मणों से मांगलिक पाठ कराता हुआ पवित्र एवं प्रयतात्मा होकर उसे कर्णिकाओं की स्थापना करनी चाहिए। इस विधि से चारों वर्णों का कर्म विहित है ॥४-५॥

कर्णिका को आरोपित कर उसे फिर उखाड़ कर उसका जिस भवन में आरोप किया जाता है वह भवन पूर्णता को प्राप्त नहीं होता और वहाँ पर गृह-स्वामी विनाश को प्राप्त होता है। जिस भवन में उखाड़ कर जो लकड़ी काढी जाती है अथवा वह फिर ताडित की जाती है, ऐसे भवन में सब प्रकार से गृह-स्वामी का धन, धान्य नाश को प्राप्त होता है ॥६-७॥

वल्ली से निपीडित लकड़ी यदि प्रवेश में गाड़ी जाती है तो घोर सर्प-भय का उत्पात प्रादुर्भूत होता है। उठाने पर कर्णिका की सब प्राणियों के अभिघर्षण से रक्षा करनी चाहिए। नवीन कर्म में मृग तथा व्याल अशकुन कहे गए हैं और यदि कर्णिका पर चढ़ जाते हैं तो वहाँ पर ये दोष कहे गए हैं। कर्णिका का अपीडन अथवा उसके लाये जाने के अवसर पर यदि कौवे उस पर बैठते हैं तो गृह-स्वामी का प्रवास कहा गया है। उसका अन्न और पान नष्ट हो जाता है। मयूर के अधिरोहण करने पर राजा उस घर को पाँच वर्ष के बाद छीन लेता है। कोकिलों के चढ़ने पर बरांगों में दो वर्षों के बाद बड़ा भारी भय उपस्थित होता है। काकोलों के अधिरोहण से तीन वर्ष तक बड़ा भय कहा गया है। तोते के चढ़ने में कलह आदि होते हैं और वह घर निष्पन्न नहीं होता। मुर्गे के अधिरोहण से अग्निभय जानना चाहिए अथवा राजा से बड़ा भय समझना चाहिए। सारिका के अधिरोहण में गृह-स्वामी की स्त्रियों

का दुराचरण कहा गया है और सर्प के आरोहण में घर निष्ठा को प्राप्त नहीं होता है। कुलिङ्ग के अधिरोहण में स्त्री-पुरुषों में पापाचरण आपतित होते हैं। कबूतर के अधिरोहण में स्त्री-पुरुष अपने से बुजुर्गों के साथ शय्यागमन करते हैं। विडाल के अधिरोहण में दासों का पूरा कुल निपीडित होता है और इस घर को अग्नि अथवा जल या फिर हाथी नाश करता है ॥८-१६॥

बन के पक्षियों के द्वारा घर्षण होने पर यह फल है कि एक वर्ष के अन्दर युवकों की मृत्यु हो जाती है। मधु के आसंग में धनक्षय, उल्लू के घर्षण अथवा दर्शन में दुःस्वप्न-दर्शन तथा बालकों का मरण कहा गया है। डरे हुए किसी पशु-पक्षी के निलीन होने पर उस घर को राजा छीन लेता है ॥१७-१८॥

जब अग्रभाग में कर्णगत धूम्र दिखाई पड़े तो उस घर को शीघ्र या तो अग्नि जला डालती है अथवा बिजली नष्ट कर देती है ॥१९॥

जहाँ पर गीध आरोहण करता है उसको ब्राह्मण के चरण से स्पर्श करावे और उसको सब हलों से जुतवा कर बीज बुआवे। वहाँ पर गौओं को दुहावे, शान्ति-कर्म को करावे और मेघ के बरसने पर फिर वहाँ पर गृह-निर्माण करवाना चाहिए ॥२०-२१॥

जिन-जिन घरों के अंगों में मधु का संचय होता है, तदनुरूप उस अंग का वध कहा जाता है। प्रेषणी में उपद्रव समझना चाहिए। इसलिए शिखा के अग्रभाग में मुकुटों का रोपण विहित है और जब तक वह अच्छा न लगने लगे तब तक चारों तरफ़ से रक्षा करनी चाहिए ॥२२-२३॥

पक्षियों के लीन होने पर कोई भी चीज़ प्रशस्त नहीं कही गई है। इस-लिए पूर्व-प्रतिपादित उत्पात से प्रयत्नपूर्वक रक्षा करनी चाहिए ॥२४॥

गृहों की लकड़ियों के भंग होने पर अब शान्ति-हवन कहा जाता है। इन्द्रकील, महाकूट, पृष्ठवंशोत्तर दोनों घर (बडहरा), रस्सी, दोनों अलिन्दपाद— इनके भंग होने पर ये उपद्रव गृह-स्वामी को मारते हैं। इसी प्रकार तुलास्थ-पत्य ? कूट अथवा वेदिका, कर्णपालिका, नेत्र, कपोतपाली आदि—ये उपद्रव कुटुम्बिनी को सताते हैं। अन्वग्र, पक्षवंश, मल्लक, कुमारक, छज्जे, मृगालियाँ, परिघा, द्वार-पक्ष—ये उपद्रव भाई को मारते हैं। संग्रह संयुक्त को मारता है तथा नीचे का खम्भा नीचों को मारता है। खूँटे (स्थौण्य) अथवा प्रतिमोक—ये उपद्रव इष्ट परिच्छदों (सेवक-वर्ग) का नाश करते हैं। उपधी भगिनी को मारती है या परिचारकों को खतम करती है। मनुष्यों का मनुष्य नाम वाले द्रव्यों से, स्त्रियों का स्त्रीनाम वाले द्रव्यों से भंग होने पर उपघात होता है और नपुंसक द्रव्यों का उपघात नपुंसक लिंग वाले द्रव्यों से विहित है ॥२५-३१½॥

भूलिका स्त्री-विनाश के लिए और वेधन गृह-नाश के लिए होता है। कीलें और सन्धिपालियाँ मित्रनाश के लिए कही गयी हैं ॥३१½-३२½॥

नये घर में नई लकड़ी निर्माण को प्राप्त होती हुई अथवा निर्माणावस्था में होती है अथवा आयोज्यमान या युक्त हो वह एक साल में यदि भंग होती है तो शरीर-नाश उपस्थित होता है और टूट-फूट जाता है। ऐसी अवस्था में उस घर को ब्राह्मण के आधीन करके और रत्नों से दूसरे का नक्शा खींचकर नवीन वस्त्रों से ढक कर फिर उसका भेदन प्रारम्भ करना चाहिए ॥३२½-३४॥

दग्ध, भिन्न, प्रचलित, विनत, विद्युत्-हत, विरुढ़, दलित तथा सन्न आदि में सब जगह की ओषधियों को स्मरण कर शान्तियाँ करानी चाहिएँ और विधिवत हवन करके ब्राह्मणों से स्वस्ति-पाठ कराना चाहिए ॥३५-३६॥

जिसकी स्थूणिका टूट जाती है उसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है। चन्द्रमा तथा सूर्य इन दोनों की पूजा करनी चाहिए, तब वह दोप नष्ट हो जाता है और इसी प्रकार वृक्ष लाकर उसकी प्रतिकृति बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर गृह-स्वामी सुखी होता है। उसकी कीर्ति और आयु ध्रुव होती है ॥३७-३८½॥

जिसका मल्लक टूट जाता है उसका पौरुप नष्ट हो जाता है। अतः इष्ट नक्षत्र में उसका प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार का वृक्ष लाकर मल्लक की दूसरी प्रतिकृति बनानी चाहिए। ऐसा करने से वह सुखी होता है और उसका बल बढ़ता है ॥३८½-४०½॥

पृष्टवंश के भंग से गृहस्वामी बन्धन को प्राप्त होता है। ऐसे अवसर पर उसे कुवेर की पूजा करनी चाहिए और प्रायश्चित्त करना चाहिए। ऐसा करने से वह सुखी होता है और उसकी सब प्रकार समृद्धि होती है। इन सब में ब्राह्मणों के द्वारा दक्षिणा और अक्षतों से स्वस्ति-वाचन कराना चाहिए ॥४०½-४२½॥

जिसका वारण टूट जाता है इस उपद्रव से ज्येष्ठ पुत्र वाधित होता है। तब पृथ्वीधर की पूजा करनी चाहिए और प्रायश्चित्त करना चाहिए। उसी प्रकार का वृक्ष लाकर उसकी प्रतिकृति बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर वह सुखी होता है और पुत्रों से बढ़ता है ॥४२½-४४½॥

यदि संग्रह टूट जाता है तो उससे कुल का ज्येष्ठ व्यक्ति वाधित होता है। अतः पितृदेवों की पूजा करनी चाहिए और प्रायश्चित्त करना चाहिए। ऐसा करने पर वह सुखी होता है और पितृ लोग प्रसन्न होते हैं ॥४४½-४५॥

जिसका खूंटा टूट जाता है उसका पुत्र वाधित होता है, उसे प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार का वृक्ष लाकर उस स्थौण्य (खूंटे) की प्रतिकृति

बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर वह सुखी होता है और पुत्र-पौत्रों से बढ़ता है ।।४६-४७।।

जहाँ पर -पधो टूटती है वहाँ पर अमात्य (मन्त्री) का विनाश कहा गया है। अतः वहाँ पर इन्द्र की पूजा करनी चाहिए और प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार का वृक्ष लाकर दूसरी उपधी बनानी चाहिए। ऐसा करने पर सौख्य होता है और मन्त्रियों से वह बढ़ता है ।।४८-४९।।

जिसका काय व्यथित होता है उसका प्रेरक (नौकर) नाश को प्राप्त होता है। अतः यक्षदेव की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार लकड़ी लाकर काय की प्रतिकृति बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर वह सुखी होता है और नौकरों से बढ़ता है ।।५०-५१।।

जिसकी तुला व्यथित होती है उसकी कुटुम्बिनी व्यथित होती है। अतः मेदिनी की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार का वृक्ष लाकर उसको सजाकर स्थापना करनी चाहिए। तदनन्तर बुद्धिमान् व्यक्ति निरीक्षण करता हुआ और क्रियाओं को करावे, उसे सजाकर फिर नवीन वस्त्रों से ढककर ब्राह्मणों से स्वस्ति-वाचन करवाने के बाद उसकी प्रतिकृति बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर वह सुखी होता है और धनों से वृद्धि पाता है ।।५२-५५½।।

कर्णिकाओं में खूंटा अथवा मालापाद के टूटने पर भवनपति इस भंग उत्पात से दुःखी होता है अतः प्रज्ञावान् शास्त्र के जानकार स्थपति को बुलाकर वास्तु-विभाग से जो देव निश्चित किया जावे, उसको आहुति देकर प्रायश्चित्त करना चाहिए। ऐसा करने से वह सुखी होता है और सब प्रकार से बढ़ता है ।।५५½-५८½।।

जहाँ पर युग व्यथित होता है वहाँ पर पशु-पीडन कहा गया है। अतः ईशानदेव की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए और उसी प्रकार का वृक्ष लाकर युग की प्रतिकृति बनवानी चाहिए। ऐसा करने पर उसको सुख और पशु-वृद्धि प्राप्त होती है ।।५८½-६०½।।

तुला अथवा······(?) पाद जिसका टूट जाता है उसका फल आयु-हानि कही गयी है। ऐसी दशा में बलदाऊ जी की पूजा करनी चाहिए और प्रायश्चित्त करने के बाद उसकी प्रतिकृति का निर्माण करना चाहिए। इस शान्ति-कर्म से वह कुटुम्बी सुखी होता है ।।६०½-६२½।।

नवीन कर्म में जिसका माहेन्द्र नामक द्वार नष्ट हो जाता है उसे इन्द्रदेव की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए। गृहक्षत नामक द्वार के नष्ट होने पर

यम की पूजा करनी चाहिए। पुष्पदन्त नाम के द्वार के विगड़ जाने पर वरुण की पूजा करनी चाहिए। नवीन कर्म में जिसका भल्लाट नामक द्वार विगड़ जाता है, वहाँ चन्द्रमा की पूजा करके प्रायश्चित्त करना चाहिए। अतः इस शान्ति को करने से कुटुम्बी सुखी होता है ॥६२३-६५॥

जिस स्थूणाराज का अग्रभाग दाहिनी तरफ़ टेढ़ा हो जाता है, वहाँ पर शरीर निश्चय प्रतिवर्ष व्यथा को प्राप्त होता है। पीछे से दीर्घशोक, उत्तर से धन-क्षय, पूर्व से राज-दण्ड अतः उसको सीधा (ऋजु) बनाना ही प्रशस्त कहा गया है ॥६६-६७॥

जिस वेश्म के चार अंग—तुला, पृष्ठवंश, धारणी अथवा उत्तराम्बर विगड़ते हैं तो वहाँ पर पहले कहे गये पूजा-विधान के अनुसार प्रायश्चित्त करना चाहिए। ऐसा करने से उसे धन्य, मांगलिक, पुष्टिदायक सन्तान वृद्धि करने वाला कहा गया है ॥६८-६९॥

इस प्रकार से गृह-सम्बन्धी निमित्तों को जानकर और पूर्वोद्दिष्ट सब शकुनों को जानकर अलग-अलग पूर्व-प्रतिपादित शान्ति-विधान करता हुआ गृहपति कीर्ति, सुख, धन और आयु को प्राप्त करता है ॥७०॥

अनुक्रमणी

ख

ग

घ

च

ध

न

तृतीय खण्ड

समराङ्गणीय भवन-निवेश वास्तु-कोष—

वास्तु-पदावली

विषय-प्रवेश

हमारे देश में, विशेषकर उत्तर भारत में, स्थापत्य-परम्परा विद्वान् स्थपतियों के हाथ में न रहकर अपढ़ कारीगरों की सम्पत्ति बन गयी है। कला में वे अब भी निष्णात हैं, परन्तु शास्त्र-ज्ञान-शून्य। पुनश्च जो स्थापत्य-कौशल उत्तर मध्य-काल तक इस देश की महाविभूति रही, वह अब लुप्तप्राय सी हो गयी है। वास्तु-शास्त्र में ऐसे नाना पारिभाषिक शब्द भरे पड़े हैं, जिनका अर्थ लगाना बड़ा ही कठिन अनुसन्धान है। प्रासाद-रचना को ही लीजिये। प्रासाद के विभिन्न अङ्गों, उपाङ्गों, भूषणों एवं भूषाओं के साथ-साथ उसके आधार एवं आधेय, प्रदक्षिणा एवं सहायक संस्थानों (मण्डप आदि अथवा गोपुर आदि) के शतशः ऐसे पारिभाषिक शब्द हैं जिनका मर्म समझना बड़ा कठिन हो गया है। अतः भारतीय-विज्ञान के इस विशाल एवं अप्रतिम क्षेत्र—वास्तु-शास्त्र एवं वास्तु-कला—का अनुसन्धान एवं निर्मितियों का समन्वय-विधान एक अत्यन्त उपयोगी एवं महत्वपूर्ण अन्वेषण है। वास्तु-तत्व-शोध का यह कार्य एक-आध व्यक्ति का काम नहीं। इस ओर विचक्षण विद्वान् तभी अग्रसर हो सकेंगे जब ऐसे शोध को राज्य एवं समाज, दोनों की ओर से पर्याप्त प्रोत्साहन एवं साहाय्य प्राप्त हो सके। तब भी, जो इस शास्त्र के जिज्ञासु अनुसन्धान-कर्ता हैं, उनका यह पथ-प्रदर्शन इस अन्धकारावृत्त, गम्भीर एवं दुस्तर वास्तु-महासागर के संतरण में कुछ-न-कुछ सहायक अवश्य हो सकेगा—भले ही गहराई का पता न लगे अथवा रत्नाकर के रत्न भी कम ही हाथ लग सकें।

डा० प्रसन्नकुमार आचार्य ने इस दिशा में अपना बृहद्-कोष (Encyclopaedia of Hindu Architecture) लिखकर स्तुत्य प्रयत्न किया था। डा० साहब का कार्य दक्षिणी वास्तु-विद्या के प्रतिनिधि ग्रन्थ 'मानसार' शिल्प-शास्त्र के वास्तु-शब्दों तक ही विशेष सीमित है, यद्यपि विभिन्न अन्य ग्रन्थों में उन शब्दों के जो अर्थ अथवा बोद्धव्य पदार्थ संकेतित हैं—उनके भी पृथुल सन्दर्भ दिये गये हैं—साथ ही साथ अन्य साहित्यिक, शिलालेखीय एवं स्मारक-निबन्धनीय सामग्री का भी पूर्ण उपयोग किया गया है; तथापि यह कहना असंगत न होगा कि भारतीय वास्तु-शास्त्र की एतद्विषयक सामग्री, एक बड़ी

मात्रा में, अब भी अनुसन्धातव्य है। एकमात्र समराङ्गण-सूत्रधार को लीजिये, जिसे हमने उत्तरी वास्तु-विद्या का प्रतिनिधि ग्रन्थ माना है, उसके परिशीलन से ही शतशः ऐसे वास्तु-शब्द मिले हैं, जिनका डा० साहब के कोष में कोई संकेत नहीं है। इन शब्दों की सूची तथा संकेतितार्थ एवं बोद्धव्य पदार्थ पर आगे के विभिन्न पटलों—भवन, राजहर्म्य, प्रासाद, प्रतिमा, चित्र—में यथासाध्य प्रयत्न किया जावेगा। डा० आचार्य के कोष में लगभग डेढ़ हज़ार वास्तु-शब्दों की व्याख्या है, जिनमें $\frac{1}{3}$ मौलिक तथा शेष प्रकार मात्र ही हैं। भारतीय वास्तु-शास्त्र में लगभग दस हज़ार शब्द हैं, जिनमें प्रतिमा-विज्ञान, चित्रकला, यन्त्र-कला, विभिन्न शैलियों के प्रासाद (मन्दिर) एवं सर्व-विध भवन सभी का समावेश है। यह कार्य साधारणरूप से साध्य नहीं हैं। बड़े व्यय, अनुसन्धान-कौशल एवं धैर्य की आवश्यकता है, तथापि इस महाकार्य में योग देने के लिए कम-से-कम एक-एक ग्रन्थ के अनुसन्धान से जो शब्द-रत्न हाथ लगें उनकी व्याख्या तो वांछित है ही।

भारतीय-विज्ञान (Indology) की इस महत्त्वपूर्ण शाखा के अनुसन्धान के इस व्यापक, विशाल, समृद्ध एवं श्रेयस्कर क्षेत्र का मूल्याङ्कन कर मैंने अपने पुत्र चि० ललितकुमार शुक्ल को भी इसी ओर लगाया। १९६० ई० में उसने प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व में गोरखपुर विश्वविद्यालय से एम० ए० किया। पञ्जाब विश्वविद्यालय में आकर उसने भारतीय स्थापत्य—वास्तु, शिल्प, चित्र की पारिभाषिक पदावली को अपना पीएच० डी० का विषय चुना और अथक परिश्रम एवं उत्साह से इस कार्य में गौरवपूर्ण प्रतिष्ठा के साथ क्रैमरिश एव कार्डरिंगटन –ऐसे प्रख्यात विद्वानों की रिपोर्टों पर पीएच० डी० प्राप्त की।

डा० आचार्य के, जैसा पूर्व संकेत किया जा चुका है, मानसार के वास्तु-कोष की देन से लोग परिचित ही थे। मेरे समराङ्गणीय अध्ययन से भी इस दिशा में यह कार्य आगे बढ़ा; परन्तु मयमत, शिल्परत्न, विश्वकर्मीय-वास्तु-शास्त्र तथा अपराजित-पृच्छा इन चार बृहद्काय एवं अत्यन्त समृद्ध वास्तु एवं शिल्प के ग्रन्थों पर अभी तक काम नहीं हो पाया था; अतः डा० ललित शुक्ल ने अपने अध्ययन का मौलिक स्रोत इस ग्रन्थ-चतुष्टय को आधार बनाया जिनकी शब्द-राशि यथा-निर्दिष्ट हमारे शिल्प-शास्त्र को अत्यन्त समृद्ध बनाती है। आशा है वह अपने इस ग्रन्थ-रत्न को शीघ्र ही प्रकाशित करने में सफल होगा तथा इस दिशा में इस स्तुत्य कार्य पर आगे और भी विद्वान काम कर सकेंगे।

परन्तु मेरा यह अनुसन्धान भी दस वर्ष पूर्व प्रारम्भ हुआ था, वह अभी पूर्ण नहीं हुआ, अतः यथा-प्रतिज्ञात समराङ्गण-वास्तु-कोष-पदावली का यत्किञ्चित्कर इस भवन-निवेश की पूर्ति के लिये तथा ग्रन्थ की अनुक्रमणी (Index) के लिये यह खण्ड भी पूरणीय है।

प्रश्न यह है कि इस दिशा में प्राचीन एवं अर्वाचीन शब्द-संकलन की दो पद्धतियों में से कौन-सी अपनानी चाहिए ? हम जानते ही हैं कि हमारे देश के प्राचीन कोष-कारों—यास्क तथा अमर आदि ने अकारादि (Alphabetical) क्रम से शब्द-संकलन एवं उनका अर्थानुसन्धान नहीं किया। उनकी शब्द-संकलन-शैली विषयानुषङ्गिका है। विषयानुरूप शब्द-संकलन है न कि अकारादि-क्रम। साधारण शब्द-सूची में अकारादि-क्रम बरतना तो अच्छा है—इससे किसी का भी वैमत्य नहीं हो सकता, परन्तु शास्त्रीय शब्दों की व्याख्या अकारादि-क्रम से न तो वैज्ञानिक ही है और न सौविध्य-पूर्ण। उदाहरण के लिये पुर के रक्षा-संविधान के जो प्राकारादि के प्रधान अंग हैं उनमें अट्टालक को 'अ' वप्र को 'व' तथा चरिका को 'च' 'परिखा' और 'प्राकार' को 'प' में संकलित करना कहां तक वैज्ञानिक है—यह समझने में देर न लगेगी। अतः यदि रक्षा-संविधान के प्रधान अङ्ग—परिखा, वप्र, प्राकार, द्वार, गोपुर, अट्टालक चरिका आदि सभी की एकत्र व्याख्या मिल सके तो ज्ञानार्जन में बड़ा सौविध्य प्राप्त हो सकेगा। इसी प्रकार प्रासाद की व्याख्या में प्रासाद के विभिन्न निवेशों को प्रथम प्रधान वर्गों में विभाजित करना होगा, पुनः उनके अङ्गों, उपाङ्गों, अन्तरङ्गों एवं सहायकाङ्गों पर क्रमिक प्रकाश पड़ने से वह पूरी की पूरी प्रासाद-वास्तु-परम्परा सहज बोधगम्य बन सकती है। इसी प्रकार शिला, स्तम्भ, भवन, मण्डप, शिखर एवं छाद्यादि विभिन्न-वर्गीय वास्तु-तत्वों की व्याख्या एवं समीक्षा दोनों ही सम्पादित हो सकती हैं।

अस्तु, यतः इस भाग का सम्बन्ध 'भवन-निवेश' खण्ड है अतः भवन-निवेश-सम्बन्धी समराङ्गणीय वास्तु-कोष—वास्तु-पदावली को हम निम्नलिखित चार काण्डों में प्रविभाजित करेंगे—

१. औपोद्घातिक काण्ड
२. सामान्य (पारिभाषिक) काण्ड
३. पुर-काण्ड तथा
४. भवन-काण्ड

इसी प्रकार आगे के दो अवशेष भागों में समराङ्गण की वास्तु-पदावली को हम प्रासाद-काण्ड, प्रतिमा-काण्ड, चित्र-काण्ड, यंत्र-काण्ड, मिश्र-काण्ड आदि काण्डों में प्रविभाजित करेंगे।

औपोद्घातिक काण्ड

शास्त्र-प्रतिष्ठा

(देखिये अ० प्रथम—'महासमागन')

ब्रह्मा—वास्तु-स्रष्टा—'वास्तु ब्रह्मा ससर्जादौ विश्वमप्यखिलं तथा'

विश्वकर्मा—प्रथम आचार्य, प्रथम स्थपति, प्रभास-वसु का पुत्र, बृहस्पति का भानजा।

पृथु—संरक्षक राजा

महासभा—पृथिवी—आधार

प्रतिष्ठा—मानव-कल्याणार्थ

शुभलक्षण—वास्तुलक्षण—देश, पुर, निवास, सभा, वेश्म आसन आदि।

टि०—मानसार, मयमत आदि शिल्प-शास्त्रीय ग्रन्थों में धरा, हर्म्य, यान एवं पर्यङ्क चतुर्विध वास्तु-लक्षण प्रतिपादित है, परन्तु समराङ्गणीय षड्विध वास्तु-लक्षण में देश-निवेश, पुर-निवेश, एवं भवन-निवेश विशेष महत्त्व रखते हैं। इसीलिए वास्तु-शास्त्र-प्रतिष्ठा में वर्णाश्रम-प्रविभाग भी वाञ्छित है, जिससे देव-भवन, राज-भवन, साधारण-भवन—इस प्रमुख त्रिविध भवन-निवेश पर पूरा प्रभाव पड़ता है, जो समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तुशास्त्र की विशेष देन है।

वास्तु-कला-प्रवर्तन

(दे० अ० द्वितीय—'विश्वकर्मणः पुत्रसंवादः')

पिता विश्वकर्मा तथा मानस पुत्र, जय, विजय, सिद्धार्थ एवं अपराजित—ये चारों एक प्रकार से स्थपति-चतुष्टय (दे० स्थपति-वर्ग) के प्रतीक (Proto types) परिकल्प्य हैं।

टि०—वास्तु-निवेश में प्रथम लोक-पालों की सृष्टि हुई; पुनः लोकों के सन्निवासार्थ सर्वत्र अर्थात् देवलोक, नागलोक आदि में नगर, उद्यान, सभा, स्थानादि का सन्निवेश स्वयं विश्वकर्मा ने किया पुनः भूलोक में नगर, ग्राम, खेट आदि के सन्निवेश के लिए इन चारों शिल्पि-वृन्दों की आवश्यकता हुई। आवास के साथ रक्षा भी अनिवार्य थी। अतः चारों दिशाओं में तथा पर्वतों एवं महानदियों के अन्तरावकाशों पर दुर्गों की स्थापना का भी उपक्रम हुआ। भारतीय वास्तु-नियोजन में सर्वप्रमुख विशेषता का संकेत यहाँ पर यह है कि—

वर्णप्रकृतिवेश्मानि संस्थानानि च लक्ष्मभिः।
विधेयानि प्रतिग्रामं प्रतिपूः प्रतिपत्तनम्॥ स० सू० २.१४

अर्थात् साधारण जनावासों (Folk-Planning) में वर्णानुसार एवं

व्यवसायानुरूप भवन-निवेश अर्थात् आजकल की 'ज़ोनिङ्ग' उचित है। इसके अतिरिक्त भवन की ऐसी प्लानिङ्ग हो कि उसको देखकर यह पता लगाया जा सके कि वह आवास है, कार्यालय है, या विद्यालय है अथवा देवालय है। अतः संस्थानों के अपने-अपने चिह्न (अर्थात् the prospect and the aspect of the building—दे० पताकादि-षट्-छन्दस्) भारतीय वास्तु-कला के अनिवार्य निवेशाङ्ग हैं।

विषयवर्ग

(दे० अ० तृतीय—'प्रश्न')

विश्वसृष्टि—प्रलयावस्था—एकार्णवी-अवस्था के उपरान्त महाभूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), अमरपुरी तथा नक्षत्र-चक्र (planetry system) का प्रादुर्भाव कैसे हुआ—दे० वास्तु एवं सृष्टि पृ० १२

भौतिक सृष्टि—दे० वास्तु एवं सृष्टि पृ० १२

पृथिवी—किस आकार, किस आधार, तथा किस प्रमाण से पृथिवी का आविर्भाव हुआ और इसका विस्तार, परिधि एवं बाहुल्य कैसे विहित हुआ ?

कुलाचल—ऊंचाई, व्यास और दीर्घता में कितनी पर्वत-श्रेणियां उत्पन्न हुई ?

वर्ष —
द्वीप —
नदियां—
सागर —
} भिन्न-भिन्न द्वीपों (महाद्वीपों) में कौनसे सागर, वर्ष, नदियां तथा देश परिगणित किये गये हैं ?

टि०—दे० वास्तु एवं सृष्टि।

त्रैलोक्यनिवेश—

ज्योतिश्चक्र—सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह आदिकों की गतियां तथा भूमि से इनकी दूरी एवं पारस्परिक अन्तरावकाश भी प्रमेय विषय हैं—दे० त्रैलोक्य-निवेश पृ० १७

युग-धर्म एवं
लोक-वृत्तियां
} दे० अ० ७ 'वर्णाश्रम-प्राविभाग'

देश-भेद } दे० अ० १० 'भूमि-परीक्षा'
भूमि-भेद } " "

जनपदोचित भूमियां
वर्णोचित– „
पुरोचित– „
भूमि-चयन
भूमि-भेद–
वर्ण-भेद
गन्ध-भेद
रस– „
स्पर्श–„
स्वाद–„

दे० अ० २३ 'पुर-निवेश'

राजधानी—नगर-निवेश — दे० अ० २३ 'पुरनिवेश'

दुर्ग-प्रभेद तथा दुर्ग-निवेश-विधि—

परिखा	„	„
वप्र	„	„
प्राकार	„	„
गोपुर	„	„
अट्टालक	„	„
महाद्वार	„	„
रथ्या	„	„
चत्वर	„	„
मार्ग	„	„

पुर-निवेश

ग्राम-निवेश	„	„
खेट-निवेश	„	„

पुर-निवेशोचित इन्द्रध्वज-निवेश—स्थपतियों का महोत्सव दे० अ० १३

पव-देवता-निवेश	दे० वास्तु-पद-विन्यास		अ० १४ से १९
देव-प्रतिमा-निवेश	दे० तृतीय भाग चित्र-निवेश		
प्रासाद-निवेश	दे० द्वितीय भाग प्रासाद-निवेश		
राज-निवेश	„	„	„
राज-निवेशोचित भवन	„	„	„

पुर-निवेशोचित वर्णाधिवास — दे० पुरनिवेश अ० २३

भवन-प्रकार — दे० चतुश्शालादि-दशशालन्त शाल-भवन अ० २४ से ३०

द्रव्य-प्रमाण — दे० वन-प्रवेश अ० ३१ तथा गृहद्रव्य-प्रमाण अ० ३२

इष्टका-कर्म — दे० शिला-न्यास अ० २०

प्रशस्ताप्रशस्त वृक्ष — दे० वन-प्रवेश—दारु-आहरण अ० ३१

शल्योद्धार-विधि
भूमि-कर्म
दिग्ग्रह
सूत्रण
अधिवासन
मूल-पाद
शिलान्यास

टि०—ये सब भवन-विन्यास के प्रथम कृत्य (First Operations) हैं—जैसे प्राची-साधन (Orientation), मान (Measurements), सफाई (Purification), शिला-न्यास (Foundation Ceremony) आदि-आदि।

भवन-निवेश—दे० चतुर्थ काण्ड

भवनोचित विन्यास

शाला	कण्ठ-विनिर्गम	जालक
अलिन्द	जयन्ती	स्थूणा
भित्ति	सङ्ग्रह	मृणाली
पीठ	तुला	उपतुला
स्तम्भ	फलक	छाद्य
द्वार	तल	वृत्तछाद्य
द्वार-शाखा	गवाक्ष	खण्डवृत्त
नाग-वीथी	कपोतालि	लुपा
उपधान	वेदिका	शिखर आदि

भवन-भूषा-भेद-प्रभेद — दे० चतुश्शालादि-गृह-संयोजन अ० २४-३०

शाल-भवन-विन्यास-भेद-प्रभेद — दे० ,, ,, ,,

वास्तु-पद-विन्यास-भेद-प्रभेद — दे० अ० १४-१६

दारु-क्रिया — दे० शयनासनादि-निवेश तृतीय भाग

लेप्य-क्रिया — दे० चित्र-निवेश ,,

योज्यायोज्य-व्यवस्था — दे० अप्रयोज्य-प्रयोज्य अ० ३४

हस्त-लक्षण	दे० मान-व्यवस्था—हस्तम-लक्षण अ० ११ तथा मान-योजना पृ० २४-२७
बलि-कर्म	दे० बलिदान-विधि अ० १८
गृह-प्रवेश	दे० अ० ३५-से-३६
भङ्गादि-दोष	दे० ,, ,,

वास्तु एवं सृष्टि

(दे० अ० ४ महादादिसर्ग तथा अ० ५ भुवनकोश)

टि०—वास्तु-शास्त्र में सृष्टि-वर्णन का क्या सामञ्जस्य है—इस पर भारतीय वास्तु-कला के व्यापक क्षेत्र की ओर संकेत अभीष्ट है। तदनुरूप समराङ्गण में 'महदादिसर्ग' नामक चौथे अध्याय में सृष्टि-वर्णन किया गया है।

सृष्टि के विभिन्न सोपान—युगान्ताग्निप्लुष्टावस्था (i.e., the earth was a burning ball and hence unfit for any planning), एकार्णवी-अवस्था जब संवर्तक आदि महामेघों ने पृथ्वी को घोर वृष्टि से बुझाया (cooled down), पुनः इसी सन्धि में हरिशयनावस्था (जो सृष्टि की गर्भावस्था कही जा सकती है)—'हरिः सुष्वाप सलिले कृत्वोदरगतं जगत्' के विराम के उपरान्त ब्रह्म-सुरेश्वर ब्रह्मा का प्रादुर्भाव होता है जिन्होंने प्रथम मानसी सृष्टि के द्वारा समस्त विश्व की रूप-रेखा तैयार की। पुनः उसे मूर्त स्वरूप प्रदान करने के लिये भौतिक सृष्टि प्रारम्भ की—
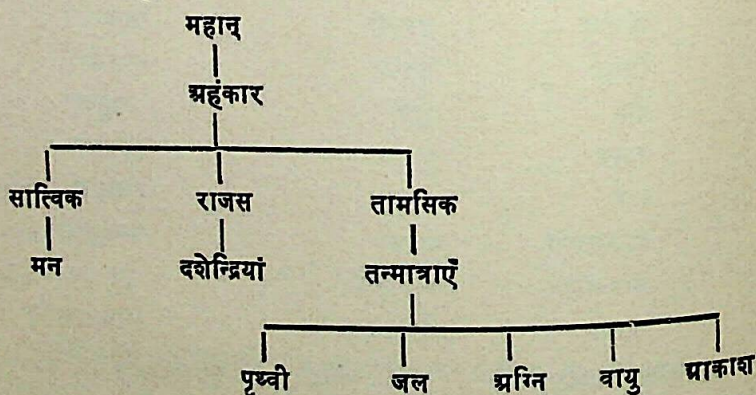
पृथ्वी आदि पांच महाभूत क्रमशः एक दूसरे के अधरोत्तर—नीचे नीचे—हैं। पहले पृथ्वी, पृथ्वी के नीचे जल, जल के नीचे अग्नि, अग्नि के नीचे वायु, वायु के नीचे आकाश (जो आधार है तथा अवकाशद है)।

निर्गुण एवं सगुण सृष्टि के दो रूपों में सगुण सृष्टि का उपक्रम बांधा गया जिसकी निम्न रूप-रेखा निभालनीय है—

मन	से	सुर, असुर, गन्धर्व, यक्ष, रक्ष, पन्नग, नाग, मुनि, अप्सराएँ,
नेत्रों	,,	सूर्य एवं चन्द्रमा
गात्रों	,,	नक्षत्र-चक्र
पंचेन्द्रियों	,,	ताराग्रह-पञ्चक—'ग्रहत्वं पुनरेतेषामिन्द्रियग्रहणाद् विदुः'
केशों	से	अम्बुमृक्--मेघ
इच्छा	,,	वायु—त्रिलोकी-पावन—चण्ड-समीरण

वायु ने ही जगत् की एकार्णवी-अवस्था को सूर्य की प्रचण्ड रश्मियों के सहयोग से सुखाया। तभी पृथ्वी का उदय प्रारम्भ हुआ, जिसे विष्णु की शय्या—शेष-नाग अनन्त (आकाश--आधार का प्रतीक) ने धारण किया। जहाँ-जहाँ जल नहीं सूखा वे ही सागर बने। महाजल-वीचि-संघात से ताड़ित एवं महा-प्रचण्ड वायु के झोंको से उद्वेलित पृथ्वी यत्र-तत्र पर्वतों के रूप में प्रकल्पित हुई। पर्वतों ने पृथ्वी को चर्मावरण के समान वितत किया तथा कीलों के समान उसे धारणा-शक्ति प्रदान की। एक पर्वत को दूसरे से सीमा-विभाजन के रूप में पर्वत-प्रवहिणी सरिताओं का उदय हुआ। इसी प्रकार सागरों के मध्यावकाश में द्वीपों एवं महाद्वीपों का भी प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार सरिताओं, सागरों, पर्वतों एवं द्वीपों तथा महाद्वीपों में विभक्त पृथ्वी व्यक्त बनी (became manifest)।

पृथ्वी के ही नीचे प्राणियों के कर्म-भोग के लिये रौरव आदि नरकों की भी सृष्टि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा ने की। पुनः भूत-ग्राम (चराचर संसार) की रचना की—

भूतग्राम--

जरायुज—द्वेधा—मनुष्य तथा पशु। सात ग्राम्य—मनुष्य, गो, तुरग, छाग, मेष, वेगसर तथा खर। सात आरण्य – सिंह गज, उष्ट्र, महिष, शरभ, गवय तथा कपि।

अण्डज—चतुर्धा—सुपर्ण, भुजग, कीट, पिपीलिका।

स्वेदज—क्लेद (पसीना) एवं केश से उत्पन्न कृमि, यूका (जुवां) आदि क्षुद्रजन्तु।

उद्भिज—पञ्चधा—द्रुम, वल्ली, गुल्म, वंश एवं तृण

भुवन-कोश—'भुवनकोश, नामक पांचवें अध्याय में क्षिति-निवेश (Physical planning of the Earth) का ही वर्णन नहीं है वरन् सौर-मण्डल के अन्य विभिन्न ग्रहों (Planets) की स्थिति एवं गति पर भी प्रकाश डाला गया है।

पृथ्वी

(i) विष्कम्भ १०१६००००० योजन अर्थात् लगभग १६३०४००००० मील

(ii) परिधि ३२६०८०००० योजन अर्थात् (लगभग) ५२१७२८००००
मील

(iii) बाहुल्य ४२०००० योजन अर्थात् (लगभग) ६१२०००० मील

टि०—चारों महाभूत एवं महत् पृथ्वी से क्रमशः सौगुने बड़े हैं अर्थात् महत् सबसे बड़ा। यह पृथ्वी जल पर चक्राकर (वृत्तशालिनी) स्थित है।

द्वीप—द्वीपों से यहाँ पर अभिप्राय महाद्वीपों से है। महाद्वीपों की संख्या सात है—

जम्बूद्वीप	शाल्मलिद्वीप
शाकद्वीप	गोमेदद्वीप
कुशद्वीप	पुष्करद्वीप
क्रौञ्चद्वीप	

जम्बुद्वीप—यह सातों द्वीपों एवं सातों अम्बुधियों के मध्य में स्थित बताया गया है। इसका विस्तार एक लाख योजन है।

अ. जम्बू के पर्वत

इस जम्बूद्वीप के पर्वत, उनकी ऊँचाई तथा उनके वासियों की तालिका निम्नाङ्कित है—

पर्वत	ऊँचाई	वसति
हिमवान्	२$\frac{1}{2}$ हज़ार योजन	पिशाच, यक्ष एवं राक्षस
हेमकूट	५ हज़ार योजन	चारण, गुह्यक आदि
निषध	१ हज़ार योजन	नाग—शेष, वासुकि, तक्षक आदि
सुमेरु (मणि-कन्दर)	८४ हज़ार योजन	तेंतीस कोटि देवता अपनी अप्सराओं के साथ
नील (वैडूर्य-मणि-शिखिर	१ हज़ार योजन	तपोनिष्ठ ब्रह्मर्षि लोग
श्वेत (सुवर्ण-शिखिर)	५ सौ योजन	देव-शत्रु
श्रृङ्गी (महानील मणियों एवं मयूर-पिच्छों से बहुल)	२$\frac{1}{2}$ हज़ार योजन	पितृ-गण
गन्धमादन	१ हज़ार योजन	सस्त्रीक सिद्ध एवं गन्धर्व
माल्यवान्	"	"

टि०—१ इन पर्वतों में मेरु को छोड़कर सभी अन्य आठ पर्वतों का विस्तार २ हज़ार योजन है। साथ-ही-साथ तल-विस्तार (Subterranian dimension) ऊंचाई के आधे प्रमाण में प्रतिपादित है।

टि० २—इन ९ पर्वतों के अतिरिक्त १२ और पर्वत हैं जो सर्व-दिशाओं समुद्राभ्यन्तर ही फैले हुए हैं, ऊपर नहीं—

धूम्रक	दुंदुभि	आर्द्र	पूर्व
नारद	वराह	सोमक	पश्चिम
मैनाक	बलाहक	चक्र	दक्षिण
द्रोण	कङ्क	चन्द्र	उत्तर

ब. जम्बूद्वीप के वर्ष

भारत (धनुषाकृति)—जिसके उत्तर में हिमालय और जिसके दक्षिण में लवण-समुद्र है;

किम्पुरुष—हिमालय एवं हेमकूट के बीच;

हरिवर्ष—हेमकूट और निषध के अन्तरावकाश में;

इलावर्ष—निषध, नील, माल्यवान् तथा गन्धमादन के बीच;

रम्यक—नीलोत्तर एवं श्वेतदक्षिण;

हैरण्यक—श्वेत-शृङ्गी के मध्य में;

कुरुवर्ष—शृङ्गी के उत्तर तथा लवणसमुद्र के दक्षिण;

भद्राश्व—नील-निषध के अन्तर तथा माल्यवान पर्वत के पूर्व (समुद्र-पर्यन्त फैला हुआ);

केतुमाल—गन्धमादन के पश्चिम एवं पश्चिम समुद्र के पूर्व।

टि०—इन वर्षों के वासी तथा उनके जीवन एवं भोग आदि की निम्न तालिका देखने योग्य है—

वर्ष	जीवन (वर्षों में)	भोजन आदि
भारत	—	—
किंपुरुष	अयुत	प्लक्ष-भोजी, स्वर्णकान्तिक
हरिवर्ष	सायुत सहस्र	ईक्षु रस के भोजी, रजत-कान्तिक
इलावृत्त	सपादायुत	जम्बूफल के रस पर रहने वाले
रम्यक	अयुत	न्यग्रोध-फलभुक्
हैरण्यक	,,	लकुचाशी
कुरुवर्ष	,,	अभीष्ट-वृक्ष-फलाहारी
भद्राश्व	,,	नीलाम्रक-फलाहारी
केतुमाल	,,	पनस-भोजी

टि०—इलावर्ष की एक विशेषता यह है कि यह वर्ष मेरुतटाच्छन्न होने के कारण सूर्य, चन्द्र एवं ताराओं के प्रकाश को नहीं प्राप्त कर पाता है। अपनी-अपनी अंग-कान्ति से ही लोग यहाँ रहते हैं—पद्मराग-कान्तिक हैं ये न।

जम्बूद्वीप की इन प्रधान विशेषताओं के उपरान्त अन्य द्वीपों का भी थोड़ा-सा आभास अपेक्षित है—यतः ग्रन्थ में भी विस्तार नहीं। जहाँ जम्बू लवण-समुद्र से परिवृत है वहाँ शाकादि द्वीपषट्क—क्षीर (दुग्ध), आज्य (घृत), दधि, मद्य, ईक्षुरस तथा मधुर समुद्रों से परिवृत बताये गये हैं। निम्न तालिका से इस द्वीपषट्क के पर्वत एवं वर्षों का स्वरूप अवधार्य है—

द्वीपषट्क	पर्वत	वर्ष
शाक	उदय, जलधर, नारक, रैवत श्याम, राजत तथा आम्बिकेयक—७	जलद, कुमार, सुकुमार मणीचक, कुमुमोत्तर, मोदाकी, महाद्रुमवन ७
कुश	विद्रुम, हेम, द्युतिमान, पुष्पवान्, कुशशेय, हरिक्ष्माभृत् तथा मन्दर —७	उद्भिद, वेणुवत्, सराल, लम्बन, श्रीमत्, प्रभाकृत् कपिल तथा पन्नग—८
क्रौञ्च	क्रौञ्च, अन्धकार, देव, गोविन्द, वामन, द्विविद तथा पुण्डरीक—७	कुसल, अष्ट, परापत मनोनुग मुनि, अन्धकार तथा दुन्दुभि—७
शाल्मलि	रक्त, पीत तथा सित—३	शान्तभय एवं वीतभय—२
गोमेद	सुर तथा कुमुद—२	घातकी-खण्ड—१
पुष्कर	मानसोत्तर	महावीत

आगे विश्वकर्मा जी कहते हैं (७७—७९) कि इसी पुष्कर-द्वीप के महावीत वर्ष में उन्होंने निम्न ४ देव-नगरियों का निवेश किया था जहाँ चारों दिग्पाल रहते थे—

नगरी	दिग्पाल	दिशा
वस्वोकसारा (ऐन्द्री)	इन्द्र	पूर्व
संयमनी (याम्या)	यम	दक्षिण
सुखा (प्राचेतसी)	वरुण	पश्चिम
विभा (सौम्या)	कुबेर	उत्तर

टि०—समराङ्गणीय महदादिसर्ग एवं भुवनकोश—इन दो अध्यायों की जिस सामग्री का संक्षेप में हमने यहाँ पर 'भूमि-निवेश' में वर्णन किया उसका एकमात्र वास्तु-शास्त्रीय सम्बन्ध यह है कि कोई भी पार्थिव कृति वास्तु है। भूमि अपनी प्राकृतिक स्थिति में 'भूमि' है, 'वस्तु' है वही निविष्ट होने पर 'वास्तु' है। अथच जैसा कि वास्तु के विषय एवं विस्तार में हमने देखा कि समराङ्गण की वास्तु-दृष्टि अत्यन्त व्यापक है। वास्तु-शास्त्र का विषय भवन-निवेश ही नहीं, पुर-निवेश ही नहीं, देश-विनिवेश ही नहीं—अखिल भूमण्डल ही निवेश्य है—अतः 'क्षिति-निवेश' की इस व्यापक वास्तु-दृष्टि का हम मूल्याङ्कन कर सकते हैं।

त्रैलोक्य-निवेश—सूर्यादि-ग्रह-स्थिति—सौरमण्डल में 'पृथ्वी' एक लघु इकाई है। भूलोक एवं उसके निवासियों का जीवन अन्य लोकों से सदैव प्रभावित एवं अनुप्राणित रहता है। अतः क्षिति-निवेश के लिये अन्य ग्रह-मण्डल के सदस्यों का संकेत भी कुछ-न-कुछ आवश्यक है। भूतल के ऊपर निम्न लोकों की क्रमिक ऊर्ध्वगामिनी सत्ता बताई गई है—

सूर्य	भौम (मंगल)
चन्द्र	आर्कि (शनैश्चर)
धिष्ण्य (नक्षत्र)	त्रिदशार्चित (बृहस्पति)
ज्ञ (बुध)	सप्तर्षि
सित (शुक्र)	ध्रुव

इन प्रथम ६ ग्रहों (सूर्य से भौम तक) का परस्पर सौ-सौ हज़ार योजनों का अन्तर (intervening distance) है। शेष चार ग्रहों (श. बृ. सप्त. तथा ध्रु.) के अन्तरावकाश का परिणाम दो-दो लाख योजन है; इस प्रकार धरित्री और ध्रुव के बीच का अन्तरावकाश अर्थात् त्रैलोक्य का समुत्सेध १४ नियुत योजन हुआ।

त्रैलोक्य यहीं पर समाप्त नहीं होता है। वास्तविक त्रैलोक्य तो अभी और ऊपर है। ऊपर के लोक अपनी दूरी के साथ निम्न रूप से बोधव्य हैं—

महः लोक—ध्रुव से एक करोड़ योजन की दूरी पर
जनः ,, — ,, दो ,, ,, ,,
तपः ,, — ,, चार ,, ,, ,,
सत्य ,, — ,, आठ ,, ,, ,,

टि०—मर्त्यलोक के निवासियों की स्थिति अण्डकर्पर (ब्रह्माण्ड) के नीचे के निवासियों से १ करोड़ पचास नियुत योजन है।

आवरण—इन सभी लोकों के आवरण-योग (Shielded as it were) पर ग्रन्थ का प्रवचन यह है कि नीचे, तिरछे तथा ऊपर सभी ओर से सात मरुतों (वायु-मण्डल) के आवरण हैं जो क्रमशः निम्नरूप से समझे जा सकते हैं—

वह	में	अब्द—जलद—मेघ-मण्डल
प्रवह	,,	सूर्य
उद्वह	,,	चन्द्र
संवह	,,	नक्षत्र-मण्डल
आवह	,,	ग्रह-मण्डल
परिवह	,,	सप्तर्षि-मण्डल
परावह	,,	ध्रुव

टि०—ये सातों वायु प्रतिक्षण इन सभी को (केवल 'ध्रुव' को छोड़कर—जो अटल है) घुमाते रहते हैं। ध्रुव के द्वारा यह समस्त ज्योतिश्चक्र मानो बद्ध है।

टि०—सूर्यादि ग्रहों की गति का विशेष सम्बन्ध ज्योतिष-शास्त्र से ही है। अतः उसका विस्तार अप्रासङ्गिक है।

भवन प्रकृति एवं प्रतिकृति

(दे० अ० ६)

सहदेवाधिकार—इसकी विस्तृत समीक्षा हमारे भा. वा. वास्तु-विद्या एव पुर-निवेश में द्रष्टव्य है।

मानवधर्म, सभ्यता एवं संस्कृति

(दे० अ० ७)

वर्णाश्रम-प्रविभाग—यथा नाम मानव-समाज को विभिन्न वर्णों अध्यवसायों—पेशों में विभाजित कर एक सुसंगठित एवं सुव्यवस्थित समाज का निर्माण एवं प्रतिष्ठा किसी भी निवेश के लिये प्रथम सोपान है। अतः वास्तु का परमोपजीव्य विषय—निवेश (planning) के अनुरूप मानव-समाज का सम्यक् निवेश प्रथम प्रक्रिया (pre-requisite) है। अतएव समराङ्गण में 'वर्णाश्रम-प्रविभाग' नामक ७वें अध्याय की अवतारणा की गयी है।

महाराज पृथु को वास्तु-निवेश-संरक्षक के रूप में हम पहले ही देख चुके हैं। अतः मानवों का जब देवों से विच्छेद हुआ (दे० सहदेवाधिकार—स० सू० अ० ६) तो संतप्त मानव-समाज की सुनियोजना के लिए एवं उनके शासन-पालन के लिए करुणार्द्र पितामह ब्रह्मा पृथु को लेकर उपस्थित हुए और कहा 'आज से यह पृथु तुम्हारा, मरुतों-देवों के प्रभु वासव-इन्द्र के समान प्रभु होगा। दण्डधारी, लोकपाल, प्रभावशाली, प्रतापतापितारातिसिंह, सिंह-पराक्रम इस पृथु को तुम्हारे आधिपत्य में मैंने आज से अभिषिक्त किया। महाराज पृथु सज्जनों

की रक्षा करेंगे और दुष्टों का नाश । आज से यह तुम्हारे राजा हुए' इस प्रथम राज-कल्पना में समाज की सुनियोजना (Ordered planning) का मर्म अन्तर्हित है।

समाज की सुनियोजना का दूसरा नाम चातुर्वर्ण्याश्रम-स्थिति है। चातुर्वर्ण्य-विभाग एवं जीवन के चातुराश्रम्य-संस्थापन के परम्परागत तत्वों का विशेष उल्लेख न कर यहाँ इतना ही संकेत पर्याप्त है कि समाज की वृत्ति के लिए, अपने-अपने कर्मों—कर्तव्यों के सम्पादन के लिए खेट, ग्राम, नगर, वेश्म आदि की रचना अनिवार्य है—यही वास्तु-शास्त्र में वर्णाश्रम-प्रविभाग का मर्म है।

स्थानादि-विनिवेश-कार्य को सुगम बनाने के लिए पृथु के गोदोहन की व्याख्या हमने भौगर्भिक विज्ञान से की है (दे० वा० वि० प्र० प० अ० ५)।

सामान्य-पारिभाषिक काण्ड

स्थपति एवं स्थापत्य

वास्तु-कर्ता—(स्थपति)

(दे० अ० ८)

कोटियाँ—स्थपति, सूत्रग्राहिन्, तक्षक तथा वर्धकि

योग्यता—शास्त्र, प्रज्ञा एवं शील (अनिवार्य योग्यता)

सामुद्र, गणित, ज्योतिष, छन्द, सिरा, शिल्प एवं यन्त्र (विशेष योग्यता)

आलेख्य, लेख्यजात, दारुकर्म, चय, पाषाणकर्म (प्रतिमा)

सिद्धकर्म, स्वर्णकर्म, शिल्प (पच्चीकारी) अष्टविध कर्म की भी विशेष योग्यता।

वास्तु-कर्म—(स्थापत्य)

(दे० अ० ९)—अष्टाङ्ग स्थापत्य—

१—वास्तु-पुरुष-विकल्पन—Site-planning.

२—पुर-विनिवेश—Town-planning; द्वार-कर्म—Laying of the door; रथ्या-विभाग—Road-planning; प्राकार-निवेश—Fortification; अट्टालक-विनिवेश—ibid; प्रतोली-विनिवेश—Glorification of Gates; तथा विभाग-स्थानक-विनिवेश—Folk-planning.

३—प्रासाद-कर्म—Temple-architecture.

४—ध्वजोच्छ्रिति—इन्द्रध्वज-स्थापन—Hoisting of the Flag of Indra, the Guardian Deity of the Mason-architects of India.

५—नृपति-वेश्म विधान—Palace-architecture.

६—चातुर्वर्ण्य-विभाग (Civil-architecture)—Folk-planning in relation to the castes and professions (modern zoning) and the plans of residential houses for the common middle class people—the Śālā-houses.

७—यजमान-शाला-विनिवेश—Sacrificial Sheds.
यज्ञवेदी-प्रमाण एवं कोटि-होम-विधि—Ritualistic establishments.

८—राजशिविर-निवेश तथा दुर्ग-कर्म—Planning of the Royal

Camps and laying of the forts especially on the frontiers and in the midst of the babitations most suited for defence.

वास्तु-परीक्षा

देश-पर्यवेक्षण पुरःसर—

देशभेद—

जाङ्गल
अनूप } दे० भूमि-परीक्षा (अ० १०)
साधारण

देश-भूमि—१६ देश भूमियाँ—

वालिश-स्वामिनी—ऐसी सुन्दर एवं समृद्ध तथा भद्रजना भूमि जो वालिश राजा के भी द्वारा शास्य है।

भोग्या—यथानाम सर्वप्रकार के भोग्य साधनों से संयुक्त भूमि अतः निवासी समृद्ध।

सीतागोचर-रक्षिणी—जहाँ नदी, नदों की बहुतायत, मध्य तथा बाहर पर्वत, सीमाएँ एवं क्षेत्र विभक्त।

अपाश्रयवती—भयकारिणी, जनावासायोग्या—सरिताएँ, वन एवं पर्वत भयावह।

कान्ता—वन, उपवन, अद्रि, सरित, कुञ्ज आदि से मनोहर अतएव कान्ता।

खनिमती—सोने-चांदी की खानों के साथ-साथ लवण का भी जहाँ आधिक्य हो।

आत्म-धारिणी—अति स्वतन्त्र एवं अवश्य देश तथा स्फीतलोकाश्रया अर्थात् बहुत ही फैली हुईं वसतियाँ।

वणिक्-प्रसाधिता—जहाँ पर क्रय-विक्रय का अत्यधिक सौलभ्य एवं वणिक्जनों की विशेष वसतियाँ।

द्रव्य-वती—शाक, अश्व, पर्ण, खदिर, श्रीपर्णी, स्यन्दन, आसन, वेणु, वेत्र एवं शर आदि वृक्षों का जहाँ का आधिक्य।

अमित्र-घातिनी—जनपद सुविभक्त, शान्त एवं मैत्री-युक्त।

आश्रेणी-पुरुषा—वन्दियों से विरहित समन्तात् फैले दुर्गों से संश्रित एवं विनीत जनों से व्याप्त।

शक्य-सामन्ता—सामन्त राजा जहाँ पर परस्पर उदासीन एवं मन्त्र, उत्साह आदि से विमुख।

देव-मातृका—अनपेक्षितवर्षा-जल-प्रदेश।

धान्य-शालिनी—विना कर्षण के ही विना प्रयास धान्योद्गम वाली।

हस्ति-वनोपेता—हस्ति-प्रधान वनों एवं पर्वतों से युक्त तथा सैन्य-वर्धिनी।

सुरक्षा—प्राकृतिकरक्षा वाली—विषमाद्रि सरिद्-गुप्ता।

दुर्ग-भूमि—

पार्वत औदक

धान्वन आदि आदि।

वास्तु-मान—मान-योजना
(दे० अ० ११)

मान-विभाजन (Units of measurement)

८ रेणु	=	१ बालाग्र
८ बालाग्र	=	१ लिक्षा
८ लिक्षा	=	१ यूका
८ यूका	=	१ यवमध्य
८ यवमध्य	=	१ ज्येष्ठ अंगुल
७ ,,	=	१ मध्यम अंगुल
६ ,,	=	१ कनिष्ठ अंगुल
२४ अंगुल	=	१ हस्त

हस्त-विभाजन

द्वितीय अनु० दे० पु० ४ सूत्राष्टक-हस्त—इसमें २४ अंगुल बने हैं। इसकी त्रिविध संज्ञाओं का आगे वर्णन करेंगे। यहाँ पर इसकी विभाजन-प्रक्रिया समझ लेना चाहिए। इसमें तीन-तीन अंगुल पर एक-एक पर्वरेखा करने से आठ पर्व-रेखाएँ बनती हैं। चौथी पर्वरेखा पर आधा हस्त अथवा गज होता है। प्रत्येक पर्व-रेखा पर पुष्प का चिन्ह करना चाहिए। अथच गज के मध्य भाग से आगे के पाँचवें अंगुल के दो भाग, आठवें अंगुल के तीन भाग तथा बारहवें अंगुल के चार भाग करना चाहियें। इस प्रकार इस प्रक्रिया से प्राचीन गजों (हस्तों) का

निर्माण होता था। स्थपति के लिए उपयुक्त अन्य माप-दण्डों पर इस अध्याय के अन्त में उल्लेख किया जायेगा।

हस्त-निर्माण-काष्ठ

हस्त का निर्माण जिस किसी भी वृक्ष की लकड़ी से नहीं हो सकता। हस्त की लकड़ी खदिर (खैर) अञ्जन, वंश (बांस) आदि वृक्षों से लेनी चाहिये। पुनः यह लकड़ी श्लक्ष्ण (चिकनी तथा सुन्दर), हीर (लम्बी–सर्पाकृति), मनोरम तथा सारवत् (पुष्ट) होनी चाहिये। जो लकड़ी गाँठ वाली (ग्रन्थिल), छोटी (लघु), जली हुई (निर्दग्घ), पुरानी (जीर्ण) तथा फटी (विस्फुटित), कमज़ोर (अदृढ़) तथा कोटराक्रान्त (पशु-पक्षियों के कोटरों वाली—यतः ऐसी लकड़ी खोखली हो जाती है) दारु (लकड़ी) हस्त-निर्माण के लिये इष्टदायक नहीं।

—स० सू० ११. १०–१२

हस्त-देवता

निर्दिष्ट रेखाचित्र में यद्यपि हस्त-देवता-विन्यास प्रत्यक्ष नहीं है तथापि इस चित्र में शास्त्रादेश के अनुरूप मध्य में ब्रह्मा की प्रतिष्ठा है। ब्रह्मा के वाम भाग में प्रथम पर्व (मध्य से गणना कीजिये) पर अग्निदेव हैं, उसी प्रकार दक्षिण पर्व पर यम (काल)। पुनः उसी क्रम से दूसरे बाँयें पर्व पर विश्वकर्मा तथा दाहिने पर्व पर वरुण विराजमान हैं। इसी प्रकार फिर चलिये। तीसरे बाँयें पर्व पर वायु तथा दाहिने पर्व पर धनद—कुबेर जी की प्रतिष्ठा है। किन्हीं-किन्हीं ग्रन्थों के अनुसार कुबेर का उल्लेख न होकर सोम का उल्लेख है। शेष चौथे, बाँयें और दाहिने पर्वों पर क्रमशः रुद्र तथा विष्णु की प्रतिष्ठा प्रकल्पित की गई है।

देव-पीड़न

स० सू० में प्रतिपादित (११. १६–२७) देव-पीड़न का क्या मर्म है—यह समझ लेना चाहिये। उपर्युक्त कोई भी देव गज उठाते समय स्थपति के हाथ से दबना नहीं चाहिए अन्यथा अशुभ आपतित होते हैं। हस्त के देव-स्थानों अर्थात् पुष्पाङ्कित पदों को छोड़कर ही गज उठाना चाहिए। इसके विपरीत विरुद्धाचरण से कर्ता-स्थपति एवं कारक-यजमान गृहस्वामी दोनों के लिए अशुभ है। अतः हस्त-धारण में देवपीड़न सर्वथा वर्ज्य है।

गज का कौन स्थान शुभ है तथा कौन-सा अशुभ यह समझ लेना चाहिए—

शुभ		अशुभ	
ब्रह्मा तथा अग्नि का	मध्यभाग	ब्रह्मा तथा यम का	मध्यभाग
विश्वकर्मा तथा अग्नि का	,,	वरुण तथा कुबेर ,,	,,
यम तथा वरुण का	,,		
वायु तथा विश्वकर्मा का	,,		
रुद्र तथा वायु का	,,		
विष्णु तथा कुबेर का	,,		

त्रिविध हस्त-संज्ञाएँ

हस्त के ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ प्रभेदों का संकेत किया जा चुका है। इनकी संज्ञायें क्रमशः 'प्राशय', 'साधारण' एवं 'शय' अथवा 'मात्राशय' हैं। हस्त २४ अंगुलों का होता है। जिस हस्त के प्रत्येक अंगुल ८ यवों के परिमाण से प्रकल्पित हों उसे ज्येष्ठ अथवा 'प्राशय' हस्त कहा गया है। इसी प्रकार जिस हस्त के अंगुल सात यवों से प्रकल्पित हों वह मध्यम अथवा 'साधारण' हस्त के नाम से पुकारा जाता है। अथच तीसरी कोटि के हस्त ('कनिष्ठ' अथवा 'शय' अथवा 'मात्राशय') के प्रत्येक अंगुल ६ यवों से प्रकल्पित होते हैं।

हस्त-योजना

किस हस्त से कौन-कौन वास्तु-प्रकारों की माप करनी चाहिये इस ज्ञातव्य के लिए निम्न तालिका पथ-प्रदर्शन कर सकती है—

'प्राशय' का प्रयोग

१. पुर, खेट या ग्राम के निवेश में; उनके विभाग, आयाम, विस्तार, परिखा, द्वार, रथ्या (छोटी सड़कें) मार्ग (बड़ी सड़कें), सीमा-क्षेत्र, वन, उपवन, देशान्तर-विभाजन, मार्ग-माप-योजना, क्रोश, गव्यूति आदि के प्रमाण में;

२. प्रासाद (मन्दिर) सभा तथा भवन-निवेश में।

साधारण का प्रयोग

१. तलों की ऊँचाई, मूलपाद (नींव आदि), भूमि के नीचे के जलोद्देश;

२. दोलायें, धारा-यन्त्र, पात-यन्त्र (आधुनिक नल) तथा यन्त्र आदि;

३. गुहा-मन्दिर (शैलखात-निकेत), सुरंग तथा पगडण्डी आदि।

शय अथवा मात्राशय हस्त का प्रयोग

१. आयुध, धनुष का दण्ड, यान, शय्या तथा आसन;
२. कूप, वापी;
३. हाथी, घोड़े तथा मनुष्य;
४. गरारी (इक्षुयन्त्र);
५. शिल्पियों के औज़ार;
६. नौकाएँ, छाते, ध्वजायें तथा बाजे (आतोद्य);
७. रसोई के बर्तन, ढोल तथा नल्वदण्ड ।

मान-वर्ग

पुरातन वास्तु-परम्परा में जिन-जिन मानों एवं मापों का प्रयोग होता था उसका एक प्रकार से निघण्टु इस निम्न तालिका में निभालनीय है। विशेष संकेत यह है कि इन सभी मापों की 'यूनिट' अंगुल थी।

१	अंगुल	=	१ मात्रा	१४	,,	=	१ पाद
२	,,	=	१ कला	२१	,,	=	१ रत्नि
३	,,	=	१ पर्व	२४	,,	=	१ अरत्नि
४	,,	=	१ मुष्टि	४२	,,	=	१ किष्कु
५	,,	=	१ तल	८४	,,	=	१ व्याम तथा पुरुष
६	,,	=	$\frac{१}{४}$ हस्त	९६	,,	=	१ चाप तथा नाडीयुग
७	,,	=	१ दिष्टि	१०६	,,	=	१ दण्ड
८	,,	=	१ तूणि	३०	धनुष		
९	,,	=	१ प्रादेश		(चाप)	=	१ नल्व
१०	,,	=	१ शयताल	१०००	,,	=	१ क्रोश
११	अंगुल	=	१ गोकर्ण	२०००	धनुष	=	१ गव्यूति
१२	,,	=	वितस्ति				

(४ गव्यूतियाँ = योजन)

गणना (अंक-संख्या)

गणना का मान में महत्वपूर्ण स्थान है। अतः समराङ्गण ने अन्त में निम्न 'गणना' पर भी प्रवचन किया है। २० संख्याओं में सम्पूर्ण गणना (गणित) का समावेश निम्न तालिका से स्पष्ट है—

१. एक	१	११ खर्व	१००००००००००
२. दश	१०	१२ निखर्व	१०००००००००००
३. शत	१००	१३ शंकु	१००००००००००००
४. सहस्र	१०००	१४ पद्म	१०००००००००००००
५. अयुत	१००००	१५ अम्बुराशि	१००००००००००००००
६. नियुत	१०००००	१६ मध्यम	१०००००००००००००००
७. प्रयुत	१००००००	१७ अन्त्य	१००००००००००००००००
८. अर्वुद	१०००००००	१८ पर	१०००००००००००००००००
९. अन्यर्वुद	१००००००००	१९ अपर	१००००००००००००००००००
१०. वृन्द	१०००००००००	२० परार्ध	१०००००००००००००००००००

काल-संख्या

आँख का निमेष	=निमेष	१५ अहोरात्र	=१ पक्ष
१५ निमेष	=१ काष्ठा	२ पक्ष	=१ मास
३० काष्ठायें	=१ कला	२ मास	=१ ऋतु
३० कलायें	=१ मुहूर्त	३ ऋतुयें	=१ अयन
३० मुहूर्त	=१ अहोरात्र (दिन-रात)	२ अयन	=१ वर्ष

सूत्राष्टक

हस्त (गज) के साथ-साथ लगभग सात प्रकार के और सूत्र शिल्पियों के सहायक थे। यह परम्परा जैसी प्राचीन एवं मध्यकाल में थी, वैसी ही आज भी है।

शिल्पी के योग्य जिन आठ प्रकार के सूत्रों का संकेत किया गया है उनकी कौतूहल जिज्ञासा में निम्न श्लोक समुद्धृत किया जाता है—

सूत्राष्टकं दृष्टिनृहस्तमौञ्जं,
कार्पासकं स्यादवलम्बसंज्ञम्।
काष्ठं च सृष्ट्याख्यमतो विलेख्य—
मित्यष्टसूत्राणि वदन्ति तज्ज्ञाः॥

सूत्रविदों ने आठ प्रकार के सूत्र माने हैं—

१. दृष्टिसूत्र — एकमात्र नजर फेर कर चुनाई आदि का अन्दाजा लगाना कि ठीक जा रही है कि टेढ़ी-मेढ़ी;

२. हस्त (गज)
३. मूंज की डोरी
४. सूत की डोरी
५. अवलम्ब (जिसे राज लोग साहुल कहते हैं)
६. काष्ठ (कठकोना जिसे राज लोग गुनियाँ कहते हैं)
७. सृष्टि (रेवल)
८. परकाल

ये आठों सूत्र यथा निर्दिष्ट रेखा-चित्र (पृ० ४ [द्वितीय खण्ड अनु०]) से स्पष्ट हैं।

वास्त्वारम्भ—आयादि-विचार
(दे० अ० १२)

आय—चारों ओर नींव की भूमि (दीवाल) को छोड़कर मध्य की लम्बी और चौड़ी भूमि को गृह-स्वामी के हाथ से नापना चाहिये, जो क्षेत्रफल (लम्बाई × चौड़ाई) आये उसमें आठ से भाग देने पर जो शेष बचे वह ध्वज आदि आय हैं। इनकी क्रमशः पूर्वादि दिशा से गणना होती है जो निम्न चक्र से स्पष्ट है—

आय-चक्र

संख्या	१	२	३	४	५	६	७	८
आय	ध्वज	धूम	सिंह	श्वान	वृष	खर	गज	ध्वाङ्क्ष
दिशा	पूर्व	आग्नेय	दक्षिण	नैर्ऋत्य	पश्चिम	वायव्य	उत्तर	ऐशान्य

व्यय—घर के नक्षत्र की संख्या को आठ से भाग देने पर जो शेष रहे वह व्यय समझना चाहिये। आय की संख्या से व्यय की संख्या न्यून, अधिक तथा सम होने पर क्रमशः 'यक्ष' 'राक्षस' तथा पिशाच' व्यय निकलते हैं। इनमें प्रथम प्रशस्त द्वितीय अप्रशस्त तथा तृतीय मध्यम फलदायक हैं।

अंश—घर के क्षेत्र-फल की संख्या, घर के नाम की अक्षर-संख्या तथा

व्यय-संख्या इन तीनों को जोड़कर तीन से भाग देने पर जो शेष रहे वह 'अंश' है। एक शेष से 'इन्द्र', दो शेष से 'यम' तथा शून्य शेष 'राजा' अंश निकलते हैं।

तारा—घर के नक्षत्र से घर के स्वामी के नक्षत्र तक गिनना चाहिये। जो संख्या आए उसको नौ से भाग देना चाहिए, जो शेष रहे वह 'तारा' समझना चाहिए। इन ताराओं में छठी, चौथी और नवीं शुभ; पहली दूसरी और आठवीं मध्यम तथा तीसरी, पांचवीं और सातवीं अधम हैं।

नक्षत्र—घर के क्षेत्रफल को ८ से गुणा करके जो गुणनफल हो उसमें २७ से भाग देने से शेष नक्षत्र समझना चाहिये।

राशि—घर के नक्षत्र को ४ से गुणा करके गुणनफल में ९ से भाग देने पर घर की भुक्त राशि आती है। गृह एवं गृहस्वामी की राशि यदि परस्पर छठी और आठवीं या दूसरी और बारहवीं हों तो अशुभ समझना चाहिये।

आय-व्यय-गणना के सम्बन्ध में विश्वकर्म-प्रकाश का मत है कि जिस घर की लम्बाई ३२ हाथ (४८ फीट) से अधिक है तो आयादि-विचार अनिवार्य नहीं। इसी प्रकार जीर्ण-भवनों के उद्धार में भी आयादि-विचार आवश्यक नहीं। ज्योतिष-शास्त्रीय आयादि-विचार वास्तु-विद्या में क्यों चरितार्थ है— इस पर इतना तो संकेत पर्याप्त है कि जिस प्रकार वर-वधू के सुन्दर दाम्पत्य के लिये हम ग्रहों आदि का विचार करते हैं उसी प्रकार गृह एवं गृहस्वामी के सुखद एवं ऐश्वर्यपूर्ण चिर-सम्बन्ध के लिये भी इसकी अपेक्षा मानी गयी है।

आय, व्यय, तारा, तथा अंशक आदि की निम्न तालिका द्रष्टव्य है—

आय		अंश
१. ध्वज	१. पिशाच	१. इन्द्र
२. धूम	२. राक्षस	२. यम
३. सिंह	३. यक्ष	३. राजा
४. श्वा		
५. वृष		
६. खर		
७. कुञ्जर		
८. ध्वांक्ष		

तारा

सुरगण	राक्षसगण	मनुष्यगण
१. मृगशिरा	१. विशाखा	१. आर्द्रा

२. अश्विनी	२. कृत्तिका	२. भरणी
३. रेवती	३. आश्लेषा	३. रोहिणी
४. स्वाति	४. नैऋत	४. शतभिषा
५. मैत्र	५. वारुण	५. अनुराधा
६. पुष्य	६. मघा	६. मूल
७. पुनर्वसु	७. चित्रा	७. पूर्वाषाढ़ा
८. हस्त	८. ज्येष्ठा	८. उत्तराषाढ़ा
९. श्रवण	९. धनिष्ठा	९. पूर्वाभाद्रपदा

टि०—आयों के सम्बन्ध में इतना और उल्लेख कर देना आवश्यक है कि ये सभी आय प्रशस्त नहीं हैं। ध्वज, सिंह, वृष एवं गज प्रशस्त हैं, अन्य अशुभ हैं। परन्तु अधमों के लिये खर, ध्वांक्ष, धूम और श्वा—ये आय शुभ हैं। अथच धूम अग्निजीवियों के लिये; ध्वांक्ष सन्यासियों के लिये तथा स्वगण, श्वपाक, नटी, नर्तकों एवं वेश्याओं, कुम्हारों, धोबियों तथा गर्दभ-जीवियों के लिये खर शुभ है। पता नहीं इन निम्नकोटियों में सन्यासियों को क्यों घसीट लाया गया है? किस-किस रचना में किस-किस आय का विनियोग करना चाहिये इसका सविस्तर वर्णन किया गया है। इसके अनन्तर इन षट्करणों की योजना के सम्बन्ध में कौन-सी योजना शुभ है और कौन-सी अशुभ—इसका भी प्रतिपादन किया गया है।

इन्द्रध्वज-निरूपण

इन्द्रध्वजोत्थापन—प्रयोजन एवं उसके मान-प्रमाण

इन्द्रध्वजाङ्ग—

मूलभाग	शक्रमाता	ध्वजयन्त्र
अग्रभाग	कुमारियाँ	कुट्टनियाँ
मूलपाद	कन्यकाएँ	ध्वजदण्ड
भ्रम	लटक	भ्रम
पीठ	सूची	रज्जु
इन्द्रगृह	मृणाली	छित्रपट
मल्लप्रतिष्टा	ध्वजयष्टि	आदि

वास्तु-पद विन्यास

वास्तुत्रय-विभाग—तीन प्रमुख साइट-प्लान्स—

एकाशीति-पद-वास्तु

शत-पद-वास्तु

चतुष्पष्टि-पद-वास्तु

निवेश्य भूमि को प्रथम विभिन्न-संख्यक चौकोर पदों में विभाजित किया जाता है। मानसार के अनुसार (अ० ७) इस विभाजन की ३२ पद्धतियाँ हैं। इनके अनुसार निवेश्य भूमि को विभिन्न-संख्यक वर्गों में विभाजित किया जाता है। इनकी संज्ञाओं का आधार उन वर्गों की संख्या है जिसमें वह निवेश्य स्थल विभाजित किया जाता है। अथच प्रत्येक वर्ग-पद्धति की इस प्रकार संयोजना की गई है कि विभाज्य टुकड़ों की संख्या विभाज्य वर्ग की क्रमिक संख्या का प्रतिनिधि होता है। जैसे ८१ पद वाले वास्तु-पद में १० आयताकार समानान्तर रेखाएँ तथा १० व्यत्यस्त (transverse) रेखाएँ, यदि हम निम्नरूप से खींचें तो इस पद में ८१ टुकड़े निकलेंगे, वे सभी वर्ग होंगे अतः उनकी अपनी अपनी सम्पूर्ण संख्या से इस वास्तु-पद का नाम ८१ पदवाला वास्तु हुआ। ८१ पद-वास्तु-पद का निम्न रेखा-चित्र इस तथ्य को स्पष्ट करता है—
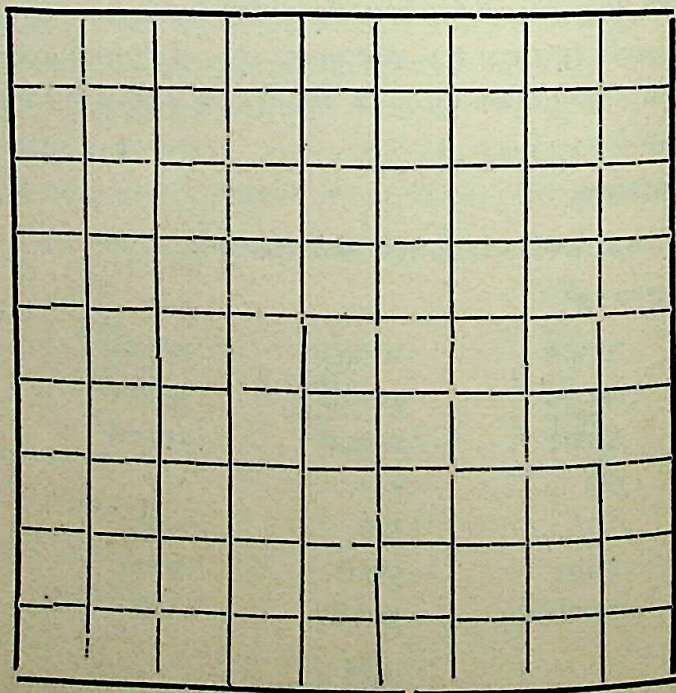
इसी प्रकार २ से लगाकर ३२ प्रकार के वास्तु-पद अथवा पुर-नक्शे, भवन-

नक्शे, प्रासाद-नक्शे तैयार हो सकते हैं। इन्हीं रेखा-चित्रों को आधार मान कर वास्तु-कार्य प्रारम्भ किया जाता था।

इन वास्तु-पद-योजनाओं को आज-कल की भाषा में 'साइटप्लान्स' के नाम से पुकारा जा सकता है। इनमें से एक आदर्श 'प्लान' लेकर हमें इसकी सविस्तर समीक्षा करनी है, जिससे भारतीय वास्तु-पद-विन्यास-प्रक्रिया समझने में सुबोध हो जाय।

एकाशीति-पद-वास्तु

इस वास्तु-पद में, जैसा ऊपर के रेखा-चित्र में संकेत किया गया है, ८१ वर्ग-टुकड़े हैं। इनमें से प्रत्येक की संज्ञा 'पद' मानी गई है और उसका एक अधिष्ठातृ-देव प्रकल्पित किया गया है। यह पद-विन्यास आधुनिक भवन-रेखा-चित्र (House-Plan) अथवा पुर-रेखा-चित्र (Town-Plan) के सदृश प्राचीन स्थपतियों के लिए निवेश-योजना में बड़ा ही सौकर्य एवं सौविध्य प्रदान करता था। उदाहरण के लिए इस पद-विन्यास में अथवा किसी भी पद-विन्यास-पद्धति में केन्द्र-स्थान का स्वामी ब्रह्मा होता है। अतः उसे 'ब्रह्मपद' की संज्ञा दी गई है। अतः यदि शास्त्र में ऐसा निर्देश मिले कि ब्रह्मपद पर अमुक भवनाङ्ग का निवेश करना चाहिए, तो सीधी भाषा में उसका अर्थ होगा कि ८१ पदवाले प्लाट में नवपदिक ब्रह्मपद पर निर्माण अभिप्रेत है। इसी प्रकार सम्पूर्ण पद-विन्यास के अपने-अपने पदों के स्वामि-देवों के संकेत से यह सम्पूर्ण पद-व्यवस्था सहज बोधगम्य हो जाती है। निवेश्य भूमि की चार प्रधान दिशाओं एवं चार उपदिशाओं तथा केन्द्र एवं मध्यभाग में कहाँ पर कैसा निवेश करना है—क्या छोड़ना है—यह सब बड़ा ही बोधगम्य बन जाता है।

पद-विन्यास की प्रक्रिया में पद-देवों के सम्बन्ध में ए। दो शब्दों को और समझ लेना चाहिये। 'पदिक' अथवा 'पदभुज' से संकेत एक वर्ग के अधिपति देव से है। 'द्विपदिक' अथवा 'द्विपदाधीश' का अर्थ उस देव से है जो दो वर्गों का स्वामी है। इसी प्रकार 'षट्पदभुज' अथवा 'षट्पदाधीश' से ६ वर्गों का स्वामी विहित है।

प्रधानतया वास्तु-पद-देवों को हम दो कोटियों में बाँट सकते हैं—अन्तः संश्रयदेवाः (वर्ग के मध्य तथा मध्यकोण के पदों के स्वामि-देवता), बहिः स्थदेवाः (वर्ग के बाहर के देवता)। स० सू० के अनुसार प्रत्येक वास्तु-पद-विन्यास में (विशेषकर ६४, ८१ तथा १०० पद वालों में) ४५ देव विहित हैं जिनकी एकाशीति-पद-वास्तु में निम्न रूप से प्रतिष्ठा प्रतिपादित की गई है—

भीतरी देवता

अ. केन्द्राधिपति	ब्रह्मा	नवपदिक	९
ब. मध्यस्थदेव	अर्यमा (पूर्व)	षट्पदिक	
	विवस्वान् (दक्षिण)	,,	
	मित्र (पश्चिम)	,,	
	पृथ्वीधर (उत्तर)	,,	=२४

स. मध्यस्थ कोणों के देव

सविता	एकपदिक	
सावित्र	,,	
जय	,,	
इन्द्र	,,	
यक्ष्मा	,,	
रुद्र	,,	
आप	,,	
आपवत्स	,,	=८

बाहरी देवता

अग्नि	पर्जन्य	* जयन्त	इन्द्र	
रवि	सत्य	* भृश	नभ	
अनिल	पूषा	* वितथ	गृहक्षत	
यम	गन्धर्व	* भृङ्गराज	मृग	
पितृगण	दौवारिक	* सुग्रीव	पुष्पदन्त	
वरुण	असुर	* शोष	पापयक्ष्मा	
रोग	नाग	* मुख्य	भल्लाट	३२+८=४०
सोम	चरक	* अदिति	दिति	योग=८१

टि० १—इनमें पुष्पाङ्कित देवता द्विपदाधीश हैं अर्थात् जयन्त, भृश, वितथ, भृङ्गराज, सुग्रीव, शोष, मुख्य तथा अदिति—ये आठ देवता बहिःस्थ तो हैं ही भीतर घुसकर एक-एक पद का और भोग करते हैं—प्रभुता रखते हैं।

टि० २—भीतरी १३ तथा बाहरी ३२—इन ४५ देवों के अतिरिक्त चरकी विदारी, पूतना तथा पापराक्षसी ये चार ऐशान्य, आग्नेय, नैर्ऋत्य एवं

वायव्य कोणों में क्रमशः स्थित बतायी गयी हैं। इनका स्थान-मात्र है पदभोग नहीं। अस्तु, निम्नलिखित रेखा-चित्रों से इन सभी की स्थिति स्पष्ट समझ में आ सकती है—

परमशायिक

वायव्य उत्तर ऐशान्य

पश्चिम / पूर्व

पापराक्षसी रोग	नाग	मुख्य	भल्लाट	सोम	चरक	अदिति	दिति	चरकी अग्नि
पापयक्ष्मा	रुद्र	↓		पृथ्वीधर		↓	आप-वत्स	पर्जन्य
शोष →		राज-यक्ष्मा		पट्पदिक		आप	←	जयन्त
असुर								इन्द्र
वरुण	मित्र	(षट्पदिक)		ब्रह्मा नवपदिक		अर्यमा	(षट्पदिक)	रवि
पुष्पदन्त								सत्य
सुग्रीव →		जय		विवस्वान्		सविता	→	भृश
दौवारिक	इन्द्र	↓		पट्पदिक		↑	सावित्र	नभ
पितृगण पूतना	मृग	भृङ्ग-राज	गंधर्व	यम	गृहक्षत	वितथ	पूषा	अनिल विदारी

नैऋत्य दक्षिण आग्नेय

टि०—इन टुकड़ों को वर्ग-टुकड़ें समझें

इसी प्रकार 'चतुष्षष्टि-पद-वास्तु' तथा 'शत-पद-वास्तु' की प्रकल्पना की जा सकती है। संक्षेप से इन दोनों पर भी विवेचन हमारे भा. वा. में देखें।

अन्य वास्तु-विभाग

षोडश-पद-वास्तु-पद
सहस्र-पद-वास्तु-पद

वृत्त-वास्तु-पद	१ चतुष्षष्टि-पद वृत्त-वास्तु
	२ शत-पद वृत्त-वास्तु
त्र्यश्र वास्तुपद	त्रिकोण
षडश्र ,,	षट्कोण
अष्टाश्र ,,	अष्टकोण
षोडशाश्र ,,	षोडशकोण
वृत्तायत ,,	अण्डाकार
अर्धचन्द्राकार ,,	अर्ध-वृत्ताकार

वास्तुपद-प्रयोग

समराङ्गण के अनुसार—(अ० १३. ३-५) एकाशीतिपदिक वास्तु-पद पर वर्णियों (ब्राह्मण, क्षत्रि, वैश्य आदि) के भवनों के साथ-साथ राजा का राज-प्रासाद एवं भूपतियों के आधिपत्य-प्रतीक-देव स्वर्गपति इन्द्र के प्रासाद (इन्द्र-स्थान) का निर्माण करना चाहिये।

देव-प्रासादों (विभिन्न देवों एवं देवियों के मन्दिरों तथा उनके संवृत (संयुक्त) अथवा विवृत (पृथक्) दोनों प्रकार के मण्डपों के निर्माण में 'शतपद-वास्तु' का प्रयोग करना चाहिये।

अथच ग्रामों, पुरों एवं उनके विभिन्न प्रभेदों के साथ-साथ राजाओं के शिविरों आदि में चतुष्पष्टि-पद-वास्तु-पद का प्रयोग करना चाहिये।

वास्तु-पुरुष-विकल्पन—

अङ्गादि विभाग
सिरादि-मर्मादि-विभाग
वंश-महावंशादि-विभाग
सन्धि-अनुसन्धि-आदि-विभाग
नाडी-आदि-विवेचन-विभाग
मर्म-उपमर्म-आदि विभाजन तथा सम्पातादि-विभाग

वास्तु-पुरुष

प्रमुख वास्तु-पदों एवं उनके अधिपति-देव-वर्गों के इस दिग्दर्शन के उपरान्त अब उन सबके अधिष्ठातृ-देव वास्तु-पुरुष की भी वास्तु-प्रतिष्ठा प्रतिपाद्य है।

समराङ्गण के अष्टाङ्ग-लक्षण नामक ४५वें अध्याय के अनुसार वास्तु-पुरुष-विकल्पन स्थापत्य का प्रथम अंग है, अतः निवेश्य पद पर वास्तु-पुरुष-प्रतिष्ठा स्थपति की प्रथम योग्यता है।

वास्तु-पुरुष समस्त पद का स्वामी है। वास्तु-पुरुष का यथा-नाम पुमाकृति में प्रकल्पन करना चाहिये (स० सू० १४.१)। उसकी वास्तु-आकृति वक्र बतायी गयी है और पृष्ठ उठा हुआ (hump-backed); अतः इसकी इस प्रकार से प्रतिष्ठा करनी चाहिये कि उसका समस्त निवेश्य पद पर विन्यास हो सके। इस प्रकार विभिन्न पदों के अधिपति-देव वास्तु-पुरुष के विभिन्न अंगों के अधिपति बन जाते हैं; अथवा वास्तु-पुरुष रूपी प्रकाण्ड तरु की वे सब तना (ब्रह्मा), स्कन्ध अथवा बड़ी और मोटी शाखायें (अर्यमादि ४ देव) एवं क्षुद्र शाखायें अन्य देव हैं। वास्तु-पुरुष एवं वास्तु-पद-देवों की इस भावना में औपनिषदिक—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति'—की महाभावना का ही प्रतिविम्ब दिखाई पड़ता है।

अस्तु, वास्तु-पुरुष के विभिन्न अंगों पर भावित देवों की तालिका निम्न लिखित है—

वास्तु-पुरुषाङ्ग
शिर—अग्नि
नेत्र-द्वय—दिति एवं अम्बुदाधिप
कर्ण-द्वय—जयन्त एवं अदिति
मुख—वायु
दक्षिण भुज—अर्क (रवि)
वाम भुज—सोम
वक्षःस्थल—महेन्द्र, चरक, आप एवं आपवत्स
दक्षिण स्तन—अर्यमा
वाम स्तन—पृथिवीधर
दक्षिण बाहु—सत्य, भृश, नभ, वायु एवं पूषा
वाम बाहु—यक्ष्मा, रोग, नाग, मुख्य एवं भल्लाट
करफोणिस्थ—(दोनों हथेलियां)—सावित्र, सविता, रुद्र तथा शक्तिधर
हृदय—ब्रह्मा
बगल (दक्षिण) वितथ तथा गृह क्षत
" (वाम) शोष तथा असुर
उदर—मित्र एवं विवस्वान्

मेढ़्र-मध्य—इन्द्र एवं जय
ऊरू—यम एवं वरुण (दक्षिण तथा वाम)
जंघाएँ—गन्धर्व, भृङ्ग तथा मृग
चरण—दौवारिक, सुग्रीव एवं पुष्पदन्त

यहां पर एक विशेष तथ्य की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षणीय है। समराङ्गण-सूत्रधार-वास्तु-शास्त्र ही एकमात्र ग्रन्थ है, जिसमें इन पद-देवों का 'निघण्टु' भी दिया गया है। इसका क्या मर्म है—इस पर हम अपने भा० वा० वा. वि. पु. नि. में विचार कर चुके हैं। अस्तु, इस 'निघण्टु' की निम्न अवतारणा कर देना आवश्यक है—

ब्रह्मा	=अब्जसंभव, सहस्रानन, अचिंत्य-विभव
वह्नि	=सर्वभूतहर, हर
पर्जन्य	=वृष्टिमान्, अम्बदाधिप
जयन्त	=काश्यप भगवान्
महेन्द्र	=सुराधीश, दनुजों के विमर्दक
विवस्वान्	=अहस्कर
सत्य	=भूतहित, धर्म
भृश	=काम, मन्मथ
अन्तरिक्ष (नभ)	=नभस्
मारुत (अनिल)	=वायु
पूषा	=मातृगण
वितथ	=अधर्म, कलि का अप्रतिम सुत
गृहक्षत	=चन्द्रतनय, बुध
यम	=प्रेताधिप, विवस्वान् के पुत्र
गन्धर्व	=नारद
भृङ्गराज	=निर्ऋति के पुत्र
मृग	=अनन्त, स्वयंभू धर्म
पितृगण	=पितृलोक-निवासी देवगण
दौवारिक	=नन्दी, प्रमथों के अधीश्वर
सुग्रीव	=आदि प्रजापति मनु
पुष्पदन्त	=महाजव, वैनतेय
वरुण	=जलनाथ, लोकपाल
असुर	=राहु, अर्केन्दुमर्दन, सिंहिकासुत
शोष	=सूर्यपुत्र, शनैश्चर

पापयक्ष्मा	=क्षय
रोग	=ज्वर
नाग	=वासुकि
मुख्य	=त्वष्टा, विश्वकर्मा
भल्लाट	=चन्द्र
सोम	=कुबेर
चरक	=व्यवसाय
अदिति	=श्री
दिति	=?
रुद्र (शूलभृत्)	=वृषभध्वज
आप	=हिमवान्
आपवत्स	=उमा
अर्यमा	=आदित्य
सावित्र	=वेदमाता
सवितृ	=देवी गंगा
विवस्वान्	=मृत्यु, शरीरहर्ता
जय	=वज्री
इन्द्र	=बलवान् हरि
मित्र	=हलधर, माली
रुद्र	=महेश्वर
राजयक्ष्मा	=गुह
क्षितिध्र	=अनन्त
चरकी, विदारी पूतना तथा पापराक्षसी	=रक्षयोनिभवा देवानुचरियां

वास्तु-पुरुषाङ्ग—षोडश वास्तु-वर्ण—

वर्ण	अङ्ग	वर्ण	अङ्ग
१. क्ष	मूर्धा	७. ल	नाभि
२. ह	दोनों आँखों का मध्य	८. र	वस्ति
३. स	नासिका	९. य	मेढ्र
४. ष	चिवुक	१०. म	दोनों मुष्क
५. श	कण्ठ	११. न	ऊरु (जङ्घा)
६. व	हृदय	१२. ण	जानु (घुटने)

१३. ब	पिण्डिका	१५. प	चरण
१४ ङ	दोनों गुल्फान्त	१६.	?

वास्तु-देवता-बलि—प्रारम्भिक कृत्य

मण्डल-करण

कलश-न्यसन (स्थापन)

वास्तु-देवता-कल्पन

अर्घ्य-निवेदन

वास्तु-देवता-बलि (दे० अनु०)

वास्तु-देवता-बलि—उचित कृत्य

भूमि-शोधन

भूमि-कर्षण

भूमि-साधन

भूमि-रूप-कल्पन

गृह-प्रवेश

स्कन्धावार-निवेश

पुर-निवेश

ग्राम-निवेश

देवालय-निवेश

राजभवन-निवेश आदि

वास्तु-पुरुष के षण्महन्ति—मर्म-स्थान—मुख, हृद्, नाभि, मूर्धा, दोनों स्तन

मर्म-वेध द्वारादि, भित्ति, स्तम्भ, जयन्ती आदि भवन-द्रव्य के साथ मर्म-वेध से प्रादुर्भूत फल० दे० अनु०।

वास्तु-संस्थान-मातृका—

क्षेत्र		क्षेत्रवासी
चतुरश्र	आकृति	राजा
सम	,,	अन्तःपुर
साचि अथवा शय्याकार	,,	पुरोहित
दीर्घ	,,	राजकुमार
वृत्तायत	,,	सेनापति
शम्बुक	,,	वाहन
शकट	,,	वैश्य
नरपद	,,	चोर

अक्ष	आकृति	?
भग	,,	वेश्याएँ
दर्पण	,,	स्वर्णकार
वज्र	,,	नगरगोष्ठिक
कंथा	,,	?
छिन्नकर्ण	,,	महामात्र
विकर्ण	,,	मृगलुब्धक (बहेलिये)
शंखाभ	,,	काण (काने)
क्षुरसन्निभ	,,	गणाचार्य
शक्त्यायन	,,	अजाध्यक्ष
कूर्मपृष्ठ	,,	माली
सदंश	,,	दर्जी
व्यजन	,,	घुड़सवार तथा सईस
शराव	,,	बढ़ई
स्वस्तिक	,,	वन्दिजन तथा मागधगण
मृदंग तथा पणव	,,	वेणु, तूर्य (तुरही) आदि बजाने वाले
विशर्कर	,,	रथ-वाहक
कबन्ध	,,	नीच और चाण्डाल
यवमध्यसम	,,	धान्य-जीवी (किसान)
उत्संग	,,	श्रमण (जैन साधु)
गजदंत	,,	हस्त्यारोही (पीलवान)
परशु	,,	कैदी
विस्रावित	,,	सुरा-कार (कलवार)
श्वभ्र	,,	मजदूर
युगल	,,	नाई
विवाहिक	,,	कोष-रक्षक
त्रिकुष्ट		अग्नि-जीवी (भुजवा)
पञ्चकुष्ट	,,	,, ,,
परिच्छिन्न	,,	मानोपजीवी
दिक्स्वस्तिक	,,	चैत्य एवं वास-भवन
श्रीवृक्ष		वृक्ष (उद्यान आदि) तथा यज्ञवाट
वर्धमान	,,	,, ,, ,,
एणीपद	,,	गणिकाएँ

शिलान्यास-विधि (दे० अनु०)

शिलान्यास मुहूर्त

प्रथमेष्टका—पूर्णा, समा, अविकला, चतुरश्रा

प्रशस्ता शिला—दे० अनु०

अप्रशस्ता शिला—„ „

शिला-प्रभेद—संज्ञा	देवता-ऋषि
नन्दा	वशिष्ठ
भद्रा	काश्यप
जया	भृगु
पूर्णा	अङ्गिरस्

शिला-स्थापन-विधान (दे० अनु०)

उपशिला-भेद „

शिला-अङ्क (चिह्न)—

शिला	अङ्क
नन्दा	प्राकार
भद्रा	स्वस्तिक
जया	श्रीवत्स
पूर्णा	नन्द्यावर्त

शिला-प्रतिष्ठापन-मन्त्र (दे० अनु०)

शिलान्यास-विधान-वास्तु-भेद

चैत्य	वितान
भवन	चिति
प्राकार	चतुर्मुख-निकेतन
पुर	प्रतिमा-स्थापन

वैदिक शिलाचयन-मन्त्र (दे० अनु०)

विधिवत्स्थापित शिलाचालन-फल—„ „

कीलक-सूत्रपात—

कीलक-निर्माण-दारु-विशेष—प्रशस्ताप्रशस्त-वृक्ष-परिगणन

कीलक-प्रमाण—वर्णानुरूप (दे० अनु०)

सूत्र-प्रभेद

दार्भ—कुशों से निर्मित

मौञ्ज—मूंज „ „

और्ण—ऊन ,, ,,

कार्पास—कपास,, ,, (सूत या डोरी)

कीलक-स्थापन-विधि (दे० अनु०)

पुरोहित-पूजा—पण्डित जी की पूजा

सांवत्सरिक-पूजा—ज्योतिषी जी की पूजा

स्थपति-पूजा—राज मिस्त्री जी की पूजा

कर्मकर-पूजा—मज़दूरों की पूजा

सूत्रपातोपकरण-बलिदानादि (दे० अनु०)

शङ्कुताडन-विधि

शङ्कु-अभिषेकादि

शङ्कु-स्थापन-बलिदान-विधि

सामादिमन्त्राभिमन्त्रित कुम्भोदक से वास्तु-प्रोक्षण

———

पुर-काण्ड

नगरादि-संज्ञा

(दे० अ० २३)

नगर

नगर	निवास
मन्दिर	सदन
दुर्ग	सद्म
पुष्कर	क्षय
साम्परायिक	क्षितिलय

टि०—इन नगर-संज्ञाओं में नगर-विकास निहित है—साधारण-नगर, राजधानी-नगर, मन्दिर-नगर, दुर्ग-नगर, तीर्थ-नगर आदि आदि ।

शाखा-नगर—

कर्वट	गोष्ठ
निगम	गोष्ठक
ग्राम	पल्ली
गृह	पल्लिका

टि०—महानगर के चतुर्दिक् इन वसतियों को शाखा-नगर—branch towns कहते हैं ।

पत्तन—राजाओं का उपस्थान

पुटभेदन—व्यावसायिक नगर

जनपद
राष्ट्र
देश
मण्डल } ये देश-विशेष के प्राचीन पारिभाषिक विभाजन हैं ।

(दे० अनु०)

भवनादि-संज्ञा

आवास	धिष्ण्य	शरण
सदन	भवन	आलय
सद्म	वसति	निलय
निकेत	क्षय	लयन
मन्दिर	आगार	वेश्म
संस्थान	संश्रय	गृह

निधन	नीड	ओक
	गेह	प्रतिश्रय

टि०—इन संज्ञाओं में भवन-विकास का स्पष्ट चित्र देखने को मिलता है। नीड, शरण, संश्रय आदि साधारण झोपड़ियों से आवास, सदन, आलय, मन्दिर ऐसे भव्य भवनों का विकास प्राप्त हुआ।

भवनाङ्ग—

हर्म्य	भित्ति	कण्ठ
सोपान	चय	प्राकार
अभिगुप्ति	निःश्रेणि	प्रणाली
वातायन	काष्ठ-विटङ्क	मरालपाली
अवलोकनक	भक्तशाला	सौध
उलूक	महानस	कुट्टिम
हर्म्यप्राकारक	द्वारकोष्ठक	प्रद्वार
वितर्दिका	प्रवेशन	आस्थालक
ईहामृग	द्वारनिर्गमन	मूत्रभूमि
निर्यूह	उदकभ्रम	अमेध्य
वलीक	भवनाजिर	वर्चस्क
चतुश्शाल	उदुम्बर	अवस्कर
त्रिशाल	देहली	परिसर
द्विशाल	कपाटाश्रय	अट्ट
एकशाल	कपाट	अट्टालक
शाला	द्वारपक्ष	अट्टाली
वापी	कपाटपुट	धारा-गृह
पुष्करिणी	पक्ष	दर्पण-गृह
गर्भगृह	पिधान	महाद्वार
महाजनस्थान	वरण	पक्षद्वार
त्रिकुड्य	द्वारसंवरण	उपकार्या
उपस्थान	कपाटसंपुट	क्षौम
उपस्थानक	कपाटयुगल	चय-प्राकार-शाला
प्रासाद	कलिका	क्रीडा-गृह
प्रासादिका	अर्गला	आराम
दीर्घप्रासादिका	अर्गला-सूची	उद्यान

वलभी	परिघ	जलोद्यान
अलिन्द	फलिह	जलवेश्म
वलभा	फलक	देवधिष्ण्य
चतुष्कुड्य	गवाक्ष	सुरस्थान
अपवरक	जाल	चैत्य
आभ्यन्तरं-स्थान	तोरण	अर्चागृह
शुद्धान्त	सुवर्ण-तोरण	देवतायतन
प्रतोली	मणि-तोरण	विबुधागार
कक्षा	पुष्प-तोरण	सभा
उपस्थानक	सिंहकर्ण	शाला
कोष्ठक	संयमन	गोष्ठ
कण्ठा	सञ्चरभूमि	

पुर-निवेश—नगर-निवेश

पुर-निवेशाङ्ग

प्राकार, परिखा, अट्टाल, द्वार, रथ्या, मार्ग } दे० पुरनिवेश अ० २२

नगर-विकास—समराङ्गण-सूत्रधार—दे० नगरादि-संज्ञा नगर, मन्दिर आदि १० संज्ञाएँ।

" —शब्द कल्पद्रुम

गेह	पुरी	दे० भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश पूर्व-पीठिका अ० २
हट्ट	नगर	
व्यवहारस्थान	पत्तन	
कटक	पुभेदन	
ट्टप	ठव	
निगम	मटहार	

टि०—इनको नगर-विकास के दो प्रधान वर्गों में बांटा जा सकता है—स्वतः-प्रवृत्त तथा पर-प्रवृत्त।

नगर-भेद—स० सू० ज्येष्ठ नगर, मध्यम नगर, कनिष्ठ नगर।

शाखा-नगर ,, राजधानी, पत्तन, पुटभेदन, निगम, खेट, कर्वट, ग्राम।

मानसारीय नगर-भेद

नगर	खर्वाट	मठ
राजधानी	शिविर	विहार
पत्तन	सेनामुख	द्रोणमुख
पुटभेदन	स्कन्धावार	कोटमकोलक
दुर्ग	स्थानीय	निगम
खेट		

ग्राम-प्रभेद

दण्डक	प्रस्तर	श्रीप्रतिष्ठित
सर्वतोभद्र	कार्मुक	सम्पत्कर
नन्द्यावर्त	चतुर्मुख	कुम्भक
स्वस्तिक	प्रकीर्णक	श्रीवत्स
पद्मक	पराग	वैदिक

टि०—इनमें दण्डक आदि ८ प्रमुख नगरों एवं ग्रामों के लिए दे० रेखाचित्र पृष्ठ ७९।

दुर्ग-प्रभेद—दो प्रधान वर्ग—१ अकृत्रिम दुर्ग, २ कृत्रिम दुर्ग।

कृत्रिम दुर्ग—दुर्गनगर।

अकृत्रिम दुर्ग—प्रकृति-प्रदत्त उपादानों पर—

पार्वत-दुर्ग	मही-दुर्ग
प्रान्तर	पारिघ
गिरिपार्श्वक	पङ्क
गुहादुर्ग	मृद्दुर्ग
जल-दुर्ग	नृ-दुर्ग
अन्तर्द्वीप	सैन्य-दुर्ग
स्थलदुर्ग	सहाय-दुर्ग
मरु-दुर्ग	मिश्र-दुर्ग
निरुदक	दैव-दुर्ग
धान्वन	शिविर
वन-दुर्ग	स्कन्धावार
खाञ्जन	सेनामुख आदि
स्तम्बगहन	

नगरोचित-देश-चयन—प्रकृति, जनपद एवं जलवायु

नगरोचित भूमि-चयन—

भू-परीक्षा—भू-स्थल-परीक्षा—

१ जाङ्गल
२ अनूप
३ साधारण
} दे० अ० २२

दुष्ट-भूमि—

भस्माङ्गारवती	पक्षिविण्मूत्रमलगन्धा
कपालास्थिवती	तैलगन्धा
तुषकेशविषवती	शवगन्धा
शूपकोत्करवती	धूम्रवर्णा
वल्मीकि बहुला	मिश्रवर्णा
शर्करिला	विवर्णा
रुक्षा	रुक्षवर्णा
निम्न प्ररोहिणी	तिक्ता
भंगुरा	आम्ला
सुषिरोपरा	लवणा
वामावर्तजलस्राविणी	स्वेदला
असारा	रुक्षस्पर्शा
विषमोन्नता	खरस्पर्शा
कटुकंटकिनि:सारशुष्कनिष्फलपादपा	सदैवोष्णा
क्रव्यात्पक्षिसमाकीर्णा	सदैवहिमा
कृमिकीटवती	अनिष्टसुखसंस्पर्शा
सुकृतनाशिनी	क्रोष्टुस्वाना
सरित्पूर्ववहा	उग्रस्वाना
वसागन्धा	खरस्वाना
स्रक्गन्धा	निर्झरस्वाना
मज्जागन्धा	भिन्नभाण्डसमक्रूरस्वाना

पद-विन्यास—दे० पृष्ठ ३१

मार्ग-विनिवेश

प्रधानमार्ग—	रथ्या
राजमार्ग	यानमार्ग

महारथ्या जङ्घापथ
उपरथ्या घण्टामार्ग
मार्ग की नालियाँ—फुट-पाथ दे० अ० २२
पद्याएँ
मार्ग-चतुष्पथ

पुर-वसतियाँ—जातिवर्णाधिवास
नगरोचित देवतायतन—मण्डप, आराम, उद्यान, पुर-जन-विहार आदि
} दे० वसति-तालिका भा. वा.शा. वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश उत्तर-पीठिका अ० ६

नगरोचित-रक्षा संविधान—

वप्र	गोपुरद्वार
परिखा	महाद्वार
प्राकार	वक्त्रद्वार
अट्टालक	पक्षद्वार
चरिका	प्रतोली
कपिशीर्षक	रथ्या
काण्डवारिणी	

} „ „ अ० ७ „ „

पुर-आकृति—
प्रशस्त—चतुरश्राकार ही प्रशस्त है—

अ-प्रशस्त—	गर्हित पुर
छिन्नकर्ण	शकटद्विसमाकार
विकर्ण	द्विगुणायतसंस्थान
वज्राकार	दिङ्मूढ
सूचीमुख	भुजङ्गकुटिल
वर्तुल	यवमध्यसमाकार
चापाकृति	मृदङ्गाकार

टि०—आधुनिक नगर-निवेश में प्राचीन नगर-निवेश की देन के विवरण हमारे भारतीय वास्तु-शास्त्र—वास्तु-विद्या एवं पुर-निवेश में पठनीय हैं—देखिए अ० ६ (उत्तर-पीठिका)।

भवन काण्ड

भवन-प्रकार

(शाल-भवन-भेद)

शाल-भवन

नोट—शाल-भवन-भेद-प्रभेदों की इस सूची में सुविधा के लिये निम्नलिखित संक्षेप-चिह्न दिए जा रहे हैं। निम्नलिखित इन चार प्रमुख शाल-भवन-भेदों के अतिरिक्त सभी अन्य शाल-प्रभेद इन्हीं चारों के संयोग से निष्पन्न होते हैं, अतः इन चिह्नों की निरन्तर आवश्यकता पड़ेगी—

एकशाल—ए   त्रिशाल—त्रि
द्विशाल—द्वि   चतुश्शाल—च

एतद्-व्यतिरिक्त पारिभाषिक शब्दों के संक्षेप चिह्न हैं—

षट्दारुक—ष. दा.   सिद्धार्थ—सि.
हिरण्यनाभ—हि.   यमसूर्य—य.
सुक्षेत्र—सु.   दण्ड—द.
चुल्ली—चु.   वात—वा.
पक्षघ्न—प.

एकशाल के प्रभेद—

ध्रुव   मनोरम   धनद
धन्य   सुमुख   क्षय
जय   दुर्मुख   आक्रन्द
नन्द   क्रूर   विपुल
खर   सुपक्ष   विजय
कान्त

टि०—अलिन्दों के विभिन्न विन्यासों से एकशाल के अन्य ९ भेद हैं—

रम्य   मुदित   सुनाभ
नन्द   वर्धमान   ध्वाङ्क्ष
श्रीधर   कराल   समृद्ध

टि०—शाला-विभागानुरूप तिर्यक्.षट्-दारुक के निवेश से .ध्रुवादि के पुनः १६ अन्य प्रकार होते हैं—

सुन्दर   सर्वलाभ   उद्योत
वरद   विशाल   भीषण
भद्र   विलक्ष   शून्य

प्रमोद	अशुभ	अजित
विमुख	ध्वज	कुलनन्दन
शिव		

टि०—नाम-मात्र से इनका शुभत्व और अशुभत्व समझ लेना चाहिये। पुन: उपर्युक्त पट्दारुक के विभिन्न स्थापत्य-विन्यास (सम्मुख-विन्यास) के फलस्वरूप निम्नलिखित १६ अन्य प्रकार होते हैं—

हंस	रुचिर	वृष
सुलक्षण	सम्भृत	उच्छन्न
सौम्य	क्षेम	व्यय
जयन्त	आक्षेम	आनन्द
भव्य	सुकृत	सुनन्द
उत्तम		

नोट—शुभाशुभत्व पूर्ववत् यथानाम बोद्धव्य है।

प. दा. के क्षैतिज-विन्यास (मध्य-विन्यास) से प्राप्त अन्य १६ प्रकार हैं—

अलङ्कृत	सुगर्भ	सुभद्र
अलङ्कार	कलश	वन्दित
रमण	दुर्गत	दीन
पूर्ण	रिक्त	विभव
अम्बर	ईप्सित	सर्वकामद
पुण्य		

प. दा. के आन्तरिक विन्यास से पुन: अन्य १६ प्रकार हैं—

प्रभव	यशोद	वसुधार
भाविक	कुमुद	धनहर
क्रीड़	काल	कुपित
तिलक	भासुर	वित्तवृद्धिद
क्रीडन	सर्वभूषण	कुलोदय
सुख		

टि०—अन्तिम षोडशधा विभाग, इन अन्तिम प्रकारों में चतुर्दिक अलिन्दों के विन्यास से, सम्पन्न होता है।

चूडामणि	भूतिद	रौद्र
प्रभद्र	हृष्ट	मोघ
क्षेम	विरोध	मनोरथ

शेखर	कालपाशक	सुभद्र
अद्भुत	निरामय	
विकाश	सुशाल	

इस प्रकार एकशाल-भवन के १०५ प्रकार हैं (मूल में १०४ कहा है)

द्विशाल-भेद—

हस्तिनी, महिषी, गावी, अजा—इन चार शालाओं में दो-दो को मिला देने से द्विशाल के निम्न मुख्य ६ प्रकार हैं—

सिद्धार्थ (हस्तिनी + महिषी)
यमसूर्य (महिषी + गावी)
दण्ड (अजा + गावी)
वात (हस्तिनी + अजा)
चुल्ली (महिषी + अजा)
काच (हस्तिनी + गावी)

टि०—इनमें प्रथम शुभ एवं शेष अशुभ हैं।

अथच मूषाओं, वीथिकाओं एवं अलिन्दों के विभिन्न स्थापत्य-विन्यासों के साथ-साथ प्राग्ग्रीव-प्रभृति के संयोग से इन ६ प्रकारों के ५२ उप-प्रकार होते हैं। प्रथम चार के ग्यारह-ग्यारह और शेष दो के चार-चार भेद होते हैं—

१. सिद्धार्थ-प्रभेद

वसुधार	शिव	निष्कलङ्क
सिद्धार्थक	कामप्रद	धनाधीश
कल्याणक	श्रीद	कुवेरक
शाश्वत	शान्त	

२. यमसूर्य-प्रभेद

संहार	यम	मृतक
यमसूर्य	कराल	शव
कराल	विकराल	महिष
वैवस्वत	कवन्धक	

३. दण्ड-प्रभेद

प्रचण्ड	काण्ड	धूम्र
चण्ड	कोटर	निर्धूम

दण्ड	विग्रह	दन्तिदारुण
उद्दण्ड	निग्रह	

४. वात-प्रभेद

मरुत्	प्रभञ्जन	कलह
पवन	घनारि	कलि
वात	अम्बुदविध्वंसि (रोग)	कलिचुल्ली
अनिल	प्रलय	

५. चुल्ली-प्रभेद

रोग	अनल
चुल्ली	भस्म

६. काच-प्रभेद

छल	कुलघ्न (कलह)
काच	विरोधि

टि०—द्विशाल-भवनों के इन विभिन्न प्रकारों में मुख्य तत्व मूपाओं का प्रचुर प्रयोग है। एक मूपा का प्रयोग अथवा मूषा का पूर्ण अभाव वर्जित है—"एकमूपमूपं वा द्विशालेषु न…"

त्रिशाल-भेद

त्रिशाल-भवनों के मुख्य चार प्रकार ही हैं—

हिरण्यनाभ	चुल्ली
सुक्षेत्र	पक्षघ्न

इनमें से प्रत्यंक के १८ उपभेद हैं। इस प्रकार उनका पूर्ण योग ७२ है। इनमें से प्रथम दो शुभ एवं शेप दो अशुभ हैं। यतः यह त्रिशाल-भवन है अर्थात् आंगन के केवल तीन ओर ही शालाएँ निर्मित होती हैं; अतः एक ओर शाला का अभाव अर्थात् पूर्व, पश्चिम, उत्तर या दक्षिण की ओर शाला का न होना ही इनका विशेप लक्षण है।

१. हिरण्यनाभ-प्रभेद

जाम्बूनद	स्वर्ण	तापनीय
हिरण्य	सुवर्ण	शातकुम्भ
रुक्म	सन्ताप	हिरण्यनाभ

हेम	सार	कल्याण
कनक	चामीकर	भूषण
काञ्चन	तपन	भूतिभूषण

२—सुक्षेत्र-प्रभेद

नाग	हरि	धारासार
सूर्यप्रभ	हंस	महोदर
मत्तवारणक	सारस	कर्दम
केसरी	कुञ्जर	सुक्षेत्र
वासव	तोयद	प्रकर
चन्द्र (इन्द्र)	मेघमाल	धान्यपूरक

३—चुल्ली-प्रभेद

भुजङ्गम	सर्प	करुणानन
निर्जीव	कोप	वारण
विहङ्ग	भगन्दर	दारण
नकुल	उद्वेजन	चुल्ली
पन्नग	सन्यास	ककुद
शतच्छिद्र	निष्तोप	कन्दर

४—पक्षघ्न-प्रभेद

राक्षस	शार्दूल	विघ्न
ध्वान्तसंहार	शोषण	निर्घृण
देवारि	विशोषण	रिपुसंहृद
सुरदारुण	मत्तद	पक्षघ्न
घोषण	निरानन्द	सुतघ्न
व्याघ्र	शाकुन	वारिपूरण

टि०—यहां पर भी भद्राओं अथवा मूषाओं के विभिन्न संस्थानों के प्रयोग से विभिन्न प्रकार हो जाते हैं।

तुश्शाल के प्रभेद

नोट—चतुश्शाल से दशशाल तक में फलीभूत प्रकार, भद्राओं के विभिन्न विन्यासों से, उत्पन्न होते हैं। चतुश्शाल में भद्र का विधान एक से आठ तक होता है। इसी प्रकार पञ्चशाल में यह विधान १ से १० तक होता है। पद्-

शाल में यह विधान १ से १२ तक होता है। इसी प्रकार दशशाल तक होता है अर्थात् १ से २० तक भद्र होते हैं। इस प्रकार इन प्रभेदों का योग अत्यन्त विपुल है जो कि निश्चय ही अन्त में प्रस्तुत किया जायगा। उसी के साथ उसकी समालोचनात्मक समीक्षा भी प्रस्तुत की जायगी। यह भी इङ्गित किया जा सकता है कि इन प्रत्येक शाल-भवनों का एक उपभेद विभद्र या भद्ररहित भी होता है। अस्तु चतुश्शाल-प्रभेदों की संख्या २५६ होती हैं, जो निम्न तालिका से सुस्पष्ट है —

१. विभद्र एक—१

२. एकभद्र के प्रकार—८

प्रागायत	संयमनप्रिय	सुभद्र
प्राग्विलग्न	प्रतीच्य	कलहोत्तर
जय	प्रासविन्यास	

३. द्विभद्र के प्रकार—२८

ईर	वृपभ	श्रीवह
सुनीथ–सुनीत	त्रिन	श्लिष्ट
आग्नेय	काव्य	गण
द्वीप	विपास	भोम
आप्य	आनीर	अयोग
सुमंयम	कान्त	वर्त
अर्धर्च	सौभ	चल
ऐभ	विपश्चिम	शठ
व्याकोश	गवय	क्रान्त
नैर्ऋत		

४—त्रिभद्र के प्रकार—५६

ऐन्द्र	क्षेम (क्षम)	आप्य
विलोम	विघात	सुनाभ
आयाम	आयत	नागेन्द्र
वध	कान्त	ईरित
एकाक्ष	चित्र	शोभन
अन्तिक	द्विमन्दिर	घन
प्रकाश	सुदक्षिण	शस्तोत्तर

पंत्र	भय	कफ
आयस्त	श्लिष्ट	कर्ण
भद्र	प्रमोद	क्लुष्ट
प्रान्त	व्यायत	क्रान्त
प्रसाधक	वियत	क्रमागत
द्विशस्त	सुगार	क्षोभ
द्विभय	आगार	कृत्रिम
चक्र	वीर	क्षोभन
मलय	व्यायाम	चारुरुचि
आयत	आयुत	ध्रुव
वन	व्याहृत	कथ
भार	दुर्गम	

५ — चतुर्भद्र के प्रकार—७०

कृत	साधारण	पर्क
अर्चायन	नत	विलोम
पौष्ण	व्यंश	उद्दण्ड
उद्गत	ऋष	मुण्ड
मिश्र	रोग	मातङ्ग
उत्सुक	विशेषण (विशोषण)	अखिल
विघ्न	प्रतीच्य	खर्व
बिपक्ष	त्रिसम	पिनाक
आहूत	स्वैर	उद्यन्त
रुचक	सुप्रतीक	विशिख
वर्धन	नल	प्रसभ
पृथु	क्षप	रज
कलह (कलभ)	व्याप्त	रुचक
छल	आक्रीडन	संफल
आयास्य	व्यर्थ	वाम
त्रिनाभ	ईशान	वर्धन
स्वस्तिक	मुख	धावन
स्थिर	अव्यय	सह
शग्ल	मगध	चय

द्विगुण	छिप्र	सेव्य
नाद्य	आगस्त्य	कल
चित्र	एकोज	तीर्ण
भ्रान्त	द्विगंत	
विधारण	लिह	

६—पञ्चभद्र के प्रकार—५६

कानल	प्रभ	शेखर
लोलुप	प्रतीक्ष	विबुध
जिह्म	क्षमिण	चैत्र
प्रगाल	युक्त	व्यासक्त
सालिन	शान्त	सम्पद
जिन	त्रैत	पद्द
सुजय	विनोदन	त्रिशिख
विजय	सन्दोह	चतुर
याम	विप्रदोह	प्रात
जय	विद्रुत	सुस्थित
ज्ञात	सतत	दुःस्थित
जप	तत	स्थित
तप	व्याकुल	चक्र
जम	लीन	वक्र (नक्र)
वर	आलीन	लक्ष
चर	विचित्र	लाभ
वैर	लम्बन	सम्पर्क
विशिष (विशेष)	खर	मूल
सुप्रभ		अव्यय

७—षट्भद्र के प्रकार—२८

किन्नर	क्रमिण	भास्कर
कौस्तुभ	खल (खर)	चौष्य
हर्म्य	विवर	ज्ञातव्य
धामिक	वालिश	सुस्वन
निषध	धौम	मञ्ज

वसु	त्रिपुष्ट	वाजि
साटीक	मन्दिर	नेत्र
वामन	भव	भ्रम
गौर	अशोक	घोप
अस्थिर		

८—सप्तभद्र के प्रकार—८

भाण्डीर	वासुल
वैसह (वंसन)	कट
प्रस्थ	लक्ष्मीवास
प्रतान	सुगन्धान्त

९—अष्टमद्र के प्रकार—१

सर्वतोभद्र (इसका प्रतियोगी विभद्र है)

इन सब का यो ' एक दृष्टि में—

विभद्र— १	चतुर्भद्र—७०	अष्टभद्र—१
एकभद्र— ८	पञ्चभद्र—५६	—
द्विभद्र— २८	षट्भद्र—२८	योग—२५६
त्रिभद्र—५६	सप्तभद्र—८	

पञ्चशाल के प्रभेद—

पञ्चशाल संयोजन-प्रभेद—

१—त्रि+द्वि संयोजन के प्रकार—८

हेमकूट	हि+मि	सदादीप्त	चु+य
स्वर्णशेखर	हि+वा	चित्रभानु	य+द
श्रियावह	सु+सि	सदादोप	प+द
महानिधि	सु+य	निर्विघ्न	प+वा

२—च+ए—संयोजन के प्रकार—२०

नो०—यहाँ एकशालाओं को हस्तिनी, महिषी, गावी और अजा इन चार प्रकार की शालाओं में से प्रत्येक को ह, म, गा, अ से अङ्कित किया गया है।

	च० +	ए०	च० +	ए०
सुदर्शन	सर्वतोभद्र	अजा	नन्द	नन्द्यावर्त म०
सुरूप	,,	हस्तिनी	पुण्डरीक	,, गा०

सुन्दर	,,	महिषी	भद्र	रुचक	अ०
शोभन	,,	गावी	रुचिर	,,	ह०
सुनाभ	वर्धमान	अ०	रोचिष्णु	,,	म०
सुप्रभ	,,	ह०	प्रहषर्ण	,,	गा०
योग्य	,,	म०	घोष	स्वस्तिक	अ०
विनोद	,,	गा०	सुघोषण	,,	ह०
सुखद	नन्द्यावर्त	अ०	निन्दिघोष	,,	म०
नन्दन	,,	ह०	श्रीपद्म	,,	गा०

ये २० और ८=२८ प्रमुख भेद है। भद्र (अथवा मूषा) के विभिन्न-संस्थानों के विन्यास के कारण निष्पन्न योग ग्रन्थ-कलेवर पृ० १५१ पर देखें।

षट्शाल-प्रभेद

१—द्वि+ए+त्रि—संयोजन के अनुसार—

	त्रि०+द्वि०+ ए
पंकजांकुर	प०+वा०+ ,,
श्रीगृह	हि०+सि०+ ,,
धनेश्वर	सु०+य० + ,,
काञ्चनप्रभ	चु०+द० + ,,

टि०—इसी प्रकार के संयोजन से अन्य १२ प्रकार निर्दिष्ट किये गये हैं।

२—त्रि+त्रि—संयोजन के अनुसार भी प्रभेद निर्दिष्ट हैं परन्तु उदाहृत नहीं।

३ (अ) द्वि+च—संयोजन के अनुसार प्रभेद हैं—

	द्वि०+ चतु०
त्रैलोक्यनन्दक	सि + ,,
विलासचय	य + ,,
सुखद	द + ,,
श्रीप्रद	वा + ,,

(ब) इसी संयोजन के अनुसार पांच मुख्य चतुश्शाल (सर्वतोभद्रादि) के साथ सिद्धार्थादि द्विशालों के संयोग से निम्न बीस प्रमुख प्रभेद निष्पन्न होते हैं—

	द्वि०	चतु०
श्रीपुर	सि	सर्वतोभद्र

श्रीवास	य	,,
श्रीभूषण	द	,,
श्रीभाजन	वा	,,
भूतिमण्डन	सि	वर्धमान
भूतिभाजन	य	,,
भूतिमान्	द	,,
भूतिभूषण	वा	,,
श्रीमुख	सि	नन्द्यावर्त
श्रीधर	य	,,
श्रीकृत्	द	,,
श्रीकर	वा	,,
श्रियाकर	सि	रुचक
श्रियोवास	य	,,
श्रीयान	द	,,
श्रीमुख	वा	,,
धनपाल	सि	स्वस्तिक
धनानन्त	य	,,
धनप्रद	द	,,
धन	वा	,,

इस प्रकार से सभी प्रमुख प्रकारों की संख्या १६+४+४+२०=४४ हुई।

टि०—अब १ से लेकर १२ भद्रों के प्रयोग से लब्ध-योग ग्रन्थ-कलेवर पृष्ठ १५२ पर देखिये।

सप्तशाल-प्रभेद

१. त्रि+त्रि+ए इसके १२ भेद कहे गये हैं किन्तु नाम नहीं बताये गये हैं।

२. ए+द्वि+च संयोजन से निम्न भेद हैं—

श्रीप्रदायक	ए+य +च
श्रीपद	ए+वा +च
श्रीप्रद	ए+द +च
श्रीमाल	ए+सि +च

३. ५ मुख्य चतुश्शालों के साथ अन्य प्रभेद

	च०	द्वि०+ए०
श्रीपद	सर्वतोभद्र	सि + ,,
श्रीफल	,,	य + ,,
श्रीस्थल	,,	द + ,,
श्रीतनु	,,	वा + ,,
श्रीपर्वत	वर्धमात्र	सि + ,,
श्रीवर्धन	,,	य + ,,
श्रीसङ्गम	,,	द + ,,
श्रीप्रसङ्ग	,,	वा + ,,
श्रीभार	नन्द्यावर्त	सि + ,,
श्रीभार	,,	य + ,,
श्रीशैल	,,	द + ,,
श्रीखण्ड	,,	वा + ,,
श्रीषण्ड	रुचक	सि + ,,
श्रीनिधान	,,	य + ,,
श्रीकुण्ड	,,	द + ,,
श्रीनाम	,,	वा + ,,
श्रीप्रिय	स्वस्तिक	सि + ,,
श्रीकान्त	,,	य + ,,
श्रीमत्	,,	द + ,,
श्रीप्रदत्त	,,	वा + ,,

टि०—ग्रन्थ (अध्याय २५ श्लोक ७५ में) लेखक कहता है कि इन सभी प्रभेदों को दुगुना कर देने से संख्या ४० हो जाती है।

४—तृतीय संयोजन (च+त्रि) के अनुसार प्रभेद

(क) शुद्ध संयोजन—४

(ख) मिश्र संयोजन—

	त्रि०	च०
श्रीवत्स	हि	सर्वतोभद्र
श्रीवृक्ष	सु	,,
श्रीपाल	चु	,,
श्रीकण्ठ	प	,,

श्रीवास	हि	वर्धमान
श्रीनिवास	सु	,,
श्रीभूषण	चु	,,
श्रीमण्डन	प	,,
श्रीकुल	हि	नन्द्यावर्त
श्रीगोकुल	सु	,,
श्रीस्थावर	चु	,,
श्रीकुम्भ	प	,,
श्रीसमुद्गक	हि	रुचक
श्रीनन्द	सु	,,
श्रीहृद	चु	,,
श्रीधर	प	,,
श्रीकरण्डक	हि	स्वस्तिक
श्रीभाण्डागार	सु	,,
श्रीनिलय	चु	,,
श्रीनिकेतन	प	,,

सप्त-शालाओं के भद्र-प्रकार ग्रन्थ कलेवर पृ० १५५ पर द्रष्टव्य हैं।

टि०—अब इनके आगे अष्टशाल, नवशाल और दशशाल के लिये कोई विशेष नाम नहीं कहे गये हैं। केवल भद्रसंयोजन के संकेत हैं। अतः भद्र-भेदों का सिंहावलोकन ग्रन्थ कलेवर पृ० ५६-५७ पर करें।

भवन-द्रव्य

(दारु-आहरण—वन-प्रवेश दे० अ० ३१)

दारु-आहरण-मुहूर्त—दे० अनुवाद

वृक्षच्छेदन-भेदन, वन-प्रवेशादि कार्यारम्भ मुहूर्त दे० अनुवाद।

वृक्ष-परीक्षा

वर्ज्य-वृक्ष—

पुरोद्भव	अवप्लुष्ट	अकाल-पुष्पी
श्मशानोद्भव	ऊर्ध्वशोषी	अकाल-फली
ग्रामोद्भव	दुःस्थित	रोग-पीड़ित
अध्वस्थित	भग्नशाख	उलूकावास
ह्रदादिजलाशयोत्थ	द्वेकशाख	कर्णिकार

चैत्योद्भव	अन्याधिष्ठित	धव
आश्रमोद्भव	विद्युत्क्षत	प्लक्ष
क्षेत्रमध्य	पातक्षत	कपित्थ
उपवन-मध्य	सरित्क्षत	विपमच्छद
सीमान्तस्थित	भ्रमराश्रित	शिरीप
विपमोद्भव	ग्रन्थिनिर्युक्त	उदुम्बर
निम्नज	सर्पाश्रित	अश्वत्थ
कटु-अवनी-भव	संसृष्ट	शेलु
तिक्त-अवनी-भव	एकभ्रष्ट	न्यग्रोध
लवण-अवनी-भव	मधुवृत	चम्पक
श्वभ्रावृत	बलिवृत	निम्ब
स्थिर-भूमि-भव	पक्षिदूषित	आम्र
भङ्गुर	लूतातन्त्वावृत	कोविदार
सुपिर	वन्यसत्वोद्घृष्ट	व्याधिघात
सकोलाक्ष	गजक्षत	कण्टकी
खरत्वच	बुध	स्वादु-फल
वक्र	अतिबृहत्स्कन्ध	क्षीर-द्रुम
रुक्ष	मार्ग-चिह्न-भूत	सुगन्धि-तरु

वृक्षच्छेदन-विधि—दे० अनु०

वृक्षमण्डल—

मञ्जिष्ठाभ	अरुणाभ	शस्त्राभ
कपिलाभ	कपोताभ	कमलोत्पलभास
पीताभ	घृतमण्डाभ	धौतवर्ण
दीर्घसितायत	रसाञ्जनाभ	यष्टिवर्ण
	गुडच्छाय	

भवनाङ्ग

दे० गृहद्रव्य-प्रमाण अ० ३२ प्रमाण आदि दे० अनु०

द्वार	द्वारशाखा	बाह्यमण्डल
पेद्यापिण्ड	रूपशाखा	भारशाखा
उदुम्बर	खल्वशाखा	द्वार-शाखा-संज्ञा
तल	ऊँचाई आदि के प्रमाण दे० अनुवाद	

शाखा	,,	,,
तलन्यास	विधि आदि	,,

प्रमुख-स्तम्भ-भेद

पद्मक	चतुरश्र
घटपल्लवक	अष्टाश्र
कुबेर	षोडशाश्र
श्रीधर	वृत्त

टि०—ये ही गुप्तकालीन स्मारक-निबन्धनीय स्तम्भों की पारिभाषिक व्याख्या करते हैं।

पद्मकस्तम्भ-निवेश

अलिन्द-परिग्रह	स्थल-निर्गम
स्तम्भ-पिण्ड	मसूरक-विनिर्गम
स्तम्भ-कोटि	उत्कालक-समुच्छ्रय
प्रणालिनी	कुम्भिका
स्तम्भ-प्रतिपालना	आद्यपत्र
	रसना

अन्य भवनाङ्ग—भवन-द्रव्य-प्रमाणादि के लिए दे० अनु०

तलपट्ट	तुला	प्रतिमोक
हीरग्रहण	जयन्ती	कण्ठ
अर्धचन्द्र	सन्धिपाल	वेदिका
त्रिकण्टक	निर्यूह	जालक-क्रिया
तुम्बिका	तुलापट्ट	संग्रह
पत्रजाति	जयन्तिका	प्रणाली आदि आदि
पेद्र		

भवन-छाद्य

दण्डच्छाद्य	चतुर्विध
भूत	दे० अनु०
तिलक	,,
मण्डल	,,
कुमुद	,,
छाद्योच्छ्राय	चतुर्विध दे० अनु०
छाद्य-विदोप	अवधरणं नाम

भवन-वर्ज्य द्रव्य

सिंहकर्ण	कर्णार्धपक्ष	कुमार
कपोताली	ध्वज	पक्षिराज
घण्टा	छत्र	पत्र

भवन-रचना

चय-विधि

चय-गुण दे० अ० ३३

सुविभक्त	अन्यवहित	अन्तरङ्ग
सम	अनुत्तम	सुपार्श्व
चारु	अनुद्वृत्त	सन्धि सुश्लिष्ट
चतुरश्र	अकुब्ज	सुप्रतिष्ठ
असंभ्रान्त	अपीडित	सुगन्धि
असन्दिग्ध	समानखण्ड	अजिह्म
अविनाशि	ऋज्वन्त	

टि०—"एतेषां वैपरीत्येन दोषाणामपि विंशतिः"

चय-दोष-फल—दे० अनु०

चय-पारिभाषिक-पद

मल्लिकाकृति (कर्णिका-सम-संस्थान)

ब्रह्मसंज्ञ — निर्णत — } दे० अनु०
तनुमध्य — कूर्मोन्नत — }

चय-प्रयोग-विनियोग—दे० अनु०

भवन-भूषा

दे० अप्रयोज्य-प्रयोज्य

भूष्य—	राजवेश्म	देवकुल	आभरण
	ब्राह्मणादि-वर्णि-वेश्म	शयन	छत्र
	वास्तु-कक्षा	आसन	ध्वज
	सभा	भाजन	पताका
			अन्योपकरण

भूषा—अप्रयोज्य—

समस्त-देवता	कदम्ब वृक्ष	देवासुरादि-संग्राम
दैत्य	शाल्मली ,,	नृप-विग्रह
ग्रह	शेलु ,,	प्राणि-युद्ध
तारा	तार ,,	प्राणि-विमर्द
यक्ष	क्षार ,,	मृगया
गन्धर्व	लुक ,,	रौद्र-रस
राक्षस	कटु ,,	अद्भुत-रस
पिशाच	कण्टकी ,,	करुण-रस
पितर	दीक्षित	भयानक-रस
सिद्ध	व्रती	वीभत्स-रस
विद्याधर	पाषण्डी	गृध्र पक्षी
उरग (नाग)	नास्तिक	उलूक ,,
चारण	रुप्रपीडित	कपोत ,,
भूतसङ्घ	व्याधि-प्रपीडित	वायस ,,
प्रतीहार	बन्धन-पीडित	कङ्क ,,
प्रतीहारी	शस्त्र-पीडित	रात्रिचर ,,
अप्सराएँ	अग्नि-पीडित	गज पशु
रथ-यान	तैल-पीडित	अश्व ,,
अश्व-यान	स्रक्-पीडित	महिष ,,
हस्ति-यान	पांसु-पीडित	उष्ट्र ,,
विमान	शूल-पीडित	मार्जार ,,
आयतन	ज्वर-पीडित	वानर ,,
चण्डानल-प्रदीप्त-भवन	मत्त	सिंह ,,
चण्डानल-प्रदीप्त-वन	उन्मत्त	तरक्षु ,,
पुष्प-फल-हीन-वृक्ष	जड	वराह ,,
विहङ्गावास-दूषित ,,	क्लीब	मृग ,,
एक-द्विशाख ,,	नग्न	जम्बुक ,,
रूक्ष वृक्ष	अन्ध	क्रव्याद ,,
भग्न ,,	बधिर	शैलाश्रित ,,
शुष्क ,,	दोला-क्रीडा	अटव्याश्रित ,,
सकोटर ,,	गज-ग्रह	

भूषा-प्रयोज्या

कुल-देवता—दे० विवरण अ० ३४

द्वार-पार्श्व प्रतिहारी	,,	,,	सवत्सा धेनु	,,	,,
धात्री	,,	,,	पत्र-लता	,,	,,
प्रतीहारियाँ	,,	,,	उद्यान-भूमियाँ	,,	,,
निधियाँ	,,	,,	दीर्घिकायें	,,	,,
अष्टमङ्गला	,,	,,	पान-भूमियाँ	,,	,,
गजलक्ष्मी	,,	,,	प्रेक्षा-सङ्गीत-भूमियाँ	,,	,,
लक्ष्मी	,,	,,	परपुष्ट-मयूर-कुक्कुट-चकोर-शुक-		
वृप	,,	,,	सारिकादि-पक्षिगण		

भवन, भवनाङ्ग—गुण-दोष

द्वार-गुण-दोष (दे० अ० ३५)

द्वार-भेद—वर्णानुरूप

माहेन्द्र-द्वार	(दे० अनु०)	
गृहक्षत-द्वार	,,	,,
पुष्पाह्वय-द्वार	,,	,,
भल्लाट-द्वार	,,	,,

निवेश्य-द्वारभाग—वास्तु-द्वार-निवेश

उत्सङ्ग	,,
हीनबाहु	,,
पूर्णबाहु	,,
प्रत्यक्षाय	,,

गृह-द्वार—(दे० अनु०)

भवन-भूमिका-संख्या—वर्णानुरूप

सार्ध-त्रि-भूमि-भवन			शूद्र
अर्ध-पञ्चम-भूमिक-भवन			वैश्य
अर्ध-षष्ठ	,,	,,	क्षत्रिय
अर्ध-सप्तम	,,	,,	ब्राह्मण
अर्ध-अष्टम	,,	,,	राजसूयादि

अनेक यज्ञों के यज्वा राजा तथा राजाधिप तथा वाजपेयी ब्राह्मण, गो-

कोटि-प्रद-विप्र ।

भवन-ऊर्ध्व-प्रमाण—सपीठ-तल-वेश्म

२०	हस्त	शूद्र
४०	,,	वैश्य
६०	,,	क्षत्रिय
८०	,,	ब्राह्मण
१००	,,	राजा

टि०—"नातः परं नृणामूर्ध्वं प्रमाणं शस्तमुच्यते ।
देवदानवदैत्यानां पिशाचोरगरक्षसाम् ।
सिद्धगन्धर्वयक्षाणां विधातव्यमतोधिकम् ।।"

द्वार-गुण—

सुस्थित	नह्रस्व	अपिण्डित
चतुरश्र	नोच्च	नवहिर्गत
कान्त	नाल्प	नाध्मात
स्वद्रव्य-योजित	नकुब्ज	नकूर
ऋजु	नसंक्षिप्त	नकुक्षिगत

द्वार-निवेश-नियम—द्वार-वेध-परिहार—निम्न द्रव्यों से—

रथ्या	कोण
चत्वर	वृक्ष
शृङ्गाटक	स्तम्भ
वापी	भ्रम-प्रणाल

द्वार-भित्ति-भेद—भिन्न-देह-वास्तु

नव-कर्म-लक्षण—(दे० अनु०)

द्वार-भङ्ग-फल—

भङ्गफल—यदि निम्न द्रव्यों से ।

ऊर्ध्ववंश	इन्द्रकील	तुला
अर्गला	तोरण	शाला-स्तम्भ
पीलिका	वास्तुमध्य	स्तम्भ-शीर्ष
कुञ्ची	सोपान	प्रतिमोक
तुम्बिका	वेदिका	भङ्गवाहिनी
पृष्ठवंश	गवाक्ष	आकाशतलक

लुमा
गजशुण्डा
कपाट
मुण्डक
अश्व
प्रासाद-मण्डल
अनुपूर्व
कपोताली
वलभी
मुण्डगोधा
स्थपनी-पट्टिका
कर्णिकाभ्यन्तरी स्थूणा
नागपाशक
विटङ्क
शाला-पाद
शाला-स्तम्भ

तोरण-भंग

तोरण-निपतन
,, भङ्ग
,, दहन
,, नमन
,, सज्जन
,, हनन
} दे० अनु०

तोरण-भंग-शान्ति-बलिहोम (दे० अनु०)
कपोत-प्रवेश—अनिष्ट है
कपोत-भेद—चतुर्विध

श्वेत
विचित्र
धिचित्रकण्ठ
कृष्णक

कपोत-प्रवेश-शान्तिक—दे० अनु०

भवन-दोष

प्लव-दोष—

दिक्प्लवा
मध्यप्लवा
वह्निप्लवा
दक्षिणप्लया
रक्षःप्लवा
प्रत्यक्प्लवा
मरुत्प्लवा

भू-प्लव-दोष

नागपृष्ठ
दैत्यपृष्ठ
हस्तिपृष्ठ
गोवीथी
जलवीथी
यमवीथी
गजवीथी
भूतवीथी
नागवीथी
वैश्वानरवीथी
घनवीथी
पैतामह
सुपथ
श्मशान
स्थण्डिल

दीर्घायु	शैन्यक	शाण्डूल
पुण्यक	श्वमुख	सुस्थान
अपथ	ब्रह्मघ्न	सुलभ
रोगकृत्	वातनिघ्न	वास्तुचर
अर्गला	स्थावर	पट्पथ

वर्ज्य भूमि —

तुप-अस्थि-केश-	मूपकोत्करा	छिन्ना
कीट-त्वक्-शङ्ख-	वल्मीकिनी	भिन्ना
भस्म-ऊपर-अन्विता	वक्रा	विकर्णा

वर्ज्य मास—दे० अनु०

भवन-दिङ्मूढ़ता—

पूर्वपश्चिम-दिङ्मूढ

उदङ्-मूढ

दक्षिण-दिङ्मूढ

दुष्ट गृह—चतुर्विध—

वलित	स्थापित-द्वार-संरोध
चलित	चयन-दोप
भ्रान्त	मध्य-द्वार-वेध
विसूत्र	नव-पुराण-द्रव्य-संयोग
मूपारहित वेश्म	मुख-विनिष्क्रान्त
अलिन्दवर्जिद वेश्म	पृष्ठनिष्क्रान्त
खादक वेश्म	दिङ्मूढ
वेश्म-मर्म-चतुष्टय	कर्णहीन
सशल्य	मार्गवेध
पादहीन	विकोकिल गृह
समसन्धि	गर्भचन्द्रावलोकिता
शिरोगुरु	अन्य-वास्तु-च्युत-द्रव्य
छिन्नबाहु	गृह-श्रोत्र-रोध
शालाभेद	विशिष्ट-चयन-दोष
सीमा-शाला-प्रभिन्न भवन	अनिष्टद्रव्य-संयोग-दोप
अन्य भवनाङ्ग-दोष	द्रव्य-चलन-दोष
गवाक्षक-मूषानिवेशन	अन्य-वास्तु-द्रव्य संयोग

दैव-दग्ध-द्रव्य	प्रयोग-निषेध
द्रुम-छाया—	ध्वज-छाया
सूर्योद्भवा	प्रासाद-शिखिर-च्छाया

निषिद्ध-तारा—

द्वार-मध्य-निवेशन-वर्ज्यं

नागदन्त	भित्ति
तुला	मूषा
स्तम्भ	गवाक्षक

भवन-भूषा-निषेध

इतिहासपुराणोक्त-वृत्तान्त-प्रतिरूपक, इन्द्रजाल-तुल्य-प्रतिरूपक, मिथ्याकृत-प्रतिरूपक, भीषण-प्रतिरूपक।

द्वार-दोष

स्वयमुद्घाटित
स्वयंपिहित
सशब्द
पादशीतल
} दे० अनु०

स्तम्भ-द्वार-भित्ति-वैपरीत्य-निवेशन-निषेध
उपर्युपरि-भूमिका-कल्पन-नियम
शाला-निम्नत्व-अलिन्दधिक्य-फल
उपर्युपरि-द्वार-नियम
द्वार-वेध-दोष
द्वार-दोष-सामान्य
गृहनमन पञ्चधा—

अतिक्षिप्त	कृशद्रव्य	अप्रतिष्ठितसंस्थान
चिरोत्पन्न	अपाहित	

दुष्ट-दारु

जीर्ण	विधिच्युत	सन्धिविद्ध	कुक्षि-भिन्न
घुणक्षत	चण्ड	अल्पमूलक	भिन्न-मूल
भिन्न	तुण्ड	वज्रमध्य	कूर्म-पृष्ठ
हीन	वक्रकोण	स्थूलमुण्ड	पक्ष-हीन
वक्र			

गृहकर्म-वर्जनीय वृक्ष— (दे० अनु०)

मर्म-वेध मर्म-पीडा

भवन-सामान्य-दोष—

उच्चछाद्य	अष्टालिन्दकशोभ	विनष्ट
छिद्रगर्भ	विषमस्थ	स्तम्भभित्तिक
भ्रमित	तुलातल	भिन्नशाल
वमितमुख	द्रव्य	त्यक्तकण्ठ
हीन-मध्य	अन्योन्यद्रव्यविद्ध	निष्कन्द
नष्ट-मूत्र	कुपदप्रविभाजित	मानवर्जित
शल्य-विद्ध	हीनभित्युत्तमाङ्ग	विकृत
शिरोगुरु		

भवन-शान्ति

दिक्पाल-पूजा
कर्णिका-स्थापन
कर्णिका-वायसादिरोहण-दोष

भवन-दारु-भंगफल—तत्र शान्ति-विधान—

इन्द्रकील	नेत्र	द्वारपक्ष
महाकूट	कपोतालि	संग्रह
पृष्ठवंशोत्तरधर (?)	अन्वग्र	स्थौण्य
प्रग्रह (?)	पक्षवंश	प्रतिमोक
अलिन्दपाद (?)	मल्लक	उपधी
तुलास्थपत्य	कुमारक	भूलिका
कूट	गोपानसी	कील
वेदिका	मृगाली	सन्धिपाल
कर्णपालिका	परिघ	

नवदारु-भंगादि-प्रतिविधान

स्थूणिका-भङ्ग-शान्तिक	संग्रह-भङ्ग-शान्ति
भल्लक- ,, ,,	स्थूण्य- ,, ,,
पृष्ठवंश- ,, ,,	उपधि- ,, ,,
वारण- ,, ,,	काग्र- ,, ,,
	तुला- ,, ,,

रेखा-चित्र

पुर अथवा ग्राम-नगर के रेखा-चित्र

नन्द्यावर्त (चतुरश्र)

नन्द्यावर्त (वर्तुल)

स्वस्तिक

पद्मक

प्रस्तर